अहिंसा

की

सूक्ष्म व्याख्या : क्रिया के संदर्भ में

साध्वी गवेषणाश्री

प्रस्तुत ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें जैन दर्शन के एक मुख्य विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया जो भारतीय दर्शन के सामान्य अध्येताओं के लिये तो नितान्त नवीन है ही जैन दर्शन के अध्येता भी इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ नया अवश्य पायेंगे। बहुत से शोध ग्रन्थों में जो आजकल प्रचारात्मक प्रवृत्ति दिखायी देती है, उसका इस ग्रन्थ में अभाव है।

शोधार्थियों के लिये यह बात अनुकरणीय है। शोधार्थी का कार्य तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में युक्ति संगत ढ़ंग से प्रस्तुत कर देना है, प्रशस्तिपरक गुणगान करना उसका कार्य नहीं है। उसे किसी सिद्धान्त की गुणवत्ता का मूल्यांकन पाठक पर छोड़ देना चाहिये न कि अपनी मान्यता पाठक पर थोपनी चाहिये। डॉ. साध्वी गवेषणाश्रीजी इस नियम का पालन किया है। इसके लिये वे साधुवाद की पात्र हैं।

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष, जैन विद्या एवं
तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूँ (राजस्थान)

अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्याः क्रिया

लेखिका
साध्वी गवेषणाश्री

सम्पादिका
डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सहायक प्रोफेसर, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

प्रकाशक
जैन विश्व भारती
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान) भारत

प्रकाशक : जैन विश्व भारती,
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : जनवरी, 2009

मूल्य : 300/- रुपये

आर्थिक सौजन्य : समदड़ी निवासी कोप्पल प्रवासी स्वर्गीय पिताश्री सुखराजजी जीरावला की पुण्य स्मृति में **मातुश्री सुन्दर देवी जीरावला की प्रेरणा से** सुपुत्र राणमल, भंवरलाल, मोहनलाल, सोहनलाल, पारसमल, कांतिलाल समस्त जीरावला परिवार **सोहनलाल ललितकुमार जीरावला, कोपल्ल (कर्नाटक)**

मुद्रक : कला भारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आशीर्वचन

जैन दर्शन में क्रिया पर सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। उसका संबंध जन्मों की शृंखला, आत्मिक उन्नति और अवनति, बंध और मुक्ति आदि अनेक विषयों से है।

साध्वी गवेषणाश्री ने 'अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्याः क्रिया', आत्मा की आंतरिक चेतना में रहे हुए परिस्पंद के सिद्धान्त पर अध्ययन किया है। उसमें अध्ययन की गंभीरता झलक रही है। यह अध्ययन केवल जैन दर्शन और साहित्य तक सीमित नहीं है। शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान आदि आधुनिक चिन्तन धाराओं के संदर्भ में भी क्रिया को यहां देखने का प्रयास किया है।

साध्वी गवेषणाश्री ने इस कार्य में तटस्थता पूर्वक श्रम और शक्ति का नियोजन किया है। सुधी पाठक को इससे क्रिया, कर्म, बंध और मुक्ति आदि को जानने का अवसर मिलेगा।

8 जनवरी, 2008 आचार्य महाप्रज्ञ

रायपुर (राजस्थान)

दो शब्द

विश्व वाङ्मय की अनमोल धरोहर है– आगम। जैन दर्शन के आधारभूत मौलिक ग्रंथ। ज्ञान-विज्ञान के अक्षयकोष, सभ्यता-संस्कृति के जीवंत दस्तावेज हैं। तत्त्वज्ञान का महासागर। ज्ञान अनंत है, शब्दों की अपनी सीमा है।

अनन्त सत्य को अनुभूतियों के आईने एवं अनुभूतियों को शब्दों के आईने पर उतारा नहीं जा सकता। जो कुछ भी पढ़ा लिखा जा सकता है सागर की एक बूंद है।

भारत भूमि दर्शनों की जन्मदात्री है। दार्शनिक चिन्तन ही भारतीय संस्कृति की प्राण प्रतिष्ठा है। गौरव है। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, बंध, मोक्ष भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन बिन्दु रहे हैं।

आत्मा का क्या है? दृश्य जगत् क्या है। वैचित्र्य का आधार क्या है? आदि प्रश्न जीवन के उषा-काल के मानव-मस्तिष्क को झकझोरते रहे हैं।

जगत् रूप कार्य प्रत्यक्ष है, किन्तु आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। कारण की मीमांसा के संदर्भ में लोक, आत्मा, क्रिया और कर्म को मुख्यता दी गई।

आत्मा का अस्तित्व त्रैकालिक है। यह तथ्य लोकायत के अतिरिक्त सर्व मान्य है। कर्म का सामान्य अर्थक्रिया है। मन, वचन और शरीर के द्वारा की जाने वाली संपूर्ण क्रिया को कर्म संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है क्रिया कर्म की जननी है।

आत्मवाद, कर्मवाद और लोकवाद (सृष्टि) पर भरपूर साहित्य उपलब्ध

है। मनीषियों की लेखनियों ने सरस्वती के भण्डार की अभिवृद्धि में पूरा योगदान दिया है किन्तु क्रियावाद अनछुआ रह गया।

साध्वी गवेषणा ने इस अपनी शोध का विषय चुनकर ज्ञान का नया द्वार खोला है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में "आगम-साहित्य" में प्रतिपादित क्रियाओं का समीचीन विश्लेषण अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या के सन्दर्भ में किया है। इस गंभीर विषय पर लिखना टेढ़ी खीर थी। पूज्यवरों का आशीर्वाद ही इनकी विषय यात्रा को गति दे सका है तथा लक्ष्य की पूर्णता तक पहुंच सकी है। दार्शनिक चिन्तन, अध्ययन क्षमता एवं प्रतिभा का मूल्यांकन तो विज्ञ लोग करेंगे। इतना अवश्य है कि आगम-अध्ययन करने का रास्ता इनके लिए प्रशस्त हुआ है।

"शोध-प्रबंध" किसी के लिये प्रेरणा-पाथेय बन सका तो लेखिका को आत्म-तोष की अनुभूति होगी। पच्चीस वर्ष से मेरे साथ रहने वाली सहवर्तिनी साध्वी गवेषणा के प्रति हर्षातिरेक के साथ मंगल कामना है कि लेखन कार्य में इनकी गति-प्रगति होती रहे। इनका उत्साह, आत्म-विश्वास और भीतर की जिज्ञासा, सफलता की ऊंचाइयां देता रहे।

इसी शुभाशंसा के साथ ...

पावस प्रवास
जोधपुर
वि.सं. 2064

साध्वी नगीना

भूमिका

डॉ. साध्वी गवेषणाश्री ने जैन परम्परा को केन्द्र में रखकर क्रिया का दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुशीलन किया जिस पर उन्हें जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूँ के जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग के अन्तर्गत पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें जैन दर्शन के एक मुख्य विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया जो भारतीय दर्शन के सामान्य अध्येताओं के लिये तो नितान्त नवीन है ही जैन दर्शन के अध्येता भी इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर कुछ न कुछ नया अवश्य पायेंगे। बहुत से शोध ग्रन्थों में जो आजकल प्रचारात्मक प्रवृत्ति दिखायी देती है, उसका इस ग्रन्थ में अभाव है।

शोधार्थियों के लिये यह बात अनुकरणीय है। शोधार्थी का कार्य तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में युक्ति संगत ढ़ंग से प्रस्तुत कर देना है, प्रशस्तिपरक गुणगान करना उसका कार्य नहीं है। उसे किसी सिद्धान्त की गुणवत्ता का मूल्यांकन पाठक पर छोड़ देना चाहिये न कि अपनी मान्यता पाठक पर थोपनी चाहिये। डॉ. साध्वी गवेषणाश्रीजी इस नियम का पालन किया है। इसके लिये वे साधुवाद की पात्र हैं।

आज विज्ञान पदार्थ की अपेक्षा क्रिया पर अधिक बल दे रहा है। वह कह रहा है कि विश्व में नृत्य तो है किन्तु नर्तक कोई नहीं है। क्रिया-प्रतिक्रिया तो है किन्तु कोई ऐसा ठोस घटक नहीं है जिनसे विश्व बना हो। ऐसा में क्रिया का

महत्त्व बढ़ जाता है। भौतिक विज्ञान क्रिया का अध्ययन करता है किन्तु दर्शन क्रिया का चेतना पर क्या प्रभाव पड़ता है– इस का भी अध्ययन करता है। अब विज्ञान भी चेतना को अपने अध्ययन का विषय बनाने की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसे में प्रस्तुत अध्ययन अपने भविष्य की गम्भीर सम्भावनायें छिपाये है।

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
पूर्व विभागाध्यक्ष, जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

पुरोवाक्

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में (विशेषत: आचारमीमांसा के संदर्भ में) 'क्रिया' एक महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दु रहा है। जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, सभ्यता व संस्कृति के विकास का लक्ष्य हो, 'क्रिया' की महत्ता सदा रही है। भारतवर्ष को 'कर्मभूमि' कहा जाता है क्योंकि यहां की गई 'क्रिया' से हमारे भावी जीवन की दिशा निर्धारित होती है और लोकोत्तर नि:श्रेयस का मार्ग भी प्रशस्त किया जा सकता है।[1] इसीलिए माना जाता है कि स्वर्ग के देवता भी भारतवासी मानव-जाति का गुणगान-कीर्तिगान करते हुए कहते हैं कि ''भारतवासी धन्य हैं, क्योंकि यहां किये गये सदाचार के बल पर 'देव' रूप में जन्म लेकर स्वर्ग-सुख, और कभी-कभी मुक्ति सुख दोनों प्राप्त किये जा सकते हैं। निश्चित ही इन पर परमात्मा विशेष प्रसन्न है, इसलिए इन्हें परमात्म-सेवा का अवसर प्राप्त होता है।[2]

लौकिक जीवन में 'क्रिया'

जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, 'निष्क्रियता' का जीवन आदरणीय नहीं रहा है। वैदिक सूक्तों में प्रार्थना-कामना की गई है कि हम 'क्रिया' करते हुए ही शतायु-पर्यन्त जीवन व्यतीत करें।[3] मीमांसा-दर्शन के अनुसार तो समस्त वैदिक वचन वस्तुत: 'क्रियार्थक' अर्थात् 'कर्म' की प्रेरणा देते हैं।[4] वस्तुत: कोई भी प्राणी पूर्ण निष्क्रिय-निष्कर्म होकर जीवन-यापन कर ही नहीं सकता।[5] किन्तु कर्म-दोषों से बचते हुए शास्त्र-सम्मत सत्कर्म करना श्रेयस्कर होता है। संस्कृत के महान् महाकवि भारवि का नैतिक उपदेशपरक एक प्रसिद्ध श्लोक है 'सहसा विदधीत न क्रियाम्'[6] अर्थात् कोई भी काम सहसा बिना सोचे-समझे, भावोद्रेक में, नहीं करना चाहिए। सोच-समझ कर कार्य करने वाले समझदार व्यक्तियों के लिए दार्शनिक साहित्य में 'प्रेक्षापूर्वकारी' (प्रेक्षा, समझदारी पूर्वक काम करने वाले) शब्द प्रयुक्त होता है। इन्हीं समझदारों में से कुछ लोग एक ही

क्रिया से अनेक कार्यों की सिद्धि कर लेने में कुशल होते हैं। उन्हीं के सन्दर्भ में संस्कृत की एक प्रसिद्ध सूक्ति है एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा, आम्राश्च सिक्ता: पितरश्च तृप्ता:। अर्थात् एक ही क्रिया दो विभिन्न कार्यों/प्रयोजनों की सिद्धि करती है, उदाहरणार्थ पितरों का तर्पण (अर्घदान) भी हो गया और आम के पेड़ को सींच भी दिया। 'एक तीर से दो शिकार' की उक्ति ऐसे लोगों के लिए चरितार्थ होती है। जैसे प्रात:काल टहलते-टहलते किसी मित्र के घर हो आए तो मित्र से मिलना भी हो गया और प्रात:काल शारीरिक व्यायाम भी हो गया। दार्शनिक चिन्तकों के अनुसार भी प्रत्येक पदार्थ विभिन्न 'अर्थक्रिया' कर सकता है, अर्थात् वह अनेक प्रयोजनों का साधक हो सकता है। उदाहरणार्थ एक ही अग्नि दाहक, पाचक व प्रकाशक के रूप में क्रमश: जलाने, खाना पकाने और प्रकाश देने की अर्थक्रिया कर सकता है।[8]

क्रिया के सन्दर्भ में महर्षि-वेदव्यास का सारभूत कथन यहां मननीय है जो भारतीय संस्कृति में 'क्रिया' या कर्म की सामान्य अवधारणा को स्पष्ट करता है

अल्पं हि सारभूयिष्ठं कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेय: न पापीयोऽस्त्यकर्मण:।।[9]

अर्थात् कुछ न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है, क्योंकि निष्कर्मता, निष्क्रियता से बढ़ कर कोई पाप नहीं है। भले ही कोई काम, छोटा दिखाई देता हो, किन्तु यदि उसका सार या परिणाम बहुआयामी हो तो वह कर्म महान् ही है। भागवत पुराण का यह कथन भी सारभूत है कि 'कर्म ही गुरु या ईश्वर है'।[10] वस्तुत: समस्त जगत् की सुखदु:खात्मक विचित्रता के पीछे (सदसत्) 'कर्म' ही प्रमुख कारण होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन साहित्य में 'क्रिया' शब्द सदाचार, प्रशस्त क्रिया के अर्थ में बहुश: प्रयुक्त हुआ है।[11] प्रत्येक दर्शन अपनी आचारमीमांसा के सन्दर्भ में 'क्रिया' या 'कर्म' की ही विस्तृत व्याख्या या विवेचना करता है। इसलिए सदाचरण, श्रेष्ठ-कर्म या धर्माचरण की तरह ही लौकिक जीवन में 'क्रिया' की महत्ता व उपयोगिता को समझा जा सकता है।

भौतिक जगत् की 'क्रिया' : विज्ञान व अध्यात्म के आलोक में

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो भौतिक जगत् का प्रत्येक परमाणु क्रियाशील या सक्रिय है। इसमें 'प्रोटोन' (धनात्मक उद्यत्कण) तथा इलेक्ट्रान (ऋणात्मक विद्युत्कण) सर्वदा, निरन्तर स्पन्दन रूप सूक्ष्म क्रिया करते रहते हैं। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह भी

गतिशील है और वह स्वयं घूमती हुई सूर्य का चक्कर लगाती रहती है। इसी के फलस्वरूप दिन-रात, ऋतु-परिवर्तन आदि घटनाएं अनुभव-प्रत्यक्ष होती हैं। प्रत्येक पदार्थ की अपनी स्वाभाविक 'क्रिया' है, उसकी अपनी एक रचना-प्रक्रिया है, अन्य पदार्थों के सम्पर्क में उसकी विशेष प्रतिक्रिया या उदासीनता होती है। प्रत्येक पदार्थ विशेष परिस्थिति में विशेष विक्रिया (विकार या परिणति) से गुजरता है। इन्हीं पदार्थीय रचना-प्रक्रिया, क्रिया-प्रतिक्रिया-विक्रिया (विकार) आदि के अनुसन्धान व अध्ययन से अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं और होते रहेंगे जो भौतिक सभ्यता व सामान्य जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

भारतीय दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से विचार करें तो इस समस्त संसार की प्रमुख विशेषता ही है इसकी संसरणक्रिया। 'संसार' व 'जगत्' शब्दों की निर्युक्ति भी इसी तथ्य को पुष्ट करती है[1]। निरन्तर जिसमें संसरणशीलता, क्रियाशीलता है, गतिशीलता है, वह 'संसार' है या 'जगत्' है।[12]

संसार के घटक तत्त्व हैं अर्जीव (जड़, भौतिक) और जीव (चेतन) पदार्थ। इन दोनों में भी 'जीव' प्रमुख है, क्योंकि वह भोक्ता है और शेष पदार्थ (जड़) भोग्य। अजीव (जड़) पदार्थों में से ही कुछ से जीव के शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्माण होता है और उसी के सहारे जीव की गतिशीलता सक्रियता नये-नये आयाम लेती है। इसी दृष्टि से जीव को रथी और शरीर को रथ की या जीव को नाविक की और शरीर को नाव की उपमा दी गई है।[13] संसारी जीव अपने सम्पर्क में आए, अजीव पदार्थों के प्रति या अन्य जीवों के प्रति, अपने अच्छे-बुरे भावों से अच्छी या बुरी क्रिया करता है। इस क्रिया के पीछे उसका अज्ञान व मोह प्रमुख कारण होता है।[14]

यद्यपि सांसारिक पदार्थ स्वप्नवत् अनित्य-विनाशी होते हैं, तथापि इन पदार्थों को स्थायी व सुखदायी समझ कर किये गये मानसिक सद्भाव या असद्भाव जीव को क्रियाशील करते हैं और जीव के संसार-भ्रमण के कारण होते हैं।[15]

उस क्रिया की प्रतिक्रियास्वरूप एक सूक्ष्म कर्मचक्र निर्मित होता है और यहीं से शुभाशुभ कर्म-बन्धन की प्रक्रिया चलती चली जाती है।[16] इस शुभाशुभ कर्म चक्र के आधार पर जीव के भावी सुख- दुःखात्मक जीवन की दिशा निर्धारित होती है। फलस्वरूप, उपार्जित कर्मों के अनुरूप, मरण के बाद भी, सद्गति या दुर्गति प्राप्त होती है, अपने क्रियागुणों आदि के अनुरूप जीव स्थूल-सूक्ष्म रूप धारण करने को बाध्य होता है।[17]

जन्मान्तर वाले जीवन में भी पूर्ववत् क्रियाशीलता के कारण शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन भी चलता रहता है, अत: जन्म-जन्मान्तरण, जन्म-मरण-पुनर्जन्म आदि की प्रक्रिया निरन्तर प्रवर्तमान रहती है।

दु:ख व अशांति के जीवन का कारण- 'क्रिया'

निष्कर्ष यह है कि जीव-अजीव की क्रीडास्थली 'संसार' निरन्तर भागदौड, गतिशीलता, सक्रियता के कारण निरन्तर अशान्त दृष्टिगोचर होता है। किसी संसारी जीव को वास्तविक सुख-शांति का अनुभव नहीं हो पाता। संसार के उक्त स्वरूप को महर्षि वेदव्यास ने एक सुन्दर दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है :-

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्तत:।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु।। (भागवत- 6/16/6)

अर्थात् जैसे किसी व्यापारिक मण्डी में जहां सोने-चाँदी से लेकर सामान्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का थोक या खुदरा व्यापार होता हो- बेचे जाने वाली या खरीदे जाने वाली वस्तुएं इधर से उधर लाई-ले जाई जाती रहती हैं, वैसे ही जीव विविध योनियों में, यहां से वहां निरन्तर-भ्रमण कर रहे हैं। या कराये जा रहे हैं बाजार में निरन्तर हलचल, भागदौड़, गमनागमन से एक अशांत-तनावपूर्ण वातावरण रहता है। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में विक्रेता व्यापारी अपनी वस्तु को अधिकाधिक लाभ में बेचना चाहते हैं तो खरीददार अधिकाधिक सस्ते दामों में अच्छी से अच्छी वस्तु, वह भी जांच परख कर खरीदना चाहता है। सर्वत्र तनाव रहता है, भीड़ में सबसे जल्दी अपना काम पूरा करने की भागदौड़ रहती है, असन्तोष, लोभ तथा प्रतिस्पर्धात्मक मानसिक व्यग्रता रहती है। इसी तरह, इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कामभोगों को अधिकाधिक खरीदने-हस्तगत करने की प्रतिस्पर्धा में तनावग्रस्त व अशांत सक्रिय जीवन जी रहा है, विश्रान्ति-शांति कभी नहीं प्राप्त करता है।

जैन परम्परा में भी इस जीव-लोक को व्यापारी दृष्टि से वर्णित करते हुए कहा गया है कि इन जीवों में तीन तरह के व्यापारी हैं। एक तो वे जो किसी तरह मूल पूंजी बचा पाते हैं, और दूसरे वे जो अपनी मूल पूंजी बचाते हुए अधिकाधिक लाभ कमाते हैं, तीसरे वे जो लाभ तो क्या, अपनी मूल पूंजी भी गवां देते हैं। लाभ कमाने वाले जीव वे हैं जो मनुष्य भव प्राप्त कर देवगति का लाभ पाने में सफल होते हैं। जो मनुष्य भव प्राप्त कर मनुष्य योनि में जाने का कर्म-उपार्जित करते हैं, वे मूलधन सुरक्षित रख पाने वाले

व्यापारी जैसे हैं। किन्तु जो मनुष्य भव प्राप्त करके भी, नीच-पापक्रियाओं- कर्मभोगों में लिप्त रह कर नरक-तिर्यंच आदि दुर्गति पाने वाले हैं, वे उन व्यापारियों की तरह परमदु:खी हैं जो व्यापार में अपनी मूलपूंजी भी गंवा बैठते है।[18] ऐसे लोग उन जुआरियों जैसे हैं जो दाव में काकिणी (कौड़ी की वस्तु) के लिए हजार सोने की मुहर हार जाते हैं।[19] कामभोग-सम्बन्धी भागदौड़, पारस्परिक ईर्ष्या उनके विनाश का कारण बनती है। जैसे गीध पक्षियों पर और गरुड़ सर्पों पर टूट पड़ता है और उन्हें मार डालता है, वैसे ही कामभोग-सम्बन्धी मनोभाव जीव को दुर्गतिरूप संसार में ढकेल कर उसकी विनाश-यात्रा का मार्ग प्रशस्त करते हैं।[20] इसी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में इस संसार को दु:खस्थली और 'अनन्त दु:खसागर' की तरह दुस्तरणीय बताया गया है।[21]

संसार-चक्र की दुरन्तता व दुस्तरता को इंगित करने के लिए जैन परम्परा में संसार-परिवर्तन को पांच प्रकारों में वर्गीकृत कर समझाया गया है। ये 5 प्रकार हैं- द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काल-परिवर्तन, भाव-परिवर्तन और भव-परिवर्तन।[22] इन परिवर्तनों के निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि संसार का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जहां प्रत्येक जीव ने जन्म न लिया हो,[23] ऐसा कोई भौतिक कर्म-परमाणु नहीं है जिसे उसने कर्मरूप में परिणत नहीं किया हो। कहने का सार यह है कि हम अनन्त बार जन्मे और मरे हैं। इस निरन्तर संसार-परिभ्रमण का कारण हमारी अपनी 'क्रिया' है, और कोई नहीं।

प्राय: सभी आस्तिक अध्यात्म-दर्शनों का निष्कर्ष यह है कि इस संसार में सुख-दु:खदायी सुगति-दुर्गतियों में जीव द्वारा की गई क्रियाएं- किये गये शुभाशुभ कर्म ही कारण हैं,[24] कर्मों की शुभाशुभता के पीछे दृष्टिकोण मुख्य हेतु है,[25] इस संसरण-क्रियाचक्र से छूटने का उपाय 'निष्कर्म' होना है और निष्कर्मता (अक्रियता) की स्थिति के लिए पुण्य-पाप- इन दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय अपेक्षित है।[26] इस संसार-चक्र से अस्पृष्ट कोई है तो वही है जो परम ज्ञानादिक्रिया-सम्पन्न होते हुए भी निष्कल, निष्क्रिय है और इस समस्त संसार का साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) है।[27]

भारतीय दर्शनों में क्रिया-सम्बन्धी विविध निरूपण

सभी दर्शनों में, चाहे वे आस्तिक दर्शन हों या नास्तिक, 'क्रिया' का निरूपण हुआ ही है। चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन में भी 'खाओ, पीओ, मौज करो' की क्रिया का उपदेश दिया गया है। शेष भारतीय दर्शनों में, जो पुनर्जन्म, परलोक आदि का अस्तित्व मानते हैं, आचारमीमांसा के संदर्भ में, परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति में 'क्रिया' की

उपयोगिता को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। कुछ दर्शन मोक्ष-प्राप्ति में 'ज्ञान' (आत्मज्ञान, पदार्थज्ञान, आत्म-अनात्मविवेक आदि) को कारण मानते हैं, वे भी चित्त-शुद्धि हेतु 'क्रिया' (नित्य अनुष्ठेय धार्मिक क्रिया आदि) की उपयोगिता स्वीकारते हैं।[28] वेदान्त, न्यायवैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि दर्शनों ने 'नित्य क्रिया' की मोक्ष में परम्परया उपयोगिता स्वीकार की है। मंडन मिश्र (सुरेश्वराचार्य) आदि प्राचीन वेदान्ती व मीमांसक दार्शनिक 'ज्ञान-कर्मसमुच्चय' (ज्ञान व कर्म की सहप्रधानता) का समर्थन करते हैं तो आ. शंकर इसका पूर्णत: निराकरण करते हैं। उनके मत में मोक्ष 'क्रियानिष्पाद्य' नहीं है।[29] आ. भर्तृप्रपंच आदि भेदाभेदवादी वेदान्ती 'कर्म-ज्ञानसमसमुच्चय' का समर्थन करते हैं।

योगदर्शन में तो 'क्रियायोग' को मोक्ष-साधक (समाधि-भावना में तथा क्लेशकृशता में सहायक) माना गया है। इस क्रियायोग में तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान (इष्ट देव-ध्यानादि) को सम्मिलित किया गया है। गीता का निष्काम कर्मयोग प्रसिद्ध है ही, जो फलासक्ति आदि रहित क्रिया की कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधनों में 'क्रिया' का निरूपण प्राय: सभी दर्शनों में है। क्षणिकवादी व नैरात्म्यवादी बौद्ध दर्शन भी साधक के लिए 'अष्टांगिक मार्ग' या 'मध्यमप्रतिपदा' के रूप में पंचशील, समाधि व प्रज्ञा- इन विविध आचरणीय क्रियाओं का निरूपण करता है।

इसके अतिरिक्त, 'क्रिया' को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में भी मान्यता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ- प्रमुखत: न्याय-वैशषिक दर्शन में क्रिया (कर्म) को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में निरूपित कर इसके विविध भेदों का निर्देश किया गया है और किन-किन मूर्त द्रव्यों में इसका सद्भाव है- इसका भी निरूपण है। इतना ही नहीं, घड़े को पकाये जाने पर घड़े के लाल होने की प्रक्रिया जो होती है, उसको लेकर दो पृथक्-पृथक् सिद्धान्त निरूपित हुए हैं। न्यायदर्शन पिठरपाकवाद का समर्थक है और यह मानता है कि सम्पूर्ण घड़े का पूर्व वर्ण नष्ट होकर पूरे घड़े में ही लाल वर्ण उत्पन्न होता है, जब कि वैशेषिक दर्शन में पीलुपाकवाद का समर्थन हुआ है जिसके अनुसार (पीलु=) परमाणुओं में ही नवीन रूप उत्पन्न होता है और क्रमश: घड़ा नवीन लाल वर्ण प्राप्त करता है।

जो दर्शन द्रव्यों/पदार्थों /तत्त्वों का वर्गीकरण करते हैं, वे यह निरूपण भी करते हैं कि अमुक तत्त्व 'निष्क्रिय' या सक्रिय है, या कौन-कौन से तत्त्व सक्रिय हैं और कौन

से निष्क्रिय। वे इस संदर्भ में 'क्रिया' का अर्थ भी स्थूल या सूक्ष्म दो प्रकार से करते हैं। क्रिया यानी गति (देशान्तर-प्रापिका) यह क्रिया का स्थूल अर्थ है, किन्तु तत्त्व में अन्तर्निहित परिवर्तनशीलता- यह उसका सूक्ष्म व व्यापक अर्थ है। उदाहरणार्थ- सांख्य दर्शन में सामान्यत: प्रकृति 'निष्क्रिय' मानी गई है।[30] किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति में क्षोभरूप परिणमन क्रिया का सद्भाव भी माना गया है।[31] जैन दर्शन में भी जीव व पुद्गल को गतिशील मानकर 'सक्रिय' और अन्य को निष्क्रिय माना गया है, वहां भी क्रिया का अर्थ गतिशीलता है। किन्तु उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक परिणमन रूप क्रिया के आधार पर समस्त द्रव्य 'सक्रिय' ही हैं।[32] इसके अतिरिक्त, सृष्टि की क्रिया, प्रलय की क्रिया आदि का विवेचन भी (सांख्य, न्याय-वैशेषिक, औपनिषदिक आदि) दर्शनों में विविध रूप से किया गया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में 'क्रिया' एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय रहा है। यहां यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि जैन साहित्य एवं-धर्म-दर्शन में 'क्रिया' का जो विस्तारपूर्वक व सूक्ष्म निरूपण हुआ है, वह अन्य दर्शनों से विशिष्ट एवं मौलिक है।

जैन साहित्य में 'क्रिया' का बहुआयामी रूप

सर्वप्रथम यह निर्देश करना उचित है कि 'क्रियावाद' भारतीय आस्तिक विचारधारा का एक विशेष मानदण्ड है। 'क्रियावाद' का समर्थक आत्मा, परलोक, कर्मवाद व पुनर्जन्म आदि का समर्थक होगा ही।[33] भगवान् महावीर के समय में अनेक मत-मतान्तरों में क्रियावादी (180 भेद), अक्रियावादी (84 भेद), उच्छेदवाद आदि मत प्रसिद्ध थे। क्रियावाद व अक्रियावाद का निरूपण धवला, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[34] (सम्यक्) क्रियावाद इन सब में जैन मान्यता के अधिक अनुकूल था (बशर्ते वह ज्ञानवाद आदि से अविरुद्ध हो)। क्रिया से कर्ता (आत्मा) के अस्तित्व की पुष्टि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करती है।[35] अत: (ज्ञानावादादि-सापेक्ष) 'क्रियावाद' जैन दार्शनिक विचारधारा में पूर्णत: उपादेय रहा है।

भगवान् महावीर के जैन संघ में 'क्रिया' को केन्द्रबिन्दु रखकर अनेक महत्त्वपूर्ण मतभेद भी सामने आए। उनमें एक था जमाली-निरूपित बहुरतवाद जो भगवान् महावीर के 'क्रियमाण कृत' के विरुद्ध या आक्षेप रूप था।[36] 'क्रियमाणकृत' के अनुसार जो किया जा रहा है, उसे किया हुआ माना जाता है। अर्थात् कार्य प्रारम्भ हो जाने पर, भले

ही वह कार्य पूर्णता को, सम्पन्नता को प्राप्त न भी हुआ हो, चूंकि वह आंशिकरूप से हो चुका है, होता जा रहा (क्रियमाण) है, वह 'कृत' कहा जाता है। यह निरूपण 'निश्चय नय' (या ऋजुसूत्रनय) के अनुसार माना जाता है। इस नय में क्रियाकाल व निष्ठाकाल अभिन्न होते हैं। इसी तरह अजितकेशकम्बली द्वारा प्रवर्तित 'उच्छेदवाद' के अनुसार दान आदि सत्क्रियाएं निष्फल, निस्सार हैं क्योंकि मृत्यु के बाद सब उच्छिन्न हो जाता है। इसी संदर्भ में अश्वमित्र का 'सामुच्छेदिकवाद' भी उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार, उत्पत्ति-क्रिया के तुरन्त बाद वस्तु नष्ट हो जाती है। आचार्य पूरणकाश्यप के अक्रियावाद के अनुसार किसी भी क्रिया से कर्मबन्ध आदि नहीं होता। इसी क्रम में आ. गंग का 'द्वैक्रियवाद' था जो भगवान महावीर के 'एक समय में एक ही उपयोग परिणति-क्रिया' की मान्यता के विपरीत था।

जैन दर्शन में नयवाद, अनेकान्तवाद व स्याद्वाद को विशिष्ट स्थान प्राप्त है- यह दर्शन का विद्यार्थी जानता है। इन नयों में ज्ञाननय व क्रियानय का विशिष्ट निरूपण प्राप्त होता है। समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने एकान्त ज्ञाननय व एकान्त क्रियानय का निराकरण कर इन दोनों की परस्पर अपेक्षा या मैत्री स्थापित कर, ज्ञान व क्रिया-दोनों को महत्त्व देते हुए साधना करने की प्रेरणा दी है।[37] इसी संदर्भ में क्रियारुचि (सम्यक्त्व) का निर्देश भी प्रासंगिक है। ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति-गुप्ति के पालन में जिसकी भावपूर्वक रुचि हो, वह 'क्रियारुचि' है।[38] नयों में 'एवम्भूतनय' के अनुसार समस्त वस्तु 'क्रियात्मक' है।[39]

कुछ स्थलों में 'क्रिया' शब्द 'जीवाजीवादि पदार्थ-ज्ञान एवं छन्द, अलंकार आदि के वाचक रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[40] समस्त कलाओं (पुरुषों की 72 कलाओं, स्त्रियों की 64 कलाओं) तथा काव्य-कला आदि का भी यह शब्द वाचक है और 'क्रियाविशाल' नामक 'पूर्व' में इनका निरूपण था- ऐसी मान्यता है।[41]

जैन दर्शन और अर्थ क्रिया

'अर्थक्रिया' एक दार्शनिक पारिभाषिक शब्द है। इसके सम्बन्ध में भी जैन दार्शनिकों ने सूक्ष्म व मौलिक विचारणा प्रस्तुत की है जिसका सार यहां प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा।

सामान्यत: 'क्रिया' को चेष्टा का पर्याय माना जाता है। कहा भी है–

आत्मजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्या भवेत् चेष्टा, क्रिया सैव निगद्यते।।

तात्पर्य यह है कि मन में उठने वाले मानसिक भाव इच्छा-कृति-चेष्टा-इस क्रम में क्रिया का रूप धारण करते हैं। कृति का अर्थ है करने का संकल्प, या चेष्टा का प्रारम्भ। पर, यह तो हुई चेतन पदार्थ की बात। अचेतन पदार्थ में भी चेतन की चेष्टा या क्रिया से कुछ परिणतियां सम्भव होती हैं, जिन्हें प्रयत्नजनित पदार्थ क्रिया कहा जाता है।

स्थूल रूप से अर्थक्रिया का अर्थ है व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से पदार्थ का क्रियान्वित होना। चेतन व्यक्तियों का सक्रिय होकर व्यवहार में किसी न किसी के लिए उपयोगी बनना सर्वविदित है। भौतिक पदार्थों में भी अर्थक्रिया द्वारा उपयोगी होने की प्रक्रिया को प्रतिदिन अनुभव किया जाता है। जैसे, मिट्टी से घड़े का निर्माण करते हैं, घड़े से पानी लाने व भरने आदि का काम लेते हैं। रूई से धागों का निर्माण कर, धागों को वस्त्र का आकार देते हैं और वस्त्र को पहनने-ओढ़ने एवं शीत-निवारण आदि के काम में लेते हैं। सोने से विविध आभूषण बनाते हैं और उन्हें विभिन्न अंगों पर धारण करते हैं। आ. हेमचन्द्र के शब्दों में पदार्थ का विविध परिणतियों के माध्यम से क्रियान्वित होना, अथवा अर्थक्रिया-उपयुक्त होना उसकी 'अर्थक्रिया' है: ''अर्थक्रिया= अर्थस्य हानोपादानादिलक्षणस्य क्रिया=निष्पत्तिः'' (प्रमाणमीमांसा, 1/31)।

जैन दर्शन में स्वतः या किसी अन्य के निमित्त से होने वाली परिणति जो एक देश से दूसरे देश में स्थानान्तरित होने में कारण होती है 'क्रिया' मानी गई है।[42] यह क्रिया जीव व पुद्गलों में होती है, अतः ये दोनों ही 'सक्रिय' माने गए हैं।[43] जैन दार्शनिकों के मत में 'अर्थ' से तात्पर्य 'कार्य' पदार्थ से है, उसमें होने वाली क्रिया अर्थात् कार्य के रूप में होने वाली निष्पत्ति-रूप क्रिया 'अर्थक्रिया' है। इसके अतिरिक्त, आत्मा का जो चैतन्य धर्म या स्वभाव है जो मन-वचन-काय की चेष्टा के रूप में अभिव्यक्त होता है वह भी क्रिया रूप में स्वीकारा गया है।[44] पुण्य-पाप कर्मों के निमित्त से प्रादुर्भूत सुख-दुःखादि की अनुभूति-यह चेतन जीव की अर्थक्रिया है।[45]

'अर्थक्रिया' को एक व्यापक अर्थ में लेते हुए जैन दार्शनिकों ने यह भी कहा है कि ज्ञान व जड़ दोनों की क्रिया 'अर्थक्रिया' में अन्तर्भूत है। संक्षेप में चेतन व अचेतन दोनों की क्रिया को 'अर्थक्रिया' कहा जा सकता है।[46] अर्थक्रिया में एक वस्तु द्वारा 'स्वयं में किये जाने वाली विविध क्रियाएं' तो अन्तर्भूत हैं ही, किसी अन्य में भी प्रादुर्भूत

की जाने वाली क्रियाएं भी उस द्रव्य की मानी जाती हैं। जैसे एक नर्तकी भ्रू-भंग, अक्षिनिक्षेप आदि जो क्रियाएं करती है, वे उसकी 'अर्थक्रिया' हैं, साथ ही नर्तकी के नृत्य को देखकर प्रेक्षकों का भावविभोर-हो जाना या उनका विविध मनोभावों से युक्त होना, वह भी नर्तकी की अर्थक्रिया कही जाएगी।[47] इस दृष्टि से वस्तु का ज्ञान, उसका अनुभूति-विषय बनना, प्रयोजनानुसार विविध परिणतियों से युक्त होना आदि सभी स्थितियां अर्थक्रिया में अन्तर्भूत हैं।

आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में ग्राह्य-ग्राहक भाव से युक्त होना, वाच्य-वाचकता या कार्यकारणरूपता प्राप्त करना आदि को भी 'अर्थक्रिया' के रूप में स्वीकारा है।[48]

अर्थक्रियाकारित्व समस्त द्रव्यों में : जैन आचार्यों ने अर्थक्रिया या अर्थक्रियाकारिता को व्यापक आयाम देते हुए इसे सर्वद्रव्यगत सिद्ध किया है। न केवल जीव व पुद्गल, अपितु धर्म, अधर्म, आकाश, काल में भी अर्थक्रिया होती ही है, और यदि न हो तो वह वस्तु 'सत्' या अस्तित्वयुक्त ही नहीं हो सकती ऐसा जैन दार्शनिकों का मत है।

अर्थक्रिया को सूक्ष्मतया व्याख्यायित करने वाले जैन दार्शनिकों व नैयायिकों की दृष्टि को स्पष्ट करें तो ''अपने मौलिक अस्तित्व, सार्थकता व उपयोगिता को निरन्तर बनाये रखते हुए, देश-कालानुरूप सदृश या विसदृश, सूक्ष्म या स्थूल परिणतियों रूपान्तरणों के माध्यम से क्रियान्वित होना पदार्थ की 'अर्थक्रिया' है और उस क्रिया से सम्पन्न होते रहने की सहज योग्यता ही 'अर्थक्रियाकारिता' है।'

सत्ता व अर्थक्रिया का तादात्म्य: प्रत्येक वस्तु में तदात्मभूत 'वस्तुत्व' गुण होता है। जिसके कारण उस वस्तु या द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व संगत होता है, उस वस्तु की प्रयोजनभूत क्रिया संभव होती है[49]।

परमार्थत: द्रव्य की सत्ता और अर्थक्रिया ये दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं।

इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है:

प्रत्येक सद्भूत वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक (त्रिलक्षणात्मक) 'परिणाम' प्रवर्तमान रहता है और सत्पदार्थगत यही परिणति-प्रवाह अर्थक्रिया है या अर्थक्रिया का आधार है।[50]

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में पूर्व आकार का त्याग तथा उत्तरवर्ती आकार का ग्रहण -इस प्रकार परिणाम जो निरन्तर प्रवर्तमान रहता है, वही 'अर्थक्रियाकारिता' है, या उन परिणामों पर ही अर्थक्रिया की उपपत्ति सम्भव हो पाती है।

वस्तुत: सत्ता और अर्थक्रिया का शाश्वत घनिष्ठ सम्बन्ध है।[51] वस्तु में उक्त त्रिलक्षणात्मकता न मानी जाय तो अर्थक्रिया नहीं हो सकती।[52] दूसरी तरफ, जहां अर्थक्रिया नहीं, वहां 'सत्ता' भी नहीं है। दूसरे शब्दों में जो अर्थक्रियाकारी है, वही परमार्थत: 'सद्' या द्रव्य है।[53] इस दृष्टि से वस्तु का लक्षण 'अर्थक्रियाकारित्व' किया जाना भी जैन दार्शनिकों को अभीष्ट रहा है। जैन दार्शनिकों ने धर्म, अधर्म, आकाश व काल में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक रूप त्रिलक्षण सत्ता के आधार पर स्व-परप्रत्यय उत्पाद-व्यय रूप परिणति के रूप में 'अर्थक्रियाकारित्व' का प्रतिपादन किया है।[54]

संक्षेप में उक्त अर्थक्रिया सक्रिय, निष्क्रिय, मूर्त्त, अमूर्त्त आदि समस्त अस्तित्वयुक्त पदार्थों में अनादि-निधन रूप से, सूक्ष्मतम निरवच्छिन्न आन्तरिक परिणति-परम्पराओं के रूप से प्रवर्तमान रहती है। दूसरे शब्दों में यह अर्थक्रिया पदार्थमात्र के अस्तित्व या सत्ता का अविनाभूत अंग है।

अनेकान्तात्मकता और अर्थक्रिया : उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त प्रत्येक वस्तु को निरूपण करने के लिए दो प्रमुख दृष्टियां हैं (1) द्रव्यार्थिक, और (2) पर्यायार्थिकनय।[55] द्रव्यार्थिक नय 'द्रव्य' (ध्रुवत्व) को प्रमुखता देकर वस्तु का निरूपण करता है, अत: उसके अनुसार वस्तु 'स्यात् नित्य' है। पर्यायार्थिक नय 'पर्याय' को प्रमुखता देकर वस्तु का निरूपण करता है, अत: उसके अनुसार वस्तु 'स्यात् अनित्य' है। अत: वस्तु का समग्र रूप 'स्यात् नित्यानित्यात्मक' प्रतिपादित होता है। इस अनेकान्तात्मक स्वरूप को स्वीकार करने पर ही 'अर्थक्रिया' की उपपत्ति या संगति हो पाती है, अन्यथा नहीं।[56] एकान्त क्षणिक या एकान्त नित्य, दोनों स्वरूपों में अर्थक्रिया की संगति नहीं हो पाती, अत: उसका वस्तुत्व या अस्तित्व ही असंगत हो जाता है। अस्तित्व-वस्तुत्व और अर्थक्रियाकारित्व ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

एकान्त क्षणिक वस्तु एक क्षण तक ही ठहरती है, अत: उस में, उसी देश में और क्षणान्तर काल में नष्ट भी हो जाती है। इस तरह उस वस्तु में देशकृत व कालकृत अर्थक्रिया सम्भव नहीं हो सकतीं। निरंश होने से उसमें एक साथ अनेक स्वभाव भी नहीं रह सकते, इसलिए एक ही क्षण में एक साथ अनेक कार्य सम्भव नहीं हो सकते, क्योंकि एक स्वभाव से तो एक कार्य ही हो पाएगा।[57]

इसी तरह, एकान्त नित्य वस्तु में भी अर्थक्रिया असम्भव है। नित्य वस्तु तो सर्वदा एकरूप रहती है, उसमें क्रम से अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा मानने पर उसकी एकरूपता या नित्यता के खण्डित होने का प्रसंग होगा। यदि वह एक ही समय में सभी कार्यों को एक साथ उत्पन्न करे तो कार्यों में भेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि कारण-भेद से ही कार्य-भेद सम्भव होता है। अक्रम से, युगपत् (एक साथ) अर्थक्रिया होना माना जाय तो दूसरे क्षणों में वह वस्तु अकिञ्चित्कर (अर्थक्रियाहीन) हो जाएगी।[58]

इस तरह, एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य, दोनों ही वस्तुओं में अर्थक्रिया की संगति न होने से उस वस्तु का वस्तुत्व ही खण्डित हो जाएगा।[59]

बौद्धों ने जो क्षणिक परमाणुओं की स्थिति मानी है, उसका खण्डन जैन ग्रन्थों में विशेषत: अर्थक्रिया-असंगति के आधार पर किया गया है। क्षणिक परमाणुओं में परस्पर-सम्बद्धता न मानी जाय तो किसी 'ध्रुव' तत्त्व के न होने से घटादि द्वारा जल-आहरण या धागों से वस्त्र-निर्माण आदि की अर्थक्रियाएं नहीं हो पाएंगीं।[60]

अर्थक्रिया और वर्तना आदि : जैन दार्शनिकों ने क्रिया, परिणाम (भाव) व वर्तना-इसमें कुछ अन्तर व साम्य माना है। अर्थक्रिया के प्रसंग में इनका स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है।

उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्य का अविनाभूत स्वभाव है।[61] वर्तना व क्रिया भी उस 'परिणाम' में ही अन्तर्भूत हैं। किन्तु किसी स्वरूप-विशेष को प्रमुखता देने या अधिक स्पष्टता देने की दृष्टि से 'परिणाम', 'वर्तना' व 'क्रिया' इन्हें पृथक्-पृथक् रूप में अभिहित किया जाता है। अपनी मूल सत्ता को नहीं छोड़ते हुए पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक नवीन पर्याय का प्रादुर्भाव रूप जो विकार है, वह चाहे स्वाभाविक हो या प्रायोगिक (परनिमित्तक), उसे 'परिणाम' कहा गया है।[62]

प्रत्येक द्रव्य जिस स्वभावरूप से अपनी सत्ता-प्रवाह को बनाये रखता है, या द्रव्य की अपनी मर्यादा के भीतर उसमें प्रतिसमय जो पर्याय होता है, उसे भाव, तत्त्व या परिणाम कहा जाता है।[63] जीव में क्रोध आदि, और पुद्गल में वर्णादि विकार उसके परिणाम हैं। धर्म आदि द्रव्यों में भी 'अगुरुलघुगुण' की वृद्धि-हानि से प्रतिक्षण परिणमन होता है।[64]

अब 'वर्तना' के स्वरूप पर विचार करें। हर एक द्रव्य-पर्याय में जो हर समय स्वसत्ता-अनुभवन होता है, उसे 'वर्तना' कहा जाता है, अर्थात् एक अविभागी समय में

जो छहों द्रव्य स्वत: ही अपनी सादि और अनादि पर्यायों से जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं बर्त रहे हैं, अस्तित्व बनाये रहते हैं, उस वर्तन को ही 'वर्तना' कहा जाता है।[65]

वर्तना व परिणाम में सूक्ष्म अन्तर भी किया जा सकता है। जहां द्रव्य-पर्यायें 'परिणाम' हैं,[66] वहां उन सूक्ष्म पर्यायों में होने वाला सद्रूप परिणमन 'वर्तना' है।[67] पं. राजमल्ल जी के शब्दों में द्रव्यों में उनके अपने रूप से होने वाले 'सत्परिणमन' का नाम 'वर्तना' है। दूसरे शब्दों में, जीवादि छहों द्रव्यों का अस्तित्व रूप (उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक) जो स्वात्मपरिणमन है, वह 'वर्तना' है। इस वर्तना में उपादान कारण तो तत्तद् द्रव्य है और उदासीन, अप्रेरक, निष्क्रिय कारण 'काल' द्रव्य है।[68]

'क्रिया' भी परिणाम, भाव या सत्ता का ही एक रूप है।[69] द्रव्य का परिस्पन्दात्मक परिणमन उसकी 'क्रिया' है, जब कि अपरिस्पन्दात्मक (पर्याय) मात्र 'परिणाम' हैं।[70] प्रदेश-चलनात्मक योग्यता का नाम 'क्रिया' है और परिणमनशील योग्यता का नाम 'भाव' या 'परिणाम' है। किन्तु परिस्पन्दात्मक परिणमन मात्र जीव व पुद्गल-इन दोनों में ही होता है। अत: क्रियारूप योग्यता जीव व पुद्गल-इन दोंनों में ही मानी गई है।[71] जीव व पुद्गल में भाव रूप योग्यता तथा क्रियारूप योग्यता दोनों हैं, किन्तु धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों में मात्र परिणमनशील योग्यता ही है।[72]

द्रव्यों के निष्क्रिय व सक्रिय-इन विभागों की पृष्ठभूमि में विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने देशान्तर-प्राप्ति का हेतुभूत जो पर्याय/परिणमन है, उसे क्रिया कहा है।[73] उक्त परिस्पन्दात्मक क्रिया धर्म व अधर्म में नहीं है, इसलिए उन्हें निष्क्रिय माना गया है। वास्तव में परिणाम-लक्षण क्रिया तो धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भी रहती है।[74]

आचार्य विद्यानन्द के मत में 'परिणाम' भी क्रियारूप ही है-'परिणामलक्षणया क्रिया'।[75] अत: इस दृष्टि से धर्म, अधर्म ही नहीं, अपितु कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जो क्रियारहित हो, क्योंकि परिणमन सभी द्रव्यों का स्वभावभूत धर्म है (सर्वस्य वस्तुन: परिणामित्वात्[76])। वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद आदि क्रिया यदि न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही निरस्त हो जाएगा। आ. विद्यानन्द के शब्दों में "भले ही धर्म, अधर्म,आकाश, काल-इन निष्क्रिय द्रव्यों में परिस्पन्द-लक्षण क्रिया न हो, तथापि प्रतिक्षण उत्पाद आदि 'परिणतिरूप क्रिया' तो होती है, अन्यथा उनके अस्तित्व को ही नकारना होगा।

इत्यपास्तं परिस्पन्द-क्रियाया: प्रतिषेधनात्।
उत्पादादिक्रियासिद्धे:, अन्यथा सत्त्वहानित:।।[77]

लोक का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व तो हो किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणति रूप क्रिया से रहित हो, यदि यह परिणति-क्रिया न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही संगत नहीं हो पाएगा। परिणतिरूप क्रिया से युक्त होने के कारण, वस्तुत: प्रत्येक द्रव्य सक्रिय है,[78] और पर्यायार्थिक नय से प्रत्येक द्रव्य निष्क्रिय।[79]

अगुरुलघुगुणकृत अर्थक्रिया: प्रत्येक पदार्थ में निहित 'अगुरुलघु' गुण व उसके अविभागी गुणांशों में प्रतिसमय होने वाली षड्विध हानि-वृद्धि का निरूपण भी यहां प्रासंगिक है। धर्म, अधर्म, आकाश आदि अमूर्त व निष्क्रिय द्रव्यों में भी स्वप्रत्ययया परप्रत्यय उत्पाद-व्यय कैसे सम्भव हैं-इस प्रसंग में जैन आचार्यों ने अगुरुलघुगुण की चर्चा की है। इस गुण की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि के कारण सभी द्रव्यों में स्वप्रत्यय-उत्पाद-व्यय (परिणमन) प्रतिक्षण प्रवर्तमान रहते हैं।[80]

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण होते हैं जिनमें प्रत्येक अनन्त-अनन्त अविभागी गुणांशों से युक्त होता है। इन गुणांशों के आधार पर द्रव्य में छोटापन, बड़ापन आदि विभाग सम्भव हो पाते हैं। इन गुणांशों को अविभागी प्रतिच्छेद भी कहा जाता है। द्रव्य के अनन्त गुणों में अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व ये छ: सामान्य गुण हैं। जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप में नहीं बदलता या एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप में नहीं बदलती, वह 'अगुरुलघु' गुण है। इस गुण के अविभागी प्रतिच्छेदों के छ: प्रकारों से कम होने और बढ़ने को छ: गुनी हानि-वृद्धि कहा जाता है।

अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात-गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि ये छ: वृद्धियां हैं। अनन्तभागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्त गुण हानि ये छ: हानियां हैं। दोनों मिलकर 'षट्स्थानपतित हानिवृद्धि' कहलाती हैं।[81]

धर्म आदि द्रव्यों में अपने-अपने अगुरुलघु गुण के परिणमन से स्वप्रत्यय उत्पाद व व्यय होता रहता है। जब किसी दूसरे के निमित्त से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि एक प्रदेश को छोड़ कर दूसरे प्रदेश के साथ सम्बद्ध होते हैं, तब धर्म, अधर्म आदि में परप्रत्यय उत्पाद व व्यय का होना माना जाता है। अगुरुलघु गुण का पूर्व अवस्था का त्याग होने पर व्यय, उत्तर अवस्था की उत्पत्ति होने पर उत्पाद माना जाता है। सभी स्थितियों में मौलिक स्वरूप जो बना रहता है, वह 'ध्रौव्य' है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अर्थक्रिया का जो सूक्ष्म, व्यापक एवं वैज्ञानिक विवेचन जैसा जैन ग्रन्थों में मिलता है, वैसा अन्य दर्शनों में प्राप्त नहीं होता और

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त विवेचन पूर्णत: मौलिक व गम्भीर है। अन्त में, मैं इस विषय पर नवीनतम शोधकार्य का उल्लेख करना चाहूंगा। 'क्रिया' से सम्बन्धित उपर्युक्त दार्शनिक व वैज्ञानिक विचारणाओं की पृष्ठभूमि में, श्रद्धेया साध्वीश्री गवेषणाश्री जी द्वारा 'क्रिया का दार्शनिक और वैज्ञानिक अनुशीलन' शीर्षक प्रस्तुत किया गया था जिस पर जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं (राज.) की ओर से पी-एच्. डी. की उपाधि प्रदान की जा चुकी है। यह प्रकाशित भी हो रहा है। अत: जैन विद्या के संदर्भ में क्रिया-विषयक विस्तृत विवरण इसमें देखा जा सकता है। अत: जैन दर्शन से सम्बन्धित क्रिया के विवेचन को मैंने इस निबन्ध में पूर्णतया संक्षिप्त ही रखा है। प्रसंगवश पाठकों के लाभार्थ इस शोधप्रबन्ध का संक्षिप्त परिचय देना चाहता हूं।

समस्त शोधप्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं

(1) क्रिया की दार्शनिक पृष्ठभूमि
(2) क्रिया के प्रकार और आचारशास्त्रीय स्वरूप
(3) क्रिया और कर्म-सिद्धान्त
(4) क्रिया और पुनर्जन्म
(5) क्रिया और अन्तक्रिया
(6) क्रिया और परिणमन का सिद्धान्त
(7) क्रिया और शरीरविज्ञान
(8) क्रिया और मनोविज्ञान

इस ग्रन्थ में पूज्य साध्वीश्री जी ने विषय से सम्बद्ध सभी सम्भावित पक्षों को स्पष्ट करने हेतु, जैन आगमों एवं दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण क्रियाविषयक सामग्री को एकत्रित कर एक व्यापक व सर्वांगीण निरूपण तथा सुन्दर व संगत विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। पारम्परिक जैन दार्शनिक विचारधारा के साथ-साथ, आधुनिक विज्ञान (शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, रसायन व भौतिक विज्ञान) में स्वीकृत मान्यताओं व निष्कर्षों के परिप्रेक्ष्य में समस्त विषय के सर्वांगीण विवेचन करने में पूज्य साध्वीश्री जी पूर्ण सफल रही हैं- यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। यह भी इस ग्रन्थ की विशेषता है कि इसमें सम्प्रदाय-विशेष के ग्रन्थों को नहीं, अपितु उदार दृष्टि से दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि सभी सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को समाहित करने का सफल प्रयास हुआ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. इह यत् क्रियते कर्म, तत्परत्रोपसृज्यते।
   कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता।। (महाभारत- 3/261/35)
2. गायन्ति देवाः किल गीतिकानि, धन्यास्तु ते भारतभूभिभागे।
   स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।। (विष्णुपुराण, 2/3/24)
   अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
   यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे, मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।। (भागवत, 5/19/2)
   तुलना- दुल्लहे खलु माणुसे भवे (उत्तरा. 10/4)।
3. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशोपनिषद्- 2, यजुर्वेद 40/2)
4. आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् (मीमांसासूत्र- 1/21)।
5. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता- 3/5)
   शरीरयात्राऽपि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः। (गीता-3/8)
6. किरातार्जुनीय काव्य (भारवि)
7. अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः।
   शास्त्रमाद्रियते, तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम्।। (प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रारम्भ-प्रकरण)
8. न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमुत्पादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्, यथैक एव वन्हिः दाहकः, पाचकः प्रकाशकश्चेति (सांख्यतत्त्वकौमुदी, का. 9)।
9. महाभारत, 12/75/29
10. कर्मैव गुरुरीश्वरः (भागवत पुराण, 10/24/17)। तुलना: कम्मसच्चा हु पाणिणो (उत्तरा. 7/20)।
11. यः क्रियावान् स पण्डितः (महाभारत, 3/313/110)। न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः (गीता-11/48)। आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान् (मुंडक उपनिषद्-3/1/4)।
12. संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः (सर्वार्थसिद्धि, 2/10)। संसरन्ति अनेन चतसृषु गतिषु इति संसारः (धवला-13/5,4,17/44)। गच्छंति संसरति इति जगत् (कोश)।
    स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्
    (स्वयंभूस्तोत्र- 114)। एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
    सो संसारो भण्णदि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स। (स्वामी कार्तिकेय-कृत द्वादशानुप्रेक्षा, 32-33)।
13. (क) आत्मनं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु (कठोप. 3/3)।
    (ख) उत्तराध्ययन- 23/73 (सरीरमाहु नावत्ति)।
14. अहं ममेत्यसद्ग्रहः करोति कुमतिर्मतिम्।
    तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्।। (भागवत- 3/31/30-31)।
15. अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
    मनसा लिंगरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा (भागवत- 4/29/35)।।

16. संसारचक्र एतस्मिन् जन्तुरज्ञानमोहितः।
भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च, भुंक्ते सर्वत्र सर्वदा (भागवत- 6/17/18)॥
17. स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव, रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च (श्वेताश्वतरोप. 5/12)।
18. जहा य तिन्नि मूलं धेत्तूण निग्गया।
एगोत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह॥
माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं।
दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे॥।
तओ जिए सइं होइ दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्धाए सुइरादवि॥ (उत्तराध्ययन- 7/14-18।)
19. उत्तराध्ययन- 7/11-13
20. उत्तराध्ययन- 14/47, सूत्रकृतांग- 1/12/14
21. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसण्णा विसयंगणाहिं दुहत्तो वि लोकं अणुसंचरंति (सूत्रकृतांग- 1/12/14)।
जम्मणमरणपुणब्भ-वमणंतभवसायरे भीमे (मूलाचार- 7/5)। एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे। किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्चयदो (स्वा. का. द्वादशानुप्रेक्षा -62)। उत्तराध्ययन- 19/16
22. द्र. राजवार्तिक- 9/7, सर्वार्थसिद्धि- 2/10, आदि।
23. स्वा. का. द्वादशानुप्रेक्षा, 68
24. (क) यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन (बृहदारण्यकोप. 4/4/5)। कठोप. 2/5/7,
(ख) पावेहि पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं (इसिभासिय, 33/6)। उत्तराध्ययन-4/3,13/24,33/1,10/15 (एवं भवसंसारे संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं। जीवो पमादबहुलो)। सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति (औपपातिक, 56)।
द्र. सूत्रकृतांग- 1/2 (3) 18, 1/2 (1)4, 1/7/11
25. (क) भागवत- 3/31/30-31, 6/17/18
(ख) दशाश्रुत- 5/14 (एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए)।
संसारमूलहेतुषु मिच्छत्तं (भगवती आराधना- 724)।
संसारअडवीए मिच्छत्तन्नाणमोहिअपहाए (आवश्यकनिर्युक्ति- 909)।

26. (क) पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपेति (मुंडकोप. 3/3)।
कृतकर्मनाशः कर्मक्षये भाति स तत्त्वतोऽन्यः (श्वेताश्वतरोप. 6/4)।
(ख) णिज्जरियसव्वकम्मो...पावदि सुक्खमणंतं (मूलाचार- 749)।
कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ (दशवैकालिक- 4/24)।

27. (क) श्वेताश्वतर उप. 6/7-8, 11,16,19
(ख) उत्तराध्ययन- 29/1, 36/66-67,
सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य (मोक्षप्राभृत- 35)।
केवलणाणुवत्ता जाणंती सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहिं णंताहिं (औपपातिक- 195/12)।
णट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा (द्रव्यसंग्रह- 51)।
परमात्मा सकलविषयविषयात्मा (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय- 223-24)।

28. तुलना : जैन मत (जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया कुन्दकुन्दकृतद्वादशानुप्रेक्षा, 57)।

29. क्रियानिष्पाद्यस्य तु मोक्षस्य अनित्यत्वं प्रसज्जयति (अमलानन्द-कृत वेदान्त कल्पतरु, 1/1/4)।
अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपविधिपराः वेदान्ताः भविष्यन्ति (भामती, 1/1/4)।

30. द्र. सांख्यकारिका, का. 10,
सक्रियं परिस्पन्दवत्। तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं परित्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते इति तेषां परिस्पन्दनम् (सांख्यतत्त्वकौमुदी, का. 10)।

31. प्रकृतिक्षोभात् सृष्टिश्रवणेन प्रकृतेरपि कर्मवत्तया.... (सांख्यसूत्र 1/24 पर प्रवचनभाष्य)।

32. परिणामलक्षणया तु क्रिया सक्रियौ एव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात्
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक- 5/7)।
द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् सर्वे भावाः उत्पादव्ययदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्च (राजवार्तिक- 5/7/25)।

33. से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई (आयारो, 1/5)

34. द्र. धवला- 9/4,1, 45/203, 9/4, 1, 45, 207, 1/1, 1, 2/107, गोम्मटसार, कर्मकाण्ड- 884-885, 877, तत्त्वार्थराजवार्तिक- 1/20/12

35. तत्र न कर्तारं विना क्रियासम्भवः इति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। ते पुनरात्मादि-अस्तित्वप्रतिप्रत्तिलक्षणाः
(नन्दी सूत्र, हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 100)।

36. द्र. भगवई, 9/156-234, 'क्रियमाण कृत' का समर्थन आ. अकलंक-कृत राजवार्तिक (1/33/7) में प्राप्त होता है।

37. य उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम क्रियानयः इत्यर्थः (दशवैकालिक निर्युक्ति, हरिभद्रीयवृत्ति- 149 व 371, पृ. 81 व 286)।

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपराः ज्ञानं न जानन्ति यत्, मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः(आत्मख्याति-कलश-111)। ज्ञानक्रियानयपरस्परती-व्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः (आत्मख्याति, कलश- 267)।

38. उत्तराध्ययन- 2/25, प्रज्ञापना, गा. 128, प्रवचनसारोद्धार- 958,
39. शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव 'तद्वस्तु' इति भूतः एवम्भूतः (सन्मतितर्क, अभय. वृत्ति, 3, पृ. 314)। न हि कश्चिद् अक्रियाशब्दोऽस्य अस्ति (तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक, 4/1/33)।
40. जीवादितत्त्वे नयभेदविकल्पितस्वरूपे या प्रतिपत्तिः सा क्रिया (अनुयोग द्वार, चूलिका, पृ. 86)।
41. लेखादिकाः कला द्वासप्ततिः गुणाः, चतुःषष्टिः स्त्रैणाः, शिल्पानि-काव्य-गुणदोष-क्रियाछन्दोविचितिक्रिया- कलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्याताः, तत् क्रिया-विशालम् (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/20/12)।
42. उभयनिमित्तापेक्षया पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तर-प्राप्तिहेतुः क्रिया (त. राजवार्तिक-5/7/1)।
43. भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ (पंचाध्यायी 2/25)। सामर्थ्यात् सक्रियौ जीवपुद्गलौ इति निश्चयः (त. श्लोकवार्तिक-5/7, श्लोक-2, पृ. 45 शोलापुर सं.)। जीवपुद्गलानां स्वतः परतश्च क्रियापरिणामित्वम् सिद्धम् (त. राजवार्तिक- 5/7/6)। क्रियाऽनेकप्रकारा हि पुद्गलानामिवात्मनाम्। स्वपरप्रत्ययायत्तभेदा (त. श्लोक-वार्तिक-5/7 पर श्लोक 46-47, पृ. 400)।
44. चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च। क्रिया मनोवचः-कायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम्।। (आलाप पद्धति)।
45. अर्थक्रिया सुखदुःख-उपभोगः (स्याद्वादमंजरी, का. 27, पृ. 238)। सुख- दुःख- भोगौ पुण्यपाप-निर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्तनं च अर्थक्रिया (स्याद्वादमंजरी, का. 27, पृ. 236)।
46. अर्थस्य=ज्ञानस्य अन्यस्य वा, क्रिया=करणम् (न्यायकुमुदचन्द्र- 2/8, पृ. 372)।
47. एकाऽपि हि नर्तकी करण-अंगहार-भ्रूभय-अक्षिविक्षेपादि-लक्षणाम्, प्रेक्षकजनानां हर्षविषादादिलक्षणां वा अनेकाम् अन्योन्यविलक्षणाम् अर्थक्रियां करोति इति (न्यायकुमुदचन्द्र,2/का. 7,पृ. 362)।
48. ग्राह्यग्राहकता एतेन बाध्यबाधकताऽपि वा। कार्यकारणाप्तिर्वा (त. श्लोकवार्तिक-ख/1 सूत्र, पद्य-148)।
अशेषग्राह्यग्राहकतादिअर्थक्रियानिमित्तं (त. श्लोकवार्तिक- 1/1 सूत्र, पद्य- 154 पर)।
49. द्र. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा- 12 आदि।
50. पूर्वाकारपरिहारोत्तराकारस्वीकार-अवस्थानस्वरूपलक्षणपरिणामेन वस्तूनाम् अर्थक्रियाकारिता (स्याद्वादरहस्य, पृ. 9)। अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षणपरिणामेन अर्थक्रिया-उपपत्तेश्च (परीक्षामुख-

4/2)। स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकार-स्थितिलक्षणपरिणामेन भावानाम् अर्थक्रिया-उपपत्तिः अविरुद्धा (स्याद्वादमंजरी, का. 5, पृ. 26)।

51. सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वेन व्याप्तम् (न्यायवतारवार्तिक-वृत्ति, का. 34, पृ. 87)। अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः (प्रवचनसार-2/96 टीका)। अर्थक्रियाकारित्वस्य भावलक्षणत्वात्.....अर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्तयेत् (स्याद्वाद-मंजरी, का. 26, पृ. 234)।

52. त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि...अर्थक्रिया-अभावात् (धवला-4/1/45, पृ.-142)। पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणो हि परिणामः, न पूर्वोत्तरक्षणविनाशोत्पादमात्रं स्थितिमात्रं वा प्रतीत्यभावात्। स च क्रमयौगपद्य-योर्व्यापकतया संप्रतीयते...ते च निवर्तमाने अर्थक्रियासामान्यं निवर्तयतः, ताभ्यां तस्य व्यापकत्वात् (लघीयस्त्रय- 2/8, पृ. 4)। वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम् (स्याद्वादमंजरी, का. 14, पृ. 124)। यदेव अर्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थसत् (त. श्लोकवार्तिक-1/1 सूत्र, श्लोक. 154)।

53. अर्थक्रियासमर्थं हि परमार्थसत्-अंगीकृत्य (लघीयस्त्रय-2/8, पृ. 4)। वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम्-(स्याद्वादमंजरी, का. 14, पृ. 124)। यदेव अर्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थसत् (त. श्लोकवार्तिक-1/1 सूत्र, श्लोक 154)। न च अर्थक्रियारहितं वस्तु सत्, खरश्रृंगवत्, अर्थक्रियाकारिण एव वस्तुनः सत्त्व-उपपत्तेः (त्. श्लोकवार्तिक-5/31, पृ1 435)।

54. द्रष्टव्यः राजवार्तिक-5/7/3, 5/39/2, त. श्लोकवार्तिक 5/22, धर्मादीनां येनात्मना भवनं स परिणामः...स द्विविधः, अनादिः आदिमांश्च।...द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयद्वयविवक्षावशात् सर्वेषु धर्मादिद्रव्येषु स उभयः
परिणामोऽवसेयः। अयं तु विशेषः धर्मादिषु चतुर्षु द्रव्येषु अत्यन्तपरोक्षेषुअनादिः आदिमांश्च परिणामः आगमगम्यः, जीवपुद्गलेषु कथंचित् प्रत्यक्षगम्योऽपि (त. राजवार्तिक-5/42/1-4)।

55. त. राजवार्तिक-5/38/2, सन्मतिप्रकरण-1/2-3,

56. परीक्षामुख-4/2, पंचाध्यायी-1/315-316, क्रमेण युगपद् वा अनेकधर्मात्मकस्यैव अर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वं प्रतिपत्तव्यम् (न्यायकुमुदचन्द्र, 2/का. 8, पृ. 374)।

57. प्रमेयकमलमार्तण्ड-4/10, पृ. 601, न च क्षणिकस्य वस्तुनः क्रम-यौगपद्याभ्याम् अर्थक्रियाविरोधः असिद्धः, तस्य देशकृतस्य कालकृतस्य वा क्रमस्य असम्भवात्। अवस्थितस्य एकस्य हि नानादेशकालकला-व्यापित्वं देशक्रमः,
कालक्रमश्चाभिधीयते। न च क्षणिके सोऽस्ति (प्रमेयरत्नमाला-4/1 पर, पृ. 269)। स्याद्वादमंजरी, का. 16,(पृ. 156-158), का. 5,(पृ. 24-25),

58. न हि नित्यैकान्ते परिणामोऽस्ति (त. श्लोकवार्तिक- 5/22, पृ. 416 मुम्बई सं.)। न हि नित्यस्य क्रमेण युगपद् वा सा सम्भवति, नित्यस्य एकेनैव स्वभावेन पूर्वापरकालभाविकार्यद्वयं कुर्वतः कार्यभेदकत्वात्

तस्यैकस्वभावत्वात्, तथापि कार्यनानात्वे अन्यत्र कार्यभेदात् कारणभेदकल्पना विफलैव स्यात् (प्रमेयरत्नमाला,4/1 सू. पृ. 258-259)। स्याद्वादमंजरी, का. 5, पृ. 22-24,

59. क्रिया क्षणक्षयैकान्ते पदार्थानां न युज्यते। भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरेकान्तनित्यवत् (त. श्लोकवार्तिक- 5/22, श्लोक. 42, पृ. 418 मुम्बई सं.)। अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता (लघीयस्त्रय-2/8, पृ. 4)। न च नित्यैकान्ते क्षणिकैकान्ते वा क्रमयौगपद्ये संभवतः (न्यायकुमुदचन्द्र 2/8 पर, पृ. 372)।
सत्त्वान्यथानुपपत्तेः सर्वं नित्यानित्यात्मकम्, यथा घटः एकान्तनित्ये अनित्ये वा अर्थक्रियाविरोधात् (न्यायावतार सूत्र- वार्तिक-वृत्ति, 2/कारिका-35)।

60. अणूनाम् अन्योन्यम् असम्बद्धतो जलधारण-आहरणादि-अर्थक्रियाकारित्व-अनुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनाम् एकदेशापकर्षणे तदन्याकर्षणे च असम्बद्धवादिनो न स्यात् (सत्यशासनपरीक्षा- पृ.25)। द्र. स्याद्वादमंजरी, का. 16, पृ. 156-158.

61. अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः (प्रवचनसार- 2/96 टीका)। त. राजवार्तिक- 5/30/5-6,

62. द्रव्यस्य स्वजाति-अपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः (राजवार्तिक-5/22/10)।

63. तद्भावः परिणामः (तत्त्वार्थसूत्र- 5/42)। द्रव्याणि येन आत्मना भवन्ति, स तद्भावः तत्त्वं परिणाम इत्याख्यायते (त. राजवार्तिक- 5/42/2)। सर्वार्थसिद्धि-5/22,

64. धर्माधर्माकाशानाम् अगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः (परिणामः) (सर्वार्थसिद्धि- 5/22)।

65. प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिः वर्तना...एकस्मिन् अविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैः आदिमद्-अनादिमद्भिः उत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैः वर्तन्ते-इति कृत्वा तद्-विषया वर्तना (राजवार्तिक-5/22/4)।
अन्तर्नीतैकसमयः स्वत्तानुभवो भिदा। यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते। ...धर्मादीनां हि वस्तूनाम्, एकस्मिन् अविभागिनि। समये वर्तमानानां स्वपर्यायैः कथंचन। उत्पादव्यय-ध्रौव्यादिविकल्पैः बहुधा स्वयम्। प्रयुज्यमानतान्येन वर्तना कर्म भाव्यते (त. श्लोकवार्तिक-5/22/1-4)॥

66. तद्भावः परिणामोऽत्र, पर्यायः प्रतिवर्णितः (त. श्लोकवार्तिक-5/42 पर श्लोक.1)। द्रव्यस्य पर्यायः धर्मान्तरनिवृत्ति-धर्मान्तरोपजननरूपः परिणामः (सवार्थसिद्धि-5/22)।

67. द्रव्याणाम् आत्मना सत्परिणमनम् इदं 'वर्तना' (अध्यात्म- कमलमार्तण्ड)।

68. धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद् विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्य उपकारः (सर्वार्थसिद्धि- 5/22)।

69. भावः सत्ता क्रिया-इत्यनर्थान्तरम् (राजवार्तिक-5/30/4)।

70. देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मको हि परिणामः अर्थस्य कर्म उच्यते

(प्रमेयकमलमार्तण्ड-4/10, पृ. 600)। द्रव्यस्य भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रिया इत्याख्यायते,
इतरः परिणामः (राजवार्तिक-5/22/21)। परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते। क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुः (त. श्लोकवार्तिक-5/22/39)।

71. पंचाध्यायी -2/25, (त. श्लोकवार्तिक- 5/7 पर श्लोक. 2, पृ.-45 शोलपुर सं.)।
72. पंचाध्यायी-2/24-27,
73. राजवार्तिक -5/7/1, त. श्लोकवार्तिक-5/7,
74. धर्माधर्मौ परिस्पन्दलक्षणया क्रिया निष्क्रियौ. सकलजगद्-व्यापित्वाद् आकाशवत्। परिणामलक्षणया तु क्रिया सक्रियौ एव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात् (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-5/7)।
75. त. श्लोकवार्तिक-5/7,
76. त. श्लोकवार्तिक-5/22 (पृ. 418 मुम्बई संस्करण)।
77. त. श्लोकवार्तिक- 5/7 पर श्लोक-9,
78. द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा उत्पादव्ययदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्च (त. राजवार्तिक- 5/7/25), पंचास्तिकाय. 21 व टीका,
79. पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा अनुत्पादव्ययदर्शनात् निष्क्रिया नित्याश्च (त. राजवार्तिक- 5/7/25)। पंचाध्यायी-ख/247, स्याद्वादमंजरी, का.-23, पृ. 204-205,
80. क्रियानिमित्त-उत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनाम् अन्यथा उत्पादः कल्प्यते। तद्यथा- द्विविध उत्पादः। स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानाम् अगुरुलघुगुणानाम् आगमप्रामाण्याद् अभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषाम् उत्पादो व्यश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेः गतिस्थिति-
अवगाहनहेतुत्वात्, क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नम् -इति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते (त. राजवार्तिक- 5/7/3)।
षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूप- प्रतिष्ठत्वकारण-विशिष्टगुणात्मिका,
अगुरुलघुत्वशक्तिः (समयसार-आत्मख्याति, कलश- 263 पर)।
81. द्र. गोम्मटसार, जीवकाण्ड आदि।

प्रो. दामोदर शास्त्री
प्रोफेसर, जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ- 341 306 (नागौर, राजस्थान)

अपनी ओर से

क्रिया और जीवन परस्पर जुड़े हुए हैं। जीवन है तो क्रिया अवश्य है। क्रिया हो तो जीवन हो यह अनिवार्य इसलिए नहीं है कि जड़ में भी क्रिया होती है। यह सुनिश्चित है कि क्रिया के अभाव में जीवन असंभव है।

जीविकोपार्जन की चेष्टा, भोजन करना, संभाषण करना, आंखें खोलना, सर हिलाना, हाथ फैलाना, चलना, उत्क्षेपण, अवक्षेपण इत्यादि स्थूल क्रियाएं हैं। चिन्तन-मनन, श्वास-प्रश्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाएं है। स्पन्दन सूक्ष्मतर क्रिया है और परिणमन तथा अध्यवसाय सूक्ष्मतम क्रियाएं है। यदि ये क्रियाएं बंद हो जाती है तो जीवन समाप्त हो जाता है। इसीलिए गीताकार का कहना है कि देहधारी प्राणी का क्रियारहित होना अशक्य है–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:।। (3/5)

अत: जीवन के साथ क्रिया का गहरा सम्बन्ध है। न केवल जीवन के साथ अपितु अस्तित्व के साथ भी क्रिया का गहरा सम्बन्ध है। क्रिया है तो अस्तित्व है, क्रिया के अभाव में अस्तित्व असंभव है। बौद्धदर्शन ने तो 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' कहकर क्रिया और अस्तित्व के बीच व्याप्ति स्थापित कर दी है। सत्पदार्थ वही है जो किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने में समर्थ है। अस्तित्व के साथ जुड़ी क्रिया की इस अवधारणा का परिणाम यह हुआ कि यह परिभाषा केवल बौद्धों तक ही सीमित नहीं रही सम्पूर्ण दर्शन जगत् में व्याप्त हो गई। फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में पदार्थ नित्य है अथवा अनित्य है- इस बात का इतना महत्त्व नहीं रहा, जितना कि वह अर्थक्रियाकारी है या नहीं - इस बात का। जैनाचार्यों ने तो वस्तु-स्वरूप-मीमांसा में वस्तु के वस्तुत्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व को ही रखा और इस कसौटी के आधार पर ही अन्य दर्शनों द्वारा मान्य वस्तु-स्वरूप का

खण्डन किया। उदाहरणार्थ-वेदान्त अभिमत वस्तु-स्वरूप के संदर्भ में एकान्त नित्य वस्तु किसी भी प्रकार से (क्रम अथवा यौगपद्य) क्रिया करने में असमर्थ है अत: कूटस्थ नित्यता उसका स्वरूप नहीं हो सकती। प्रमाणमीमांसा में हेमचन्द्र लिखते है- **अनर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वप्रसंग:- इत्येकान्त नित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृतौ निर्वर्तमान व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निर्वर्तयति, तदपि स्वव्याप्यं सत्वमित्यसन् द्रव्यैकान्त:।**

इसी प्रकार बौद्ध मत में पदार्थ की स्थिति क्षणिक होने से उसमें देशगत और कालगत दोनों ही रूपों में क्रिया संभव नहीं है। इसीलिए एकान्त अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकती है। जैनाभिमत में द्रव्य-पर्यायात्मकता अथवा नित्यानित्यता वस्तु स्वरूप बन सकता है इस स्वरूप के रहते हुए वस्तु निर्बाध रूप से क्रिया कर सकती। प्रमाणमीमांसा में इस तथ्य की पुष्टि इन सूत्रों के द्वारा की गई है– **प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु, अर्थक्रिया सामर्थ्यात्, तल्लक्षणत्वाद् वस्तुन:** (1/30-32)। इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्तित्व का आधार क्रिया है।

जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ अथवा अस्तित्व मात्र के साथ क्रिया का सम्बन्ध प्रारंभ से मान्य रहा है। क्रिया के सूक्ष्मतम रूप को परिणमन कहा गया है। वह हर पदार्थ में विद्यमान है। यह प्रत्येक पदार्थ में सतत होती रहती है। जीव जीव रूप में परिणमन कर रहा है और अजीव अजीव रूप में। अस्तित्व और नास्तित्व जैसे वस्तुभूत धर्म भी परिणमन कर रहे है।भगवती सूत्र में कहा– **अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,नत्थित्तं,नत्थित्ते परिणमइ** (1/3/133)

प्रत्येक पदार्थ में परिणमन दो रूपों में संभव है- सांयोगिक या विसदृश तथा स्वाभाविक या सदृश। सांयोगिक परिणमन अन्यान्य पदार्थों के योग से होता है, स्वाभाविक वस्तु में स्वत:होता है। पुद्गल के योग से जीव में होनेवाला अथवा जीव के योग से पुद्गल में होनेवाला परिवर्तन विसदृश परिणमन है। इसके विपरीत वस्तु का अपने स्वरूप में ही प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहना स्वाभाविक परिणमन है। उदाहरणार्थ परमाणु के रूप, रस, गंध, वर्ण में बिना किसी अन्य निमित्त के स्वत: परिवर्तन होता है, जीव के ज्ञान और दर्शन में परिवर्तन होता रहता है। यह स्वाभाविक या सदृश परिणमन है यह सामान्यत: दृष्टिगोचर नहीं होता है।

परिणमन का यह सिद्धांत पाश्चात्य जगत् में (Theory of Becoming) के रूप में चर्चित रहा है। विज्ञान के क्षेत्र में क्राण्टम के सिद्धांत से भी यही प्रमाणित हो रहा

है कि कोई भी पदार्थ स्थिर (Static) नहीं है। इस प्रकार क्रिया का सिद्धांत दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही जगत् में समान रूप से मान्य रहा हैं।

जैनागमों में जीव और जड़ पदार्थ में होनेवाले परिवर्तनों को क्रिया, परिणमन, स्पंदन, चलन इत्यादि शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। क्रिया के अनेक प्रकारों की चर्चा भी उपलब्ध होती है, उनका थोड़ा बहुत विवेचन भी प्राप्त है। किन्तु अब तक क्रिया का व्यवस्थित और विस्तार से विवेचन करनेवाला कोई एक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। जैनागमों में प्राप्त क्रिया संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर विविध विवेचना ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का आधार बनी।

क्रिया का सयुक्तिक प्रतिपादन अनेक दार्शनिक समस्याओं को समाहित कर सकता है। कर्मवाद और पुनर्जन्म जैसे विवादास्पद दार्शनिक मुद्दों पर वैचारिक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है। पाश्चात्य दर्शन और यहुदी धर्म का पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास नहीं है। भारतीय दर्शनों में भी चार्वाक विचारसरणि इनमें विश्वास नहीं करती है वेदान्त विचारधारा कर्म को माया के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे वास्तविक नहीं मानती है। कर्मवाद और पुनर्जन्म का कोई ऐसा ठोस आधार प्रस्तुत हो जो युक्तिसंगत और सर्वानुभूति का विषय बन सके, यह अपेक्षा है। चेतना की सूक्ष्म स्पंदनात्मक क्रिया का यह अध्ययन इसी दिशा में प्रस्थान का एक विनम्र आयास है। हर प्रवृत्ति चेतना के सूक्ष्म स्पंदनात्मक क्रिया का व्यक्त रूप है। प्रवृत्ति के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला जुड़ी हुई है। प्रतिक्रिया अल्पकालिक व दीर्घकालिक दोनों प्रकार की होती है। भोजन क्रिया का क्षणिक परिणाम बुभुक्षा-शमन है तो दीर्घकालिक परिणाम तीन या छः घण्टे तक शरीर में शक्ति का बना रहना है। इसी प्रकार प्राणी की हर प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप सूक्ष्मस्तर पर कर्म का आकर्षण विकर्षण रूप स्पंदन चलता रहता है। आकृष्ट कर्म ही कालान्तर में सुख-दुःख, पुनर्जन्म इत्यादि घटनाओं को संपादित करते हैं। विभिन्न जन्मों में अनुसंचरण के हेतु का अनुसंधान करते हुए जैन आगम आचारांग में कहा गया– मैंने अतीत में क्रिया की थी, वर्तमान में कर रहा हूं और आगे भी करूंगा। उसी का परिणाम है कि मेरा नाना योनियों में भ्रमण हो रहा है–

अकरिस्सं चहं, कारवेसुं चहं,
करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि। (आ.भाष्य-1/5-6)

इस प्रकार यह सिद्ध होती है कि क्रिया है तो कर्म है और कर्म है तो पुनर्जन्म भी है।

जैन दर्शन के मुख्य सिद्धांत न केवल अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह है अपितु कर्मवाद, पुनर्जन्म आदि भी हैं। कर्मवाद का सूक्ष्म और गहन विश्लेषण जैन चिन्तन में ही दृष्टिगोचर होता है। क्रिया का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कर्म क्रिया का उपजीवी है। आचारांग भाष्य में आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं– आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्रिया के द्वारा ही होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेष जनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म परमाणुओं के साथ सम्बन्ध होता रहता है। इसलिए कर्मवाद क्रियावाद का उपजीवी है।

इसके अतिरिक्त, भारतीय चिन्तन में एक बद्धमूल अवधारणा रही है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो: अर्थात् मन ही हमारी सारी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का मूल है। भारतीय चिन्तन में मन के नियन्त्रण की बहुत चर्चा मिलती है। भगवान बुद्ध ने इसीलिए एक ही दण्ड माना और वह है मनोदण्ड। गीता में मन की गति को वायु से भी अधिक चंचल बतलाते हुए यह प्रश्न किया गया है कि मन को कैसे रोकें। कृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य की लगाम से मन पर नियन्त्रण की बात कही -

चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।
असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।। (गीता 6/34-35)

किन्तु क्या केवल मन का नियन्त्रण पर्याप्त है ? मन की चंचलता में शरीर और वाणी की कोई भूमिका नहीं है? मन के नियंत्रण के लिए भाषा-विवेक और शारीरिक क्रियाओं के नियमन की कोई आवश्यकता नहीं है? मन की चंचलता के अभाव में भाषा और शरीर से भी कुछ प्रवृत्तियां नहीं होती हैं? मन के न चाहने पर भी कुछ अनुचित कार्य हो जाते हैं, उसका क्या कारण है? जैसा कि अर्जुन श्री कृष्ण से पूछते हैं–

अथकेन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरूष:।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजित:।। (गीता 6/36)

इससे यह फलित होता है कि मन से आगे भी कोई संचालक शक्ति है। यह बात इसलिए भी सत्य प्रतीत होती है कि प्राणी जगत् का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसमें मन नहीं है। फिर भी उसमें क्रिया पाई जाती है। कर्माकर्षण भी होता है और परिणाम-स्वरूप वे प्राणी जन्म-मृत्यु की प्रक्रिया से भी गुजरते हैं, अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनों का अनुभव

करते हैं। अत: स्पष्ट है कि प्रवृत्ति का मूल हेतु केवल मन नहीं हो सकता है। इस समस्या के समाधान के लिए क्रिया के सन्दर्भ में समग्रता से विचार करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त मान्यता की स्थूलता तब दृष्टिगोचर होती है जब हम क्रिया शब्द की गहराई में जाते हैं। क्रिया में मात्र मन को ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं माना गया है, अपितु भाषा और शरीर को भी माना गया है। तीनों में से किसी एक का भी मूल्य कम या अधिक नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा ध्यातव्य यह है कि मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति भी मूल नहीं है। इसके पीछे भी चेतना, अध्यवसाय का पूरा चक्र चल रहा है। मन के अभाव में भी बंधन-मुक्ति की प्रक्रिया चलती रहती है। अत: मन के परे अध्यवसाय या चेतना प्रवृत्ति का मूल स्रोत है– यह क्रिया शब्द से स्पष्ट होता है। इन सभी तथ्यों को प्रकाश में लाना शोधकार्य का मुख्य प्रयोजन है।

प्रस्तुत शोधकार्य की प्रक्रिया के अन्तर्गत क्रिया शब्द के आधारभूत मूल ग्रंथ आगम, निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, भाष्य तथा अन्यान्य व्याख्या ग्रंथों का अवलोकन किया गया है। क्रिया के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक विचारधाराओं तथा मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान आदि का भी अध्ययन किया गया है। क्रियासम्बन्धी शोध-निबंध, क्रियाकोश आदि के उपयोग के साथ-साथ सम्बद्ध विषय के विद्वानों से चर्चा-परिचर्चा, तथ्य-संग्रह और अन्यान्य पुस्तकालयों का अवलोकन भी शोधकार्य की पूर्णता में उपयोगी रहा है।

क्रिया के संदर्भ में अभी तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। न ही इस विषय पर स्वतंत्र रूप से कुछ लिखा गया है। आगमों में भी क्रिया की चर्चा एक स्थान पर उपलब्ध नहीं है। वर्तमान युग के महान् दार्शनिक आचार्य महाप्रज्ञ ने आगम-सम्पादन करते हुए क्रिया के संदर्भ में अवश्य अनेक ऐसी टिप्पणियां और भाष्य प्रस्तुत किये हैं जो चिन्तन की गहराई लिये हुए तथा शोधपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, श्री मोहनलालजी बांठिया व श्रीचन्दजी चोरड़िया ने कठोर श्रम करके आगम व अन्य साहित्य में निहित क्रिया संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का क्रियाकोश के रूप में संकलन और संपादन किया है। उन्होंनें आगमिक उद्धरणों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया है इस दिशा में शोधकार्य करने की अत्यन्त आवश्यकता थी जिसे एक सीमा तक आकार देने का प्रयास प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के माध्यम से किया गया है। आशा है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध से क्रिया के विषय में रही हुई कमी की एक पूर्ति होगी। प्रस्तुत शोधकार्य दार्शनिक और वैज्ञानिक तथ्यों के अनुशीलन और तुलनात्मक अध्ययन पर टिका हुआ है। अत: विज्ञान और दर्शन के आधार पर इसमें 8 अध्यायों की योजना की गई है–

प्रथम अध्याय में भगवान महावीर के समय क्रिया के संदर्भ में दार्शनिक जगत् में चलने वाले वाद-विवाद और उनके परिणामस्वरूप फलित होने वाले सिद्धांतों की चर्चा है।

द्वितीय अध्याय में क्रिया की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा क्रिया के भेदों-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत अध्याय में क्रिया के आचारमीमांसीय स्वरूप पर गहरा और सूक्ष्म चिंतन प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय में क्रिया और कर्म के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जितने प्रकार की क्रियाएं हैं उतने ही प्रकार के कर्म अथवा जितने प्रकार के कर्म उतनी ही प्रकार की क्रियाएं हैं। कर्म और क्रिया एक दृष्टि से अन्योन्याश्रित हैं। इनमें परस्पर कारण-कार्य संबंध है। वस्तुत: जैन आचारशास्त्र में क्रिया और कर्म सिद्धांत का वही स्थान है जो विज्ञान में कारण-कार्य सिद्धांत का है। आधुनिक संदर्भ में क्रिया और कर्म को क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धांत भी कहा जा सकता है। इसका कारण कर्म सिद्धांत की कुछ अपनी मान्यताएं हैं–

(i) प्रत्येक क्रिया उसके परिणाम से जुड़ी हुई है अर्थात् प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल अवश्य होता है।

(ii) कर्म और उसके फल की परम्परा अनादिकालीन है।

(iii) फलानुभूति उसी को होती है, जिसने पूर्व में क्रिया की है।

मेक्समूलर ने भी माना है कि अच्छे बुरे कर्म का फल निश्चित है। इसी प्रकार रेनोर जोन्सन ने माना है कि भौतिक जगत् में सर्वत्र कार्य-कारण अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया (The Law of Cause and Effect or Action and Reaction) का सिद्धांत कार्य कर रहा है। यद्यपि विज्ञान जगत् में इस संदर्भ में मत वैविध्य भी है। आंशिक तुलना करें तो इन सिद्धांतों का प्रवृत्ति, विचार, भावना आदि स्तरों पर स्वीकार ही आध्यात्मिक जगत् में कर्म का सिद्धांत है। कर्म सिद्धांत में पुण्य और पाप तथा शुभ और अशुभ प्रवृति में गहरा संबंध माना गया है। प्रवृत्ति की शुभाशुभता का कारण तत्त्वज्ञान की भाषा में कषाय और लेश्या की मन्दता और तीव्रता तथा शुद्धि और अशुद्धि है। मनोविज्ञान की भाषा में विधेयात्मक और निषेधात्मक भाव और मनोवृत्तियां कारण हैं। भाव के अनुरूप ही कर्म-बंध होता है। लेश्या और भावधारा में भी अन्तर्व्याप्ति है। लेश्या द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। भाव लेश्या आत्मा का परिणाम है। द्रव्य लेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित पौद्गलिक संरचना है। यह हमारे भावों एवं तज्जनित कर्मों की प्रेरक है।

लेश्या जीवात्मा को पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ भावों से जोड़ती है। जीव का मूल स्वरूप शुद्ध चैतन्य है। संसार दशा में उसका वह शुद्ध स्वरूप कर्म-परमाणुओं से आच्छादित रहता है। जीव निरन्तर अपने प्रयत्नों से कर्म के प्रभाव को कम करने का प्रयास करता है। कर्म का मूलोच्छेद किए बिना उसके प्रभाव से पूर्ण रूप में नहीं बचा जा सकता। फलत: उदयभाव बना रहता है। इस प्रकार कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि के परिणाम-स्वरूप जीव की जो विविध दशाएं बनती हैं वे ही भाव हैं।

लेश्या और भाव के अलावा इस अध्याय में जैन कर्म-सिद्धांत की विशिष्टता– कर्म की पौद्गलिकता, मूर्त्त-अमूर्त्त का सम्बन्ध, विपाक-परम्परा, द्रव्यकर्म-भावकर्म, कर्मों के प्रकार, कर्म-बंध के हेतु आदि अनेक विषयों की चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय में चेतना की सूक्ष्म स्पंदनात्मक क्रिया और पुनर्जन्म विषयक विचार किया गया है। कर्मफल भोग के लिए पुनर्जन्म की संभावना को सभी आस्तिक दर्शनों ने एकमत से स्वीकार किया है।

कर्म के बिना न पुनर्जन्म का अस्तित्व है, न प्राणी जगत् की विविधता की व्याख्या की जा सकती है। यह निश्चित नियम है कि कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होता। **कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता** अर्थात् कृत कर्मों का फल भोगे बिना प्राणी की मुक्ति नहीं होती। कर्म यदि एक जन्म में फल नहीं दे पाता है तो आगामी जन्म में देता है। सामान्य से सामान्य कर्म भी भोगे बिना नष्ट नहीं होता, संस्कार रूप में जीव के साथ संलग्न रहता है। वर्तमान जीवन पिछले जन्म के कर्मों द्वारा संचालित एवं नियंत्रित है। तपस्या से कभी बिना भोगे भी समाप्त किया जा सकता है। हां, तपस्या आदि विशेष प्रवृत्ति से कर्मों को बिना भोगे भी समाप्त किया जा सकता है। कर्मों की स्थिति आदि को बदलना पुरुषार्थ के हाथ में है।

पुनर्जन्म का आधार है– आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व तथा कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध। पूर्वकृत कर्मों का भोग एवं नये कर्म-संस्कारों का संचय संसारी आत्मा का स्वभाव है। संचित संस्कारों से प्रेरित होकर जन्म-मृत्यु की परम्परा चलती है। पुनर्जन्म का बोध तीन प्रकार से संभव है–

(i) प्रत्यक्षज्ञानी या अतीन्द्रिय ज्ञानी
(ii) तार्किक-धरातल
(iii) वैज्ञानिक-अनुसंधान

प्रत्यक्ष ज्ञानियों की अनुभूति का सच है कि जिसका पूर्व और पश्चात् नहीं, उसका मध्य भी संभव नहीं। जिसका मध्य है, उसका पूर्वापर अस्तित्व भी निश्चित है। वर्तमान जीवन जन्म-मरण की अविच्छिन्न परम्परा की मध्यवर्ती कड़ी है। चेतन के अस्तित्व एवं प्राणी के व्यक्तित्व की सम्यग् व्याख्या के लिये ही कर्मवादी अवधारणा का उदय हुआ है। अतीत के कर्मों एवं वर्तमान के उत्थान-पतन, आरोह-अवरोह की प्रक्रिया को कर्मवाद एक निश्चित आकार देता है। जन्म के प्रथम उच्छ्वास से लेकर अन्तिम समय तक घटित घटनाओं, दुर्घटनाओं का उपादान प्राणी का अपना कर्म ही है। परिस्थितियां निमित्त मात्र हैं। कर्म की विद्यमानता में पुनर्जन्म की संभाव्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

पुनर्जन्म के सिद्धांत का तार्किक आधार आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व और क्रिया प्रतिक्रिया है। एक विचारधारा पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करती। उनका तर्क है कि शरीर की तरह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होती। यदि चेतना की त्रैकालिक सत्ता है तो वह दिखाई क्यों नहीं देती ? पुनर्जन्म है तो उसकी स्मृति सबको क्यों नहीं होती ? अत: उनके मत में आत्मा है किन्तु उसका संबंध वर्तमान से है। अतीत और भविष्य से उसका संबंध तर्क संगत प्रतीत नहीं होता।

वैज्ञानिकों ने भी लम्बे समय तक पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया। उनकी पहुंच भौतिक जगत् तक ही रही। उनके प्रयोग और परीक्षण का आधार भी मात्र भौतिक जगत् रहा है। किन्तु जब से विज्ञान ने जगत् के सूक्ष्म रहस्यों का अन्वेषण शुरू किया है, एक नई क्रांति घटित हो रही है। अब यह धारणा बन रही है कि भौतिक जगत् के पीछे भी कोई अभौतिक तत्त्व (आत्मा) क्रियाशील है।

पंचम अध्याय में कर्म-मुक्ति में क्रिया की क्या भूमिका है? इस पर विचार किया गया है। बंधन का मूल हेतु क्रिया है, यह सर्वसम्मत है। मुक्ति में भी क्रिया की भूमिका रहती है, यह अन्य किसी भी दर्शन में मान्य नहीं है। अकर्म अथवा अक्रिया ही मुक्ति का साधन मानी गई है। ऐसी स्थिति में इस अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि क्रिया कर्म-बंधन की हेतु ही नहीं होती है। शुभ योग से शुद्ध योग और शुद्ध योग से क्रमशः अयोग की स्थिति में प्रवेश प्राप्त कर कर्मों को समाप्त भी किया जा सकता है। साधना के द्वारा व्यक्ति क्रियाशून्य हो जाये तो क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र भी स्वत: रूक जाता है और कर्म-परमाणुओं का भी संबंध हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है। क्रियाशून्य कैसे हुआ जा सकता है। इसके लिए संवर, निर्जरा, अन्तक्रिया आदि के स्वरूप और प्रक्रिया को समझना अत्यावश्यक है।

बंध और मोक्ष अध्यात्म-जगत् के प्रमुख प्रत्यय हैं। आध्यात्मिक साधना का मूल लक्ष्य है - बंधन मुक्ति। बंधन और मुक्ति एक सिक्के के दो पहलु हैं। ये दोनों आत्माधारित हैं। 'बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव।' बंधन और मुक्ति तुम्हारे भीतर ही है। 'कर्मबंधन' की प्रक्रिया में प्रवृत्ति रूप (योग रूप) मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया का निमित्त केवल प्रकृति बंध और प्रदेश बंध तक सीमित है। 'अनुभाग बंध' और 'स्थिति बंध' जो कषाय की आंतरिक स्थिति पर आधारित है, उसका संबंध 'क्रिया' यानि चेतना के सूक्ष्म स्तर, जिस हम अध्यवसाय, परिणाम, भाव आदि के रूप में व्याख्यायित करते हैं, के साथ हैं। जैसे 'अव्रत आश्रव' में 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कर्म बंध का कारण बनती है, न कि मन-वचन का या योग। इसी प्रकार क्रिया का विस्तृत विवेचन यह सिद्ध करता है कि जन्मान्तर में भी वे पुद्गल 'क्रिया' के कारण 'कर्मबंध' के निमित्त बन जाते हैं यदि वे किसी भी रूप में प्राणातिवात आदि के निमित्त बनते हैं। अस्तु बंधन है तो संवर और निर्जरा। मुक्ति का उपाय भी हैं। मोक्ष के लिए संवर, निर्जरा साधक हैं। संवर में आश्रव का निरोध होता है। संवर आश्रव का प्रतिपक्षी है। संवर मोक्ष का मूल कारण और नैतिक साधना का प्रथम सोपान हैं। कर्म-पुद्गलों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है। इस प्रकार संवर निरोध तथा निर्जरा शोधन का कार्य करती है। इन दोनों के योग से कर्म-बंधन से एकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति संभव है।

जैन दर्शन में आत्म-विशुद्धि का मापन गुणस्थान के आधार पर किया गया है। प्रथम गुणस्थान से क्रमशः आगे बढ़ते हुए जीव आठवें गुणस्थान में पहुंचता है, वहां से ऊर्ध्वारोहण की गति तीव्र हो जाती है। ऊर्ध्वारोहण के दो माध्यम हैं - उपशम भाव और क्षय भाव। इन्हें क्रमशः उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी कहा जाता है। क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर साधक दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें में चला जाता है। बारहवीं भूमिका में मोह कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में प्रवृत्ति शेष रहती है। चौदहवें गुणस्थान के अंतिम चरण में सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है। समुच्छिन्न-क्रिया-प्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान द्वारा निष्प्रकंप स्थिति को प्राप्त कर कुछ ही क्षणों में साधक मुक्त हो जाता है, चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई लक्ष्य रहता है। लक्ष्य का चयन एवं निर्धारण एक जटिल प्रक्रिया है। जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नहीं हो सकता। जीवन की प्रक्रिया है सदा परिवेश के प्रति क्रियाशील होती है। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को तोड़ते रहते हैं और जीवन अपनी

क्रियाशीलता के द्वारा पुन: इस संतुलन को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। यह प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है। इसे ही विकासवादियों ने अस्तित्व के लिये संघर्ष कहा है। जैनदर्शन की भाषा में इसे संघर्ष की अपेक्षा समत्व का संस्थापन कहना अधिक उचित है जीवन का साध्य केवल समत्व का संस्थापन ही नहीं इससे भी आगे है। वह है आत्म-पूर्णता की दिशा में प्रगति। आत्मपूर्णता का अर्थ है आत्मोपलब्धि। जैसे बीज वृक्ष रूप में प्रकट होता है वैसे आत्मा के निज गुणों का पूर्ण रूप से प्रकट होना ही मोक्ष है यही मानव जीवन का लक्ष्य है। उसे ही मोक्ष कहा गया है और उसका साधन अन्तक्रिया है। जिसका विवेचन पञ्चम अध्याय में किया गया है।

षष्ठम अध्याय का प्रतिपाद्य है क्रिया और परिणमन। जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ अथवा अस्तित्व के साथ क्रिया का सम्बन्ध प्रारंभ से मान्य रहा है। क्रिया का सूक्ष्मतम और व्यापक रूप परिणमन है।

द्रव्य में दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं– सूक्ष्म क्रिया और स्थूल क्रिया।

(i) प्रतिक्षण होने वाली क्रिया-सूक्ष्म क्रिया है। इसके अनुसार निरन्तर परिवर्तन होता है। वस्तु पहले क्षण में जो होती है वह दूसरे क्षण में नहीं होती, उसका नया रूप बन जाता है। इस परिणमन का नाम है– अर्थपर्याय। अर्थपर्याय आन्तरिक परिवर्तन है। अर्थपर्याय स्वाभाविक और एक समयवर्ती होने के कारण देखी नहीं जा सकती है, न व्यक्त की जा सकती है।

(ii) क्षण के अन्तराल से होने वाली क्रिया– स्थूल क्रिया है। इसे व्यंजन पर्याय कहा जा सकता है। दृष्टिगोचर और वचनगोचर होने वाला जितना भी परिणमन है वह व्यंजन पर्याय है। व्यंजन पर्याय स्थूल और दीर्घकालिक होती है। परिणमन के बिना पहले क्षण का द्रव्य दूसरे क्षण में अपने अस्तित्व को टिकाएं नहीं रख सकता। इसलिये दार्शनिक दृष्टि से परिणमन के सिद्धांत का अपना विशेष महत्त्व है।

प्रत्येक वस्तु में उत्पाद-व्यय का क्रम चलता रहता है। पूर्व अवस्था का विनाश और उत्तर अवस्था की उत्पत्ति का नाम परिणमन है। जीव सदा जीव रूप में और अजीव सदा अजीव रूप में परिणमन कर रहा है। परिणमन की इस मर्यादा का कभी भी अतिक्रमण नहीं होता।

सप्तम अध्याय में जैन दर्शन तथा विज्ञान में शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन है। शारीरिक-रचना भी विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाओं के लिए जिम्मेदार होती है।

इसलिए इस अध्याय में जैन दर्शन और विज्ञान की दृष्टि से शारीरिक -रचना पर भी यत्किञ्चित् प्रकाश डाला गया है

जैन दृष्टि से सुख दु:ख की अनुभूति का साधन तथा जो उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता है, उसे शरीर कहते हैं। शरीर रचना के पीछे शरीर नामकर्म का उदय है। शरीर पांच है-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस् और कार्मण। प्रत्येक की रचना भिन्न-भिन्न प्रकार के पुद्गलों से होती है। औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों से बनता है, वैक्रिय शरीर विशिष्ट सूक्ष्म पुद्गलों से निर्मित संरचना है। इसी प्रकार आहारक, तैजस् और कार्मण क्रमश: सूक्ष्मतर पुद्गलों से निर्मित होते हैं। चेतना विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृति होती है।

आधुनिक शरीर-विज्ञान में शरीर-संरचना पर काफी अनुसंधानात्मक कार्य हुआ है। उसके आधार पर मानव शरीर की संरचना के मुख्य पांच स्तर माने गये हैं–

(i) रासायनिक स्तर (ii) कोशिकीय स्तर
(iii) ऊत्तकीय स्तर (iv) अंगीय स्तर (v) तंत्रीय स्तर

रासायनिक स्तर का सम्बन्ध प्रकृति में स्थित हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन आदि रासायनिक तत्त्वों से है। कोशिका, ऊत्तक, अवयव, तंत्रिकातंत्र आदि के संदर्भ में प्रस्तुत अध्याय में यत्किञ्चित् प्रकाश डाला गया है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से हमारे सारे आवेश, वृत्तियां और वासनाएं अन्त:स्त्रावी ग्रंथितंत्र की अभिव्यक्तियां हैं। मनुष्य की सभी आदतों का उद्गम स्थल ग्रंथितंत्र है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शैल्डन ने शरीर का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है–

(i) लम्बाकार (ii) गोलाकार (iii) आयताकार।

शरीर रचना के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व की व्याख्या की है। व्यक्तित्व विश्लेषण की दृष्टि से शैल्डन, क्रेश्मर, स्प्रेंगर आदि मनोवैज्ञानिकों का नाम प्रमुख हैं।

जैन दृष्टि से व्यक्तित्व निर्माण में वंशानुक्रम, परिवेश, नाड़ीतंत्र-ग्रंथितंत्र के अलावा लेश्या, भाव और कर्म आदि घटकों की विशेष भूमिका हैं। आवेगों के कारण मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में परिबर्तन होता है। ग्रंथियों के स्राव भी मूल कारण नहीं। मूल कारण कार्मण शरीर हैं। इन सभी तथ्यों की सप्तम अध्याय में चर्चा की गई है।

अष्टम अध्याय में क्रिया और मन के संबंध पर विचार किया गया है। मन क्या है? मन का स्थान कहां है ? मन का कार्य क्या है ? मन और शरीर का क्या सम्बन्ध है ? मन

के कितने प्रकार हैं? मानसिक विकास की भूमिकाएं कौनसी हैं ? मन और संवेग का पारस्परिक संबंध क्या है ? इत्यादि विषयों का अध्ययन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

जैन तत्त्व-मीमांसा के अनुसार विश्व के मूल में दो तत्त्व क्रियाशील हैं - जड़ और चेतन। आश्रव, पुण्य-पाप, संवर आदि इन्हीं दो तत्त्वों की विभिन्न अवस्थाएं हैं। वस्तुत: शुद्ध आत्मा बंधन का कारण नहीं बनती और न हीं कषाय के अभाव में कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया दीर्घकालिक कर्म-बंधन का हेतु बनती हैं। तात्पर्य, बंधन के मूल कारण राग-द्वेष और मोह हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी चैतन्य के गहरे स्तर पर चलने वाली अज्ञात प्रक्रियाओं में मन के मौलिक आधारों को खोज रहा है। उसके अनुसार मौलिक मनोवृत्तियां, संवेग, संवेद आदि के पीछे रहस्यमयी प्रक्रियाएं काम कर रही हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी मूल आशय राग, द्वेष, क्रोध,लोभ, भय आदि हैं। किन्तु ये निरन्तर प्रभावी नहीं रहते। जब - जब व्यक्ति निषेधात्मक भावों में जाता है इनका प्रभाव पड़ता है। स्मृति, कल्पना आदि मन के ही कार्य हैं। मन के दो प्रकार है– व्यक्त और अव्यक्त। जैनदर्शन की भाषा में इन्हें क्रमश:द्रव्यमन और भावमन कहा जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने इन्हें ज्ञात और अज्ञात मन कहा है। व्यक्ति का अज्ञात एवं अव्यक्त मन ही चित्त है। अज्ञात मन ही स्थूल व्यक्तित्व का नियामक होता है। मनोविज्ञान में अनेक प्रवृत्तियों की व्याख्या अचेतन मन के आधार पर की गई है। अचेतन मन संस्कारों का पुंज है। ये संस्कार ही चित्त का निर्माण करते हैं। आहार, मैथुन, परिग्रह, लोभ आदि सारी वृत्तियां और संज्ञाएं संस्कार या अध्यवसाय से ही जन्म लेती हैं।

क्रिया का सिद्धांत अत्यन्त सूक्ष्म और गहन है। क्रिया शब्द के विभिन्न अर्थों की मीमांसा के पश्चात् मूल पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त 'क्रिया-चेतना की सूक्ष्म स्पंदनात्मक क्रिया का विवेचन यहां इष्ट है। मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान आदि के संदर्भ में संक्षिप्त तुलनात्मक विश्लेषण का भी विनम्र प्रयास प्रस्तुत शोध प्रबंध में किया गया है।'

जीवन एक यात्रा है। जन्म के साथ ही जीवन की यात्रा प्रारंभ हो जाती है। यात्रा के हर पड़ाव पर क्रिया का दस्तावेज है। क्रिया से अक्रिया की ओर बढ़ना स्व- संबोध के द्वार पर एक सही दस्तक है। संबोध की पूर्व सीढ़ी है– जिज्ञासा। जिज्ञासा और संबोध ही व्यक्ति को सत्य का सान्निध्य और सामीप्य देता है।

सत्य संबोध के दो चरण हैं - 1. कर्म से अकर्म की ओर जाना 2. अस्तित्व में रमण। शरीर और मन के पार चले जाने पर जीवन का गहन सत्य हमारी चेतना में उतरता

है, वास्तविकता से साक्षात् होता है। संबोधि से समाधि की में प्रवेश ही कर्म से अकर्म और अस्तित्व में रमण है। इसकी प्राप्ति ही मुख्य प्रयोजन है।

जैन आचार-शास्त्र में विशेषत: असत्कर्म से सत्कर्म और फिर सत्कर्म से अकर्म की ओर बढ़ने की प्रेरणा निहित है। असत्कर्म और सत्कर्म का संबंध क्रिया से है। क्रिया कर्म की जननी है। क्रिया-विज्ञान वस्तुत: भारतीय ऋषियों के गहन अध्ययन की फलश्रुति है, चिन्तन के क्षेत्र में एक मौलिक देन है और इससे भी आगे हमारे अस्तित्व का मूलाधार है।

अपरिमेय ज्ञानपयोनिधि महाप्राण पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी, दिव्य आभा के धनी आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के द्वारा मुझे नया जीवन मिला है, जीवन को दिशा व गति प्रगति का विस्तृत आकाश मिला है। अर्हता या अच्छाई की दिशा में मेरे अस्तित्व में जो कुछ है, उन्हीं की परम कारुणिक दृष्टि का प्रसाद है। उनके द्वारा संपादित और प्रणीत साहित्य ही क्रिया संबंधी आगम के गहन रहस्यों को अनावृत उन्हें सरल भाषा में समझने में मदद कर पाया है। आपके द्वारा आलोकित अन्त:करण ही इस दुरूह कार्य को संपादित कर पाया है। पूज्य प्रवर सतत् श्रद्धाप्रणत समय ही इष्ट है।

युवामनीषी युवाचार्यश्री, मातृहृदया साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभाजी का मार्गदर्शन और वात्सल्य भाव ही मेरी सृजनधर्मिता का आधार बना है। पूज्यवरों को अनन्त श्रद्धासिक्त नमन।

क्रिया को शोध का विषय बनाना मेरे लिये संयोग था। एम.ए. की परीक्षा हो चुकी थी। लाडनूँ की घटना है, साध्वी श्री नगीनाजी के साथ जैन विश्व भारती दर्शनार्थ गई। सहसा साध्वी प्रमुखा श्री कनकप्रभाजी ने मुझे आशीर्वाद देते हुए फरमाया - अध्ययन आगे बढ़ाना है, बंद नहीं करना है। इसी प्रेरणा ने मुझे शोध कार्य के लिए प्रेरित किया तथा मेरे कार्य की दिशा भी निश्चित की। जैन दर्शन विभाग की व्याख्याता डॉ. समणी चैतन्य प्रज्ञाजी ने मार्गदर्शन किया। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

विषय गहन और जटिल होने के साथ न विशेष जानकारी, न व्यवस्थित सामग्री। नयी राह में चलने में योग और सहयोग मिला साध्वी श्री नगीनाजी और अन्य सहवर्ती रत्नाधिक साध्वीवृंद का। शक्ति, समय और श्रम के साथ सफलता संभव बनी। यद्यपि नवीनतम संदर्भों के संकलन में अनेक कठिनाईयां उपस्थित हुई, फिर भी साध्वी श्री नगीनाजी एवं सहवर्तिनी साध्वी श्री पद्मावतीजी, पुष्पावतीजी, मेरूप्रभाजी, मयंकप्रभाजी

तथा स्वर्गीया साध्वी श्री कंचनकंवरजी तथा अन्य अनेक व्यक्तियों के आत्मीय सहयोग ने उन सभी कठिनाईयों को पार कर मुझे आगे बढ़ाया। मेरी अग्रगण्या साध्वी नगीनाजी के कुशल और आत्मीय निर्देशन में यह कार्य संभव हो सका है। प्रो. मुनिश्री महेन्द्र कुमारजी व मुनिश्री धनञ्जय कुमारजी का अनायास प्राप्त सहयोग ग्रंथ की सुषमा बढ़ाने वाला रहा।

इसी परिप्रेक्ष्य में डॉ. महावीरराज गेलड़ा जयपुर (पूर्व कुलपति, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ), प्रो. बच्छराज दूगड़ (विभागाध्यक्ष अहिंसा एवं शान्ति विभाग, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ), डॉ. जे.पी.एन.मिश्रा (रीडर-जीवन विज्ञान विभाग), डॉ. कमलचन्द सोगानी महत्वपूर्ण सहयोग के लिये आभार। वेद-विज्ञान के लब्ध प्रतिष्ठत एवं ख्यातनाम विद्वान डॉ. दयानंद भार्गव ने अपने व्यस्त क्षणों में भूमिका लिखकर ग्रन्थ की गरिमा बढ़ाई है। प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री ने प्रस्तुत विषय पर प्रस्तावना लिखी।

अहिंसा एवं शान्ति विभाग में सहायक प्रोफेसर के रूप में कार्यरत समणी डॉ. सत्य प्रज्ञाजी के श्रम और कौशल ने संशोधन, सम्पादन आदि कार्यों को अपना कार्य मानकर निष्पन्न किया। समणी अमितप्रज्ञाजी का भी यथेष्ट सहयोग इसमें रहा।

मेरी सृजन यात्रा में जिन्होंने अनुग्रह आशीर्वाद बरसाया है, उनके प्रति मेरे मन में कृतज्ञता के भाव है। सहृदय जनों के असीम उपकार को आभार जैसे छोटे शब्द से सीमित नहीं करना चाहती। उनके स्नेहिल सहयोगपूर्ण क्षणों को भीतर ही संचित रखकर आनन्द मिलेगा।

उन सभी महापुरूषों, विचारकों, लेखकों, गुरूजनों, मनीषियों, विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापन करती हूं जिनकी साहित्य-निधि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मेरा मार्ग-दर्शन कर सकी।

शोध-प्रबंध की प्रस्तुति को नया परिवेश प्रदान करने में अनेक ग्रंथों, निबंधों, परिपत्रों का यथावश्यक उपयोग किया गया है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जो भी इस कार्य में सहयोगी बनें, सबके प्रति सादर आभारी हूं। संसार पक्षीय मातुश्री सुन्दरदेवी जीरावला (धर्मपत्नी स्वर्गीय सेठ सुखराजजी जीरावला) की प्रेरणा से भाई सोहनलाल पारसमल जीरावला ने प्रकाशन में उत्साह दिखाया। सबके प्रति शुभ भावना।

साध्वी गवेषणाश्री

संपादकीय

जिज्ञासा सत्यशोध का द्वार है। शोध के दो आयाम हैं– सूक्ष्म से स्थूल की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर। दृश्य जगत् स्थूल हैं। जीव और जीवन के विविध रूपों को यह हमारे सामने प्रस्तुत करता है। विज्ञान और अध्यात्म दोनों का ही लक्ष्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमन करना है। सूक्ष्म की दिशा में कार्य के साथ कारण की शोध की जाती है। जैन वाङ्मय का महत्वपूर्ण सूक्त है, 'अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे।' धीर पुरुष अग्र को भी जानें, मूल को भी जानें, बाहर को भी जानें, भीतर को भी जानें, कार्य को भी जानें, कारण को भी जानें। स्थूल जगत में होने वाले विविध क्रिया-कलापों का संचालक कौन है? इस प्रश्न पर साध्वीश्री गवेषणाजी के किए गए विमर्श का परिणाम ही 'अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या : क्रिया' के रूप में प्रस्तुत कृति है।

सांसारिक प्राणी का अस्तित्व विशुद्ध आत्मरूप नहीं है, आत्मा और कर्म का मिश्रित रूप है। आत्मा के सूक्ष्म स्पंदन सतत जारी है। चेतना के ये सूक्ष्म स्पंदन ही व्यक्त रूप में क्रिया हैं। सूक्ष्म - परिस्पंदनात्मक क्रिया का जगत् द्विआयामी है - पुद्गल का पुद्गल के साथ सम्बन्ध और जीव का पुद्गल के साथ सम्बन्ध। पुद्गल का पुद्गल के साथ होने वाला सम्बन्ध यहां विवेच्य नहीं। जीव का पुद्गल के साथ हो रहा सम्बन्ध भीतर को भी प्रभावित करता है, बाहर को भी प्रभावित करता है। 'मैं अकेला रहूंगा,' यह एक दार्शनिक भ्रांति तो हो सकती है, व्यावहारिक सच्चाई नहीं। सहजीवन व्यावहारिक सच्चाई है। अहिंसा सहजीवन का आधार है। इस आधार को प्राणवान बनाने के लिए इसकी सूक्ष्म व्याख्या भी अपेक्षित है। आचार के आधारभूत चार वाद हैं- आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा है। अपने समान ही अन्य जीवों का अस्तित्व है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं, यहीं से आचार का विमर्श उद्भूत होता है। जीव का प्रतिपक्षी है–अजीव। जीव का अस्तित्व अजीव के बिना सिद्ध नहीं होता।

इसीलिए आत्मवाद की भांति लोकवाद भी आचार का आधारभूत तत्त्व हैं। कर्मवाद का आधार हैं– बंध। बंध का हेतु है– क्रिया। क्रियावाद इसी अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या का एक स्तम्भ है।

आगमिक प्रतिपादन है – जीव को जानने के लिए अजीव को जानना अपेक्षित है। इसी शैली में कह सकते हैं अहिंसा को जानने के लिए हिंसा को जानना जरूरी है। आधुनिक शांतिवादी विचारक कहते हैं - कोई भी युद्ध रणभूमि से पहले मस्तिष्क में लड़ा जाता है। यदि मनुष्य अपने कमरे में शांति से जीना सीख ले तो वह विश्व में भी शांति से रह सकता है, विश्व शांति सहज स्थापित हो सकती है। भगवान महावीर इस सचाई को शब्द देते हैं - बाहर में घटित होने वाली हिंसा तो बहुत बाद की बात है, भीतर में हिंसा की लम्बी यात्रा इससे पूर्व हो चुकी होती है। शस्त्र के दस प्रकारों में भाव शस्त्र अर्थात् असंयम प्रधान शस्त्र है। दुष्प्रयुक्त मन-वचन-काया और अविरति भाव– ये शस्त्र हैं।

क्रिया के पांच प्रकार हैं - कायिकी, आधिकारणिकी, प्रादोषिकी, परितापनिकी, प्राणातिपातक्रिया। काया– शरीर क्रिया की आधारभूमि है। आन्तरिक और बाह्य साधन अधिकरण है। राग द्वेष, ईर्ष्या आदि कषाय से आवेशित चित्त दोष रूप अग्नि में घी का कार्य करने वाला है, प्रदोषक हैं। दुःखोत्पत्ति का तंत्र परितापना, ताड़ना आदि हैं। कष्ट पहुंचाने से प्राणवियोजन, प्राण अतिपात तक की क्रिया प्राणातिपातक है। जैसे कुंभकार घट का निर्माण करते हुए पृथ्वी काय के जीवों की हिंसा करता है, तब भी वह पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रसकाय के जीवों की हिंसा करता है। व्याख्या का दूसरा प्रकार यह भी है - जो एक जीव की हिंसा करता है, वह वास्तव में सभी जीवों की हिंसा करता है क्योंकि वह अविरत है। जिसके जीव हिंसा की विरति नहीं है, वह जिस किसी जीव-निकाय की हिंसा में प्रवृत्त हो सकता है। इस चिन्तन की पृष्ठभूमि में अहिंसा और मैत्री का दर्शन छिपा हुआ है।

साधक के लिए सब जीवों की हिंसा निषिद्ध है। यह सर्व निषेध अहिंसा के चित्त का निर्माण करता है। एक जीव- निकाय की हिंसा विहित और अन्य जीव निकायों की हिंसा निषिद्ध हो तो अहिंसक चित्त का निर्माण नहीं हो सकता। जो व्यक्ति एक जीव निकाय की हिंसा करता है, उसके चित्त में व्यापक मैत्री का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जिस साधक के चित्त में किसी एक जीव निकाय की हिंसा की भावना अव्यक्त रहती है, वह अहिंसा के पथ पर सर्वात्मना प्रस्थान नहीं कर पाता।

मूल दोष दो हैं – राग और द्वेष। हिंसा, परिग्रह इत्यादि दोष उनके पर्याय हैं। राग-द्वेष से प्रेरित होकर जो परिग्रह का स्पर्श करता है, वह हिंसा आदि का भी स्पर्श करता है। हिंसा की चिकित्सा अहिंसक चित्त निर्माण से ही संभव है। संयम और अप्रमाद की पृष्ठभूमि से उभरा आत्मतुला का भाव सबको कल्याण की दिशा में गति दे सकता है। साध्वी नगीनाश्रीजी की सहवर्तिनी साध्वी गवेषणाश्रीजी ने क्रिया के विविध आयामों का अनावरण इस शोध कार्य के माध्यम से किया है। अहिंसा व मैत्री के प्रति निष्ठा जागृत करने में यह निमित्त बने- मंगल कामना।

गौतम ज्ञानशाला
27 नवम्बर, 2008

डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सहायक प्रोफेसर, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राजस्थान)

विषयानुक्रम

आशीर्वचन I

दो शब्द III

भूमिका V

पुरोवाक् VII

अपनी ओर से XXIX

सम्पादकीय XLIII

प्रथम अध्याय: क्रिया की दार्शनिक पृष्ठभूमि 1–28

- ✧ समवसरण बनाम दार्शनिक विचारधाराएं
- ✧ क्रियावाद
  - (i) परिचय एवं स्वरूप
  - (ii) क्रियावादी दार्शनिक
- ✧ अक्रियावाद
  - (i) परिचय एवं स्वरूप
  - (ii) अक्रियावादी दार्शनिक
- ✧ अज्ञानवाद
  - (i) परिचय एवं स्वरूप
  - (ii) अज्ञानवाद का आधार
  - (iii) अज्ञानवाद के फलित
  - (iv) अज्ञानवादी दार्शनिक
- ✧ विनयवाद
  - (i) परिचय एवं स्वरूप
  - (ii) विनयवादी दार्शनिक

✧ अन्य दार्शनिक परम्पराएं
(i) नियतिवाद
(ii) उच्छेदवाद
(iii) अन्योन्यवाद
(iv) विक्षेपवाद
✧ सारांश

द्वितीय अध्याय: क्रिया के प्रकार और आचारशास्त्रीय स्वरूप 29–122
✧ क्रिया का आचार-मीमांसीय स्वरूप
(i) क्रिया शब्द की व्युत्पत्ति
(ii) क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा
(iii) क्रिया और परिणाम
(iv) क्रिया का नियम
(v) क्रिया : नय दृष्टि
(vi) क्रिया और निक्षेप
✧ क्रिया के प्रकार
(i) प्रथम वर्गीकरण
(ii) द्वितीय वर्गीकरण
(iii) तृतीय वर्गीकरण
(iv) अन्य क्रियाएं
✧ कायिक क्रिया पंचक
(i) कायिकी क्रिया
(ii) आधिकरणिकी क्रिया
(iii) प्राद्वेषिकी क्रिया
(iv) परितापनिकी क्रिया
(v) प्राणातिपातिकी क्रिया
(vi) क्रिया पंचक और चौबीस दंडक
(vii) कायिकी क्रिया पंचक और वेदना समुद्घात
(viii) कायिकी क्रिया पंचक का परस्पर सहभाव

(i) आरम्भिकी क्रिया
(ii) पारिग्रहिकी क्रिया
(iii) माया प्रत्यया क्रिया
(iv) अप्रत्याख्यान क्रिया
(v) सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान
(vi) मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया
(vii) वेदना और क्रिया

✧ तृतीय क्रिया पंचक
(i) दृष्टिका क्रिया
(ii) स्पृष्टिका क्रिया
(iii) प्रत्यायिक क्रिया
(iv) सामान्तोपनिपातिकी क्रिया
(v) स्वहस्तकी क्रिया

✧ चतुर्थ क्रिया पंचक
(i) नैसृष्टिकी क्रिया
(ii) वैदारिणी क्रिया
(iii) आज्ञाव्यापादिकी क्रिया
(iv) अनाभोग प्रत्यया क्रिया
(v) अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया

✧ पंचम क्रिया पंचक
(i) राग (प्रेयस) प्रत्यया
(ii) द्वेष प्रत्ययिकी क्रिया
(iii) प्रायोगिकी क्रिया
(iv) सामुदानिकी क्रिया
(v) ईर्यापथिकी क्रिया

साम्परायिकी क्रिया के प्रकार

अन्य साहित्य में क्रिया-विचार
(i) पुराण में निर्दिष्ट क्रिया
(ii) अन्य क्रियाएं

(iii) सक्रियता-अक्रियता की मीमांसा
(iv) क्रिया और करण
(v) प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन
निष्कर्ष

तृतीय अध्याय: क्रिया और कर्म-सिद्धांत 123–180

✧ क्रिया और अध्यवसाय
✧ क्रिया और लेश्या
(i) योग परिणाम लेश्या
(ii) कर्म वर्गणा निष्पन्न लेश्या
(iii) कर्मनिस्यन्द लेश्या
(iv) लेश्या और अभिजातियों की मीमांसा
(v) लेश्या के रंग और उनके रंगों का मन पर प्रभाव, रंगों का शरीर पर प्रभाव
(vi) लेश्या के प्रकार
(vii) रंगविज्ञान और लेश्या
(viii) लेश्या और तरंग दैर्घ्य
(ix) व्यक्तित्व और लेश्या
(x) लेश्या और आभामंडल
(xi) लेश्या और निक्षेप
(xii) गति और लेश्या
✧ क्रिया और पुण्य
(i) पुण्य-पाप दोनों बंधन
(ii) पुण्य की कामना अविहित
(iii) पुण्य के प्रकार
(iv) पुण्य का हेतु
✧ क्रिया और पाप
(i) पाप की परिभाषा
(ii) कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया
(ii) पाप क्रिया का परिणाम

✧ क्रिया और भाव
(i) भाव की व्युत्पत्ति
(ii) औदयिक भाव
(iii) क्षायोपशमिक भाव
(iv) औपशमिक भाव
(v) क्षायिक भाव
(vi) पारिणामिक भाव
✧ कर्म-बंध-प्रक्रिया और भाव
(i) स्वामित्व और भाव
(ii) काल दृष्टि और भाव
(iii) भाव और संवेग
(iv) भाव, संवेग और स्वास्थ्य
(v) मनोविज्ञान द्वारा सम्मत तथ्य
✧ क्रिया और कर्म
(i) क्रिया बनाम कर्म
(ii) क्रिया और कर्म का सम्बन्ध
(iii) आत्मा और कर्म की पारस्परिक प्रभावकता
(iv) संबंध का हेतु क्रिया
(v) सम्बन्ध कब से ?
(vi) कर्म के प्रकार
(vii) कर्मों की क्रम-व्यवस्था
(viii) घाति-अघाति कर्म
✧ निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय : क्रिया और पुनर्जन्म 181–222
✧ जैन दर्शन में पुनर्जन्म
(i) पुनर्जन्म का स्वरूप
(ii) पुनर्जन्म स्मृति के कारण
(iii) जैनेतर दर्शनों में पुनर्जन्म
(iv) पुनर्जन्म के साधक प्रमाण

✧ क्रिया और कर्मफल विचार
(i) कर्म-फल का आधार; प्राकृतिक नियम
(ii) कर्म विपाक
(iii) जैन दृष्टि में कर्म-फल नियतता अनियतता
(iv) अन्य दर्शनों में कर्म-फल की नियतता-अनियतता
(v) कर्म फल की समय - सीमा
✧ गति - आगति
(i) आयुष्य बंध के कारण
(ii) दो आयुष्य बंध का विमर्श
(iii) आयुष्य बंध का विधान
(iv) आयुष्य बंध-मतान्तर
(v) आयुष्य कर्म के नौ परिणाम
(vi) कालांश के प्रकार
(vii) स्वत: उदय में आनेवाले कर्म के हेतु
(viii) निमित्त से उदय में आनेवाले कर्म के हेतु
(ix) बंध के प्रकार
(x) कर्म फल संविभाग
(xi) कर्म की दस अवस्थाएं
(xii) मनोविज्ञान और मूल प्रवृत्तियां

पंचम अध्याय: क्रिया और अन्तक्रिया 223–276
✧ क्रिया और योग
(i) क्रिया और योग का संबंध
(ii) योग के प्रकार
(iii) योग और कर्मबंध
(iv) योगाश्रव जीव या अजीव
✧ क्रिया और आश्रव
(i) आश्रव का अर्थ
(ii) आश्रव की व्युत्पत्ति
(iii) आश्रव के प्रकार
(iv) आश्रव का हेतु

✧ क्रिया और संवर
(i) संवर का अर्थ
(ii) संवर के प्रकार
(iii) गुणस्थान और संवर
(iv) योग निरोध और निष्पत्ति
✧ क्रिया और निर्जरा
(i) निर्जरा की परिभाषा और स्वरूप
(ii) निर्जरा के प्रकार
(iii) निर्जरा का प्रयोजन
(iv) निर्जरा और निर्जरा की क्रिया
✧ क्रिया और अन्तक्रिया
(i) अक्रिया बनाम मोक्ष
(ii) क्रिया और गुणस्थान
(iii) अक्रिया का विकास और निष्पत्ति
(iv) अन्तक्रिया की विविध अवस्थाएं
(v) अनन्तर और परम्पर अन्तक्रिया
(vi) अन्तक्रिया का उपाय
(vii) अन्तक्रिया के प्रकार
(viii) श्रमण की अन्तक्रिया
(viii) केवली की अन्तक्रिया
(ix) अन्तक्रिया का क्रम
(x) मुक्तजीवों में गति क्रिया

षष्ठम अध्याय : क्रिया और परिणमन का सिद्धांत 277–310
✧ परिणमन का अर्थ एवं स्वरूप
(i) परिणमन की अनिवार्यता
(ii) परिणमन का आधार
(iii) परिणमन की सीमा
(iv) परिणमन का तारतम्य

✧ परिणमन के प्रकार
(i) जीव परिणमन
(ii) अजीव परिणमन
(iii) स्वाभाविक परिणमन
(iv) वैभाविक परिणमन
(v) सांयोगिक परिणमन
(vi) एकान्तिक परिणमन
(vii) वैस्रसिक परिणमन
(viii) प्रायोगिक परिणमन
(ix) मिश्र परिणमन
✧ परिणमन और काल
✧ परिणमन और सौरमण्डल
✧ निष्कर्ष

सप्तम अध्याय : क्रिया और शरीर विज्ञान 311–360
✧ जैन दर्शन में शरीर की अवधारणा
(i) शरीर की परिभाषा
(ii) औदारिक
(iii) वैक्रिय
(iv) आहारक
(v) आहारक शरीर निर्माण का प्रयोजन
(vi) तैजस और कार्मण शरीर
(vii) सहावस्थान और क्रम-व्यवस्था
(viii) सूक्ष्म शरीर और आधुनिक विज्ञान
✧ जैन दर्शन में शरीर-रचना
(i) संहनन
व्रज-ऋषभ-नाराच
ऋषभ-नाराच
नाराच

अर्ध नाराच
कीलिका
सेवार्त

(ii) संस्थान
समचतुरस्र
न्यग्रोध परिमंडल
सादि
कुब्ज
वामन
हुण्डक

(iii) जैनागमों में गर्भ-विज्ञान

✧ जैनेतर दर्शनों में शरीर की अवधारणा
(i) सांख्य दर्शन
(ii) वेदान्त दर्शन

✧ मनोविज्ञान में शरीर-रचना

✧ विज्ञान में शरीर-रचना और उसके कार्य

(i) विभिन्न तंत्र और उनकी क्रियाएं
अस्थितंत्र
स्नायुतंत्र
त्वचा तंत्र
तंत्रिका तंत्र
रक्तपरिसंचरण तंत्र
श्वसनतंत्र
पाचनतंत्र
उत्सर्जन तंत्र

(ii) ग्रन्थितंत्र और उसकी क्रियाएं
(i) पीनियल ग्रंथि
(ii) पिच्युटरी ग्रंथि
(iii) थाइराईड ग्रंथि

(iv) पेराथाइराईड ग्रंथि
(v) थायमस ग्रंथि
(vi) एड्रीनल ग्रंथि
(vii) गोनाड्स
(viii) अन्त:स्रावी ग्रंथियों की सक्रियता-निष्क्रियता का प्रभाव
(iii) नाड़ी तंत्र और उसके कार्य
✧ संवेगात्मक व्यवहार
✧ मनोविज्ञान में शरीर-रचना और उसका प्रभाव

अष्टम अध्याय: क्रिया और मनोविज्ञान 361–396
✧ जैन दर्शन में मन और उसके कार्य
(i) मन की परिभाषा
(ii) मन का स्वरूप
(iii) मन का अस्तित्व
(iv) मन का स्थान
(v) मन का कारण और परिमाण
(i) परमाणु रूप
(ii) अणु रूप
(ii) मध्यम परिमाण
(vii) मन का स्वरूप और भौतिकवाद
(vii) मन के प्रकार
✧ मन के कार्य
✧ मन और बुद्धि
(i) औत्पत्तिकी बुद्धि
(ii) वैनयिकी बुद्धि
(iii) कार्मिकी बुद्धि
(iv) परिणामिकी बुद्धि
✧ मानसिक विकास और उसकी भूमिकाएं
(i) मूढ़

(ii) विक्षिप्त
(iii) यातायात
(iv) श्लिष्ट
(v) सुलीन
(vi) निरुद्ध

✧ मनोविज्ञान में मन और उसके कार्य
✧ मन के स्तर
(i) चेतन मन
(ii) अवचेतन मन
(iii) अचेतन मन
(iv) वैयक्तिक अचेतन मन
✧ मूल प्रवृत्तियां और संवेग
✧ मन और संज्ञा
(i) संज्ञाओं के प्रकार
(ii) ओघ संज्ञा
(iii) लोक संज्ञा
✧ संवेग का स्वरूप
(i) आवेग, संवेग के विभिन्न प्रकार
(ii) संवेग और मनोदशा का अन्तर
(iii) मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

उपसंहार 397–405

संदर्भग्रंथ सूची 406–421

प्रथम अध्याय
क्रिया की दार्शनिक पृष्ठभूमि

अन्वेषण का तात्पर्य है नये तथ्यों की शोध। मनुष्य सदा से ही अपने बारे में और जगत के सम्बन्ध में जानने का यत्न करता रहा है। वह सोचता रहा है कि संसार नित्य है या अनित्य ? चित्त और अचित्त सत्ता का स्वरूप क्या है ? उन सत्ताओं का पारस्परिक संबंध कैसे हुआ ? आत्मा क्या है ? उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं ? इस प्रकार की जिज्ञासाओं का फलित है– दार्शनिक चिंतन का विकास। दर्शन का अर्थ है–''दृश्यते निर्णीयते वस्तु तत्वमनेनेति दर्शनम्'' जिसके द्वारा वस्तुसत्य का निर्णय किया जाता है वह दर्शन है।

ई.पू.छठी शताब्दि में मानव की जिज्ञासा काफी प्रौढ़ हो चुकी थी। विश्व की मूल सत्ता, सृष्टि के कर्तृत्व की समस्या, आत्मा की अमरता, शुभाशुभ कर्मों का विपाक आदि प्रश्नों पर अनेक दार्शनिकों ने गहन चिन्तन किया, मनन तथा निदिध्यासन के आधार पर अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये। मन्तव्यों में विरोध होने से दार्शनिक विवादों का भी जन्म तथा एक विषय में अनेक विचारधाराओं का विकास भी हुआ। फलतः आत्मतत्त्व और विश्व के संदर्भ में चार अवधारणाएं प्रमुख रूप से प्रस्तुत हुई–

1. आत्मा एवं लोक नित्य है।
2. आत्मा एवं लोक अनित्य है।
3. आत्मा और विश्व न नित्य है, न अनित्य है।
4. वे अंशत : नित्य है और अंशत : अनित्य है।

भगवान महावीर के युग में 363 मत प्रचलित थे। सूत्रकृतांग तथा उसकी निर्युक्ति में उनका उल्लेख किया गया है किन्तु मतवादों तथा उनके आचार्यों का नामोल्लेख वहां नहीं है। केवल उनके सिद्धांतों का प्रतिपादन और अस्वीकार है।

दीर्घनिकाय ग्रन्थ के सामञ्जफल सूत्र में 62 मतवादों का उल्लेख है। भगवान बुद्ध ने उन्हें मिथ्यादृष्टि से अभिहित किया है।[1] उपनिषदों में यत्र-तत्र विभिन्न मतभेदों की चर्चा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद यदृच्छावाद आदि का नाम निर्देश है।[2] मैत्रायणी उपनिषद् में कालवादी की मान्यता का भी निरूपण है।[3] ब्रह्मजाल सुत्त में 62 सिद्धांत निम्नानुसार हैं–

1. नित्यवाद	2. नित्यता-अनित्यतावाद
3. सान्त - अनन्तवाद	4. अमरा - विक्षेपवाद
5. अकारणवाद	6. मरणान्तर होशवाला आत्मा
7. मरणान्तर बेहोश आत्मा	8. मरणान्तर न होश, न बेहोश
9. आत्मा का उच्छेद	10. इसी जन्म में निर्वाण

1. नित्यवाद– भिक्षुओं ! कितने ही श्रमण और ब्राह्मण नित्यवादी 4 कारणों से आत्मा और लोक दोनों का नित्य मानते हैं।

2. नित्यता-अनित्यतावाद– भिक्षुओं ! चार कारणों से ये आत्मा और लोक की अंशत : नित्य और अंशत : अनित्य मानते हैं।

3. सान्त-अनन्तवाद– भिक्षुओं ! कितने श्रमण व ब्राह्मण चार कारणों से लोक को सान्त और अनन्त मानते हैं।

4. अमरा-विक्षेपवाद– भिक्षुओं ! कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा या बुरा। अतः यह असत्य भाषण के भय और घृणा से न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कहता कि बुरा है ऐसा वह चार कारणों से करता है।

5. अकारणवाद– ये दो कारणों से आत्म और लोक को अकारण उत्पन्न मानते हैं।

6. मरणान्तर होशवाला आत्मा– भिक्षुओं ! कितने श्रमण और ब्राह्मण मरने के बाद।

7. मरणान्तर बेहोश आत्मा– भिक्षुओं ! कितने श्रमण-ब्राह्मण आठ कारणों से मरने के बाद आत्मा असंज्ञी रहता है, ऐसा मानते हैं।

8. मरणान्तर न होश, न बेहोश– भिक्षुओं ! कितने श्रमण ब्राह्मण आठ कारणों से मरने के बाद आत्मा न संज्ञी रहता न असंज्ञी ऐसा मानते हैं।

9. आत्मा का उच्छेद– कितने श्रमण व ब्राह्मण सात कारणों से आत्मा का उच्छेद-विनाश मानते हैं।

10. इसी जन्म में निर्वाण– भिक्षुओं ! कितने ब्राह्मण पांच कारणों से ऐसा मानते हैं कि प्राणी का इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है।

इन दस मूल बातों के क्रम से 4+4+4+4+2+16+8+8+7+5= 62 कारणों से 62 मत होते हैं।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में ये विचारधाराएं तत्कालीन मतवादों के रूप में संकलित है। किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में उनकी परम्परागत संख्या उपलब्ध है किन्तु उनका परिचय नहीं मिलता है। प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने उन मतवादों को गणित की प्रक्रिया से समझाया हैं।[4] किन्तु यह प्रक्रिया भी मूल स्पर्शी नहीं लगती है। विभिन्न विचारधाराओं के मौलिक स्वरूप विच्छिन्न होने के बाद उन्हें गणित के माध्यम से संख्यापूर्ति करके समझाने का प्रयास किया गया है। इस वर्गीकरण से दार्शनिक अवधारणा का सम्यक् बोध नहीं हो सकता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के साहित्य में प्रकार भेद के साथ यही प्रक्रिया मिलती है। उसके लिये आचारांग वृत्ति[5], स्थानांग वृत्ति[6], प्रवचनसारोद्धार[7] और गोम्मटसार[8] द्रष्टव्य है।

समवसरण बनाम दार्शनिक विचारधाराएं

जैन आगम साहित्य में चार समवसरण का उल्लेख मिलता है।[9] 363 मतों का समावेश उन चार समवसरण में है। सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कंध के 12वें अध्ययन का नाम ही समवसरण है।[10] उसका प्रारंभ इन चार समवसरणों के उल्लेख से हैं।

चत्तारि समोसरणा पण्णत्ता-किरियावादी-
अकिरियावादी अण्णाणियावादी -वेणइयावादी।।

सूत्रकृतांग[11] के साथ-साथ, स्थानांग[12], भगवती[13], कषायपाहुड[14], हरिभद्रीयटीकापत्र[15], उत्तराध्ययन नेमीचंद्रीय टीका[16], सूत्रकृतांग निर्युक्ति[17]और प्रवचन-सारोद्धार के उत्तरभाग[18] में भी उपर्युक्त चार समवसरण की चर्चा है। 'समवसरण' शब्द अनेक वादों के संगम का नाम है। सम् + अव पूर्वक सृ - गतौ धातु से ल्यूट् प्रत्यय होकर समवसरण शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है– वाद - संगम। जहां अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं। सूत्रकृतांग- चूर्णि में समवसरण की व्याख्या करते हुए लिखा है–

'समवसरन्ति जेसु दरिसणाणि दिट्ठिओ वा ताणि समोसरणाणि।' इस

प्रकार विभिन्न वादों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है– 1. क्रियावाद 2. अक्रियावाद 3. अज्ञानवाद 4. विनयवाद।

समवसरण में इन चारों का समाहार हो जाता है। निर्युक्तिकार ने अस्ति-नास्ति के आधार पर क्रियावाद-अक्रियावाद तथा अज्ञान और विनय के आधार पर अज्ञानवाद एवं विनयवाद की व्याख्या है। मूल आगम में उनके भेदों का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में उन चार वादों के 363 भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है।[19] उनके अर्थ की भी स्वतंत्र विषयगत विशिष्टताएं हैं। दार्शनिकों ने इस वर्गीकरण में अनेक मुख्य तथा गौण सम्प्रदाय को परिगणित किया है जिनकी उत्पत्ति थोड़े - बहुत मतभेद को लेकर हुई थी। वीरसेनाचार्य ने लिखा है कि जय धवला में दृष्टिवाद के 'सूत्र' नामक दूसरे खण्ड में नास्तिवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञान - ज्ञानवाद और वैनियिकवाद का वर्णन है।[20] किन्तु समवाय तथा नंदी में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त नहीं है। नंदी की चूर्णि तथा वृत्ति में भी उसका कोई संकेत नहीं है। फिर भी दृष्टिवाद नाम से ही प्रमाणित होता है कि उसमें समस्त दृष्टियों का निरूपण है। चार समवसरण या प्रमुख वादों का निरूपण निम्नानुसार हैं–

क्रियावाद

स्वरूप एवं परिचय

जो आत्मवाद, लोकवाद एवं कर्मवाद को जानता है या नौ तत्त्वों को सर्वकर्म - विमुक्ति रूप मोक्ष के संदर्भ में स्वीकार करता है, वही वस्तुत: क्रियावाद का ज्ञाता एवं उपदेष्टा है। भगवान महावीर से पूछा गया– भंते ! क्रियावादी कौन है ? उत्तर मिला– जो आस्तिकवादी, आस्तिकप्रज्ञ, आस्तिकदृष्टि है, वह क्रियावादी है।[21]

सूत्रकृतांग में कहा- जो आत्मा, लोक, जन्म, मरण, च्यवन, उपपात को जानता है। अधोलोक स्थित प्राणियों के विवर्तन को जानता है। आश्रव, संवर, दु:ख, निर्जरा को जानता है वह क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है।[22] क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या दशाश्रुतस्कंध में प्राप्त है। उसके आधार पर क्रियावाद के चार फलित हैं''[23]

1. अस्तित्ववाद - आत्मा एवं लोक के अस्तित्व की स्वीकृति।
2. सम्यग्वाद - नित्य - अनित्य दोनों अर्थों की स्वीकृति।
3. पुनर्जन्मवाद - पुनर्जन्म की स्वीकृति
4. आत्म - कर्तृत्ववाद - पुरूषार्थवाद की स्वीकृति।

क्रियावाद में उन सभी मतवादों का समावेश किया गया है जो आत्मा, लोक, गति, आगति, शाश्वत-अशाश्वत, उपपात-च्यवन, जन्म-मरण, आश्रव-निर्जरा, संवर आदि तथा आत्म-कर्तृत्ववाद में विश्वास करते थे। क्रियावाद का तात्पर्य आत्मवाद, कर्मवाद आदि सभी सिद्धांतों की समन्विति से है। तत्त्वार्थ-वार्तिक, षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रंथों में क्रियावाद के कुछ आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है।[24]

निर्युक्तिकार[25] एवं चूर्णिकार दोनों ने क्रियावाद के प्रवादों का उल्लेख किया है। क्रियावादी जीव - अजीव आदि नवतत्त्वों के अस्तित्व को मानते हैं। काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव का स्वत: परत : और नित्य - अनित्य रूप से जीव आदि नौ तत्वों के साथ सम्बन्ध होने से[180] क्रियावाद की विभिन्न शाखाएं बनती हैं।

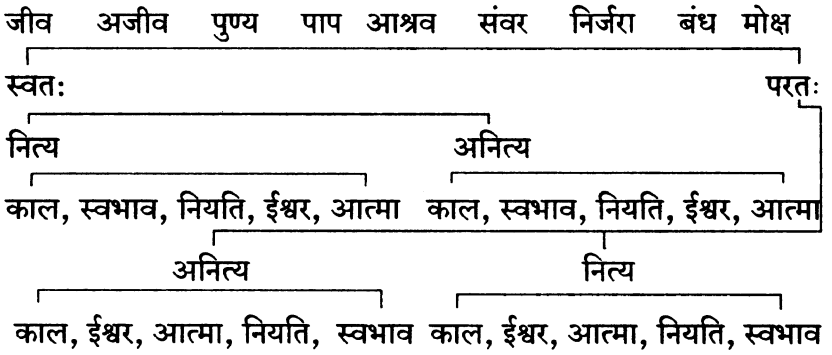

चूर्णिकार ने 180 (9×2×2×5=180) प्रवादों का जो विवरण प्रस्तुत किया, वह भी विकल्प की व्यवस्था जैसा ही लगता है। इससे भी धर्म - प्रवादों की विशेष अवगति नहीं मिलती। हर्मन जेकोबी ने वैशेषिकों को क्रियावादी कहा है।[26] किन्तु इस स्वीकृति का कोई हेतु उन्होनें प्रस्तुत नहीं किया। डॉ. जे.सी.सिकदर ने श्रमण-निर्ग्रन्थों एवं न्याय-वैशेषिकों को क्रियावाद के अन्तर्गत लिया है। उस समाहार का हेतु उन्होंनें आत्मा के अस्तित्व और कर्तृत्व की स्वीकृति को माना है।[27] विमर्शनीय यह है कि वैशेषिकों का मन्तव्य क्रियावाद के सर्वथा अनुकूल नहीं है। सूत्रकृतांग चूर्णि में तो उसे स्पष्ट रूप से अक्रियावादी कहा है।[28]

क्रियावादी दार्शनिक

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के प्रथम अध्याय के 20 वें सूत्र के वार्तिक में क्रियावादी आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं–

1. कौल्कल	2. काणेविद्धि	3. कौशिक
4. हरिश्मश्रुमान	5. रोमश	6. हारीत
7. मांछपिक	8. अश्वमुण्ड	9. आश्वलायन

इनमें से कुछ आचार्यों के सम्बन्ध में प्राप्त तथ्य निम्नानुसार हैं–

काणेविद्धि (काण्ठेविद्धि)

पाणिनीकृत व्याकरण में काणेविद्धि के स्थान पर काण्ठेविद्धि नाम आता है।[29] सामवेद में भी इनका उल्लेख है जिससे सूचित होता है कि ये सामवेद के आचार्य थे।[30(क)]

कौशिक

पाणिनी व्याकरण [30(ख)] के महाभाष्य में लिखा है– विश्वामित्र ने तपस्या की मैं अनृषि न रहूं। वे ऋषि हो गए। दूसरी बार तपस्या की मैं अनृषि का पुत्र न रहूं। वे गार्गी ऋषि हो गए। तीसरी बार तप का लक्ष्य था कि मैं अनृषि का पौत्र न रहूं। वे कुशिक ऋषि हो गए। अत: कुशिक का पुत्र होने से कौशिक कहलाये। ऋग्वेद में जिन सात ऋषियों के नामों का उल्लेख है उनमें एक विश्वामित्र भी है। अथर्ववेद में भी विश्वामित्र नाम आता है। कौशिक नामक एक ऋषि अथर्वसूत्रों के व्याख्याकार भी हुए हैं। कौशिक गृहसूत्र और कौशिक स्मृति नामक दो ग्रंथ भी उपलब्ध है। अत: यहां कौशिक से वैदिक ऋषि विश्वामित्र ही प्रतीत होते हैं।

माञ्छपिक

धवल टीका में माञ्छपिक के स्थान पर मांधयिक नाम है।[31] सिद्धसेनगणी की टीका में मांधनिक नाम मिलता है[32] बृहदारण्यक में मन्ध सिद्धांत का निर्देश है।[33] कहा जाता है कि श्वेतकेतु का पिता उद्दालक उसका मूल रचयिता था। श्री भगवद् दत्त ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में उद्दालक को आरुणिकी परम्परा का बताया है।[34]

उसमें तीसरे नम्बर का नाम 'मधुक पैङ्गय' है। यह नाम माञ्धपिक से बहुत मिलता-जुलता है।

हारित

श्री भगवद्दत्तजी ने लिखा है कि हेमाद्रि सिद्धकल्प पर टीका लिखने के लिये हरितसेन का स्मरण किया है।[35] एक हरीत धर्मसूत्र के रचयिता हुए है। वे कृष्ण यजुर्वेदशाखा

के थे। ये दोनों एक ही हैं या भिन्न, नहीं कहा जा सकता। फिर भी अकलंकदेव ने उन्हीं में से एक नाम निर्देश किया जान पड़ता है।

अश्वमुंड

एक उपनिषद् का नाम मुण्डक है। मुण्डक का संबंध अश्वमुंड से हो सकता है।

आश्वलायन

षड् गुरु शिष्य ने ऋक् सर्वाक्रमणी वृत्ति की भूमिका में लिखा है कि शौनक ने ऋग्वेद सम्बन्धी दस ग्रंथ लिखे हैं। उनके शिष्य आश्वलायन ने तीन ग्रंथों का सृजन किया है। वे तीन है– श्रौतसूत्र, ब्रह्मसूत्र और आरण्यक।[36] संभवत: अकलंकदेव ने उनका अनुकरण किया है।

ज्ञान रहित केवल क्रिया से मुक्ति संभव है- यह क्रियावादियों का मूल मन्तव्य है। वस्तुत: एकान्त रूप में क्रिया का अस्तित्व मानने पर समस्त ज्ञानात्मक व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है। दूसरी ओर सम्यग् ज्ञान युक्त क्रिया ही मोक्ष की हेतु है। ज्ञान निरपेक्ष क्रिया अथवा क्रिया निरपेक्ष ज्ञान दोनों अपने आप में अपूर्ण हैं। दोनों के समन्वय से ही अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि संभव है। दशवैकालिक का सूक्त ''पढ़मं णाणं तओ दया'' भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

अक्रियावाद

परिचय एवं स्वरूप

निर्युक्तिकार ने नास्ति के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है।[37] जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उन्हें अक्रियावादी कहा जाता है। बौद्ध इस विचारधारा के संपोषक माने जाते हैं। उनके अभिमत से प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। किसी भी पदार्थ की एक क्षण से अधिक सत्ता नहीं रहती। भूत, भविष्य के साथ वर्तमान का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। क्षणिक वस्तु में क्रिया भी असंभव है। परिणामस्वरूप तज्जनित कर्मबंध भी नहीं होता। यह विचारधारा मुक्ति के लिए चित्त - शुद्धि को आवश्यक मानती हैं– **''अक्रियावादिनो ये ब्रूवते किं क्रियया चिद्धशुद्धिरेव कार्या ते च बौद्धा इति''**।

सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में जहां बौद्धों को क्रियावादी कहा गया है वहीं समवसरण अध्ययन की चूर्णि में बौद्धों को अक्रियावादी माना है।[38] मुनि जंबुविजयजी

ने अपेक्षा भेद के आधार पर दोनों मतों में समन्वय किया है। इसके साथ ही उन्होंनें यह भी माना है कि अंगुत्तर निकाय में बुद्ध को अक्रियावादी कहा गया है ।[39]

अक्रियावाद के फलित है– 1. आत्मा का अस्वीकार, 2.आत्मा कर्तृत्व का अस्वीकार, 3.कर्म का अस्वीकार 4. पुनर्जन्म का अस्वीकार।[40] अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि भी कहा गया है ।[41]

अक्रियावाद के प्रकार

स्थानांग सूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकारों का उल्लेख किया गया है।[42]

1. एकवादी	2. अनेकवादी	3. मितवादी
4. निर्मितवादी	5. सातवादी	6. समुच्छेदवादी
7. नित्यवादी	8. नास्तिपरलोकवादी	

एकवादी व निर्मितवादी के अभिमत का निरूपण सूत्रकृतांग में मिलता है।[43] सातवादी तथा नास्ति परलोकवाद का भी विवरण सूत्रकृतांग में प्राप्त है।[44]

अक्रियावादी दार्शनिक

आठ वादों में छह वाद एकान्तदृष्टि वाले हैं। समुच्छेदवाद और नास्तिपरलोकवाद ये दो अनात्मवादी विचारधाराएं हैं। उपाध्यायशोविजयजी ने धर्म्यंश की दृष्टि से जैसे चार्वाक को नास्तिक अक्रियावादी कहा है, वैसे ही धर्मांश की दृष्टि से सभी एकान्तवादियों को नास्तिक कहा है ।[44ख] इन सभी विचारधाराओं का संकलन करते समय सूत्रकार के सामने कौनसी विशिष्ट दार्शनिक परम्पराएं रही हैं, इसका उत्तर देना कठिन है किन्तु वर्तमान में उन धाराओं की संवाहक दार्शनिक परम्पराएं इस प्रकार हैं– 1. ब्रह्माद्वैतवादी - वेदान्त, 2. विज्ञानाद्वैतवादी - बौद्ध और 3. शब्दाद्वैतवादी -वैयाकरण।

एकवादी

ब्रह्माद्वैतवादी के अनुसार ब्रह्म, विज्ञानद्वैतवादी के अनुसार विज्ञान और शब्दाद्वैतवादी के मत से शब्द ही पारमार्थिक तत्त्व है। इसलिये इन्हें एकवादी के अन्तर्गत लिया है। अनेकान्त की भूमिका पर संग्रह नय की दृष्टि से सभी पदार्थ एक माने गये हैं किन्तु दूसरी ओर व्यवहार नय से अनेक भी हैं।

एकवादी के अभिमत से एक ही आत्मा नाना रूपों में प्रतिभासित होती है जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयों में अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है। संसार में सर्वत्र

आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं। पृथ्वी, जल, तेज आदि में भी एक आत्मतत्त्व व्याप्त है।[45]

अनेकवादी

वैशेषिक अनेकवादी दर्शन हैं क्योंकि इसमें धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी आदि को भिन्न-भिन्न माना गया है।

मितवादी

इस मत के अनुसार जीव अनेक होते हुए भी उनकी संख्या में परिमित हैं। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित अन्ययोगव्यवच्छेदिका में उसका उल्लेख किया गया है।[46] इसके अलावा यह एक औपनिषदिक मत है।

आत्मा को अंगुष्ठ पर्व जितना अथवा श्यामाक तंदुल जितना माना गया है। इसे पौराणिक मत भी माना गया है जो लोक को केवल सात द्वीप-समुद्र मात्र मानता है।

निर्मितवादी

जो सृष्टि को ईश्वर की रचना मानते है वे निर्मितवादी विचारधाराएं हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन इसी प्रकार की विचारधाराए हैं। नैयायिक, वैशेषिक आदि लोक को ईश्वरकृत मानते हैं।[47]

सातवादी

वृत्तिकार के अनुसार सातवादी बौद्धों का अभिमत है।[48] सूत्रकृतांग से भी इसकी पुष्टि होती है।[49] सुख-प्राप्ति यद्यपि चार्वाक का साध्य है फिर भी वृत्तिकार ने उसे सातवादी नहीं माना क्योंकि 'सातं सातेण विज्जति' सुख का उत्पादक कारण सुख ही है यह कार्य - कारण का सिद्धांत चार्वाक को मान्य नहीं हैं। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने भी सातवाद को बौद्धों का सिद्धांत माना है।

समुच्छेदवादी

इस मत के अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। दूसरे क्षण में उसका उच्छेद हो जाता है। इस अर्थ में बौद्ध दर्शन समुच्छेदवादी है।

नित्यवादी

सांख्याभिमत सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक पदार्थ नित्य है।[50] कारण और

कार्यरूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व पहले से विद्यमान है। कोई भी पदार्थ सर्वथा नवीन रूप में न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। केवल उसका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है।

निर्युक्तिकार ने अक्रियावाद के 84 प्रवादों का उल्लेख किया है।[51] अक्रियावाद के अनुसार कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। उत्पत्यन्तर ही उसका विनाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुण्य-पाप की क्रिया किसी तरह संभव नहीं है। इसलिये पुण्य-पाप के अतिरिक्त सात पदार्थ के स्वत: और परत: दो-दो भेद हैं– 7×2 =14 । इनका काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन छह तत्त्वों से गुणन करने पर 14 × 6 = 84 भेद होते हैं।[52]

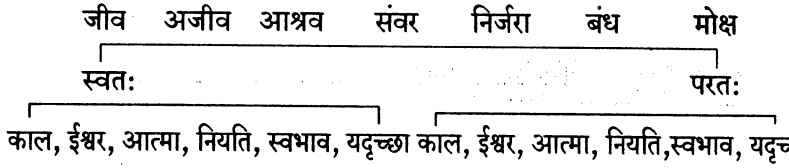

आचार्य अकलंक ने अक्रियावाद के कुछ प्रमुख आचार्यों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है– 1.मरीचिकुमार 2.उलूक 3.कपिल 4.गार्ग्य 5.व्याघ्रभूति 6.वाद्वलि 7. माठर 8. मौद्गल्यायन आदि।[53]

मरीचिकुमार

डॉ. सिकदार ऋषभ के पौत्र को ही उल्लिखित मरीचिकुमार मानते हैं और यह उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि मरीचि के पश्चात् ही कपिल का नाम आता है जो सांख्य दर्शन के संस्थापक माने जाते हैं। जिनसेन ने अपने महापुराण पर्व में भी लिखा है– ऋषभ का पौत्र मरीचि भी उनके साथ प्रव्रजित हुआ था। बाद में भ्रष्ट होकर उसने सांख्यमत का प्रतिपादन किया।[54]

कपिल

सांख्य दर्शन के संस्थापक कपिल ऋषि थे, यह सांख्य कारिका की अन्तिम कारिका से स्पष्ट होता है। श्वेताम्बर उपनिषद् में कपिल को ब्राह्मण का बौद्धिक पुत्र, महाभारत के शांतिपर्व में ब्राह्मण का मानस पुत्र और भागवत् में विष्णु का अवतार माना है।

उलूक

वैशेषिक दर्शन के पुरस्कर्ता कणादऋषि का एक नाम उलुक भी था। संभवत:

इसी आधार पर वैशेषिक दर्शन को औलुक्य दर्शन भी कहते हैं। डॉ. कीथ ने लिखा है [55] सांख्यकारिका के चीनी अनुवाद में सांख्य दर्शन के आचार्यों की तालिका दी है जिसमें पंचशिख के पश्चात् तथा ईश्वरकृष्ण के पूर्व गार्ग और उलुक नाम का उल्लेख हुआ है। अत: सांख्यदर्शन के उलुक ही उल्लिखित उलुक होने चाहिये क्योंकि मरीचि और कपिल भी सांख्यदर्शन के ही पुरस्कर्ताओं में से थे।

गार्ग्य

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषियों की पुरानी तालिका में दो गार्ग्य का नाम मिलता है जिनमें से एक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। सांख्यदर्शन की आचार्य तालिका में भी गार्ग्य का नाम है। आचार्य अकलंक ने अक्रियावादियों में सांख्य दर्शन के पुरस्कर्ता आचार्यों को ही परिगणित किया है। अत: प्रकृत गार्ग्य उन्हीं में से होने चाहिये।

व्याघ्रभूति

सिद्धांत कौमुदी में दो कारिकाएं आई हैं जिनमें व्याघ्रभूति के मत का निर्देश है। कोलब्रुक ने भी लिखा है कि व्याघ्राद की वार्तिकों का उल्लेख अनेक ग्रंथकारों ने किया है। अत: यह व्याघ्रभूति वैयाकरण ज्ञात होते हैं।[56 (क)]

माठर

माठर सांख्य कारिका पर माठरवृत्ति के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। अत: कपिल आदि सांख्य आचार्यों के साथ उनका ही उल्लेख होना संभव है। दृष्टिवाद में उनके मत का निराकरण होना असंभव है क्योंकि उनका काल प्राय: ई.सन् की प्रथम शताब्दी से पूर्व नहीं है। प्राचीन काल में माठर नामक वैदिक ऋषि भी हुए हैं।

मौद्गल्यायन

तैतरीय उपनिषद् में एक मौद्गल्यायन का उल्लेख है। एक मोद्गलायन बुद्धदेव के शिष्य भी थे। इन दोनों में से अकलंक ने अक्रियावादी में किसका नामोल्लेख किया है। यह कहना शक्य नहीं है।

अकलंक ने मरीचिकुमार, कपिल आदि को अक्रियावादी कहा है और सिद्धसेन ने इन्हें क्रियावादी माना है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि क्रियावाद और अक्रियावाद का चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रखकर किया गया है। आत्मा है। वह पुनर्भवजन्मा है। कर्म का कर्त्ता

है। कर्म - फल का भोक्ता है। निर्वाण है। ये मत क्रियावाद के आधार हैं। इनमें से किसी एक को भी अस्वीकार करनेवाला अक्रियावादी कहलाता है।

सांख्य दर्शन में आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है, क्रिया का मूल प्रकृति है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार जगत् का मूल उपादान परमाणु है। जगत् कार्य है, उसका कर्ता ईश्वर है। ईश्वर ही जीवों को कर्मानुसार फल देता है। कर्मफल आत्मा के अधीन नहीं है। इस दृष्टि से चूर्णिकार ने सांख्य और वैशेषिक को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया है। चूर्णिकार ने पंच महाभौतिक, चतुर्भौतिक, स्कंधगात्रिक, शून्यवादी, लोकायतिक को भी अक्रियावादी बतलाया है।[56(ख)]

हमारा अस्तित्व जड़ और चेतन दो तत्त्वों का संयोग है। उनमें से कुछ शरीर को महत्व देते हैं, आत्मा को स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे अनात्मवादी हैं। जबकि आत्मवादी की दृष्टि में आत्मा और शरीर भिन्न है। उन्हें चेतन का जड़ से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व मान्य है।

इसी चिंतन के आधार पर भारतीय चिन्तन दो धाराओं में विभक्त हो गया जो क्रमशः क्रियावाद और अक्रियावाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों विचारधाराएं प्राचीनकाल से ही मानव जीवन के विचार और आचार पक्ष को प्रभावित करती रही हैं। उनसे केवल दार्शनिक चिन्तन ही नहीं वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन भी प्रभावित हुआ। क्रियावादी की जीवन शैली में भी अन्तर आया। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का लक्ष्य निहित रहता है। अक्रियावादी के लिये आत्मशुद्धि का महत्त्व नहीं रहा। अक्रियावादी में प्राचीन प्रतिनिधि चार्वाक दर्शन रहा। आधुनिक युग में उसका प्रतिनिधि साम्यवादी और पूंजीवादी विचारधारा मानी जा सकती।

क्रियावाद-अक्रियावाद समीक्षा

1. क्रियावादी - आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष की स्वीकृति।
   अक्रियावादी - आत्मा आदि की अस्वीकृति।
2. क्रियावादी - धर्मानुष्ठान में विश्वास।
   अक्रियावादी - भौतिक सुखमय जीवन का समर्थन।
3. क्रियावादी - 'देहे दुक्खं महाफलं' का घोष।
   अक्रियावादी - 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्', की धारणा।

4. क्रियावादी - जीवन नश्वर है इसीलिए अप्रमत्तता की साधना का लक्ष्य।
   अक्रियावादी - 'प्राप्त को छोड़ अप्राप्त की आकांक्षा' भूल का चिन्तन।

5. क्रियावादी - शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यंभावी है।
   अक्रियावादी - कर्मों का फल नहीं है।

6. क्रियावादी - अस्तित्व में संदेह मत करो, आत्मा अमूर्त है, नित्य है।
   अक्रियावादी - पंचभूतों से निष्पन्न चेतना उनके साथ ही विलय हो जाती है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा का अस्तित्व नहीं।

अज्ञानवाद

स्वरूप एवं परिचय

अज्ञानवाद का उल्लेख सूत्रकृतांग में मिलता है। अज्ञानवाद का मूल आधार अज्ञान है।[57] अज्ञानवादियों के अभिमत से ज्ञान ही सब समस्याओं का मूल है। ज्ञान की तुलना में श्रेयस्कर अज्ञान है। अज्ञानवादियों का कथन है– अनेक दर्शन हैं। अनेक दार्शनिक हैं। पूर्णज्ञान किसी में संभव नहीं। यदि उन दार्शनिकों का ज्ञान सत्य और पूर्ण होता तो परस्पर विरोधाभास नहीं होता। अत: सत्य-असत्य का निर्णय कर पाना कठिन है। सूत्रकृतांग के टीकाकार श्री शीलांकसूरि ने अज्ञानवाद को तीन अर्थों में प्रस्तुत किया हैं–

(अ) सम्यग् ज्ञान से रहित श्रमण - ब्राह्मण अज्ञानी हैं।[58]

(ब) शून्यवादी बौद्ध।[59]

(स) अज्ञान को श्रेष्ठ मानने वाले।[60]

अज्ञानवादी आत्मा के अस्तित्व में संदेह करते है, उनके अनुसार आत्मा है या नहीं? अगर है तो भी जानने से क्या लाभ ? दूसरे शब्दों में, इनके मत से अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

अज्ञानवाद का आधार– अज्ञानवादियों के मुख्य तीन तर्क है जिनके आधार पर वे अज्ञान को श्रेयस्कर मानते है।

1. मनुष्य अच्छाई - बुराई दोनों को जानता है। जानते हुए भी बुराई को छोड़ नहीं सकता, अच्छाई अपनाने में सक्षम नहीं होता। इस मनोवृत्ति ने निराशा को जन्म दिया। अत : यह चिन्तन उभरा कि उस ज्ञान की क्या उपयोगिता जो बुराई से मुक्त नहीं करता।

2.सत्य वही है जो इन्द्रिय गम्य है। अतीन्द्रिय ज्ञान है तो प्रमाण क्या ? उसका साक्षात् करने वाला कौन ? साक्षातदृष्टा है या नहीं, कैसे विश्वास करें ? इसीलिये अतीन्द्रिय ज्ञान की चर्चा व्यर्थ है। इन्द्रिय गम्य सत्य के द्वारा ही जीवन की सारी समस्याओं का समाधान और दुःख मुक्ति संभव है।

3. कुछ लोगों के अभिमत से प्राप्त को छोड़कर अप्राप्त के लिये प्रयास उचित नहीं है। भूत-भविष्य की उपेक्षा कर केवल वर्तमान की समीक्षा में ही जीवन की सार्थकता है। जीने के लिये इन्द्रिय ज्ञान ही पर्याप्त है।

अज्ञानवाद के फलित

1. ज्ञान-उन्माद, वाद-विवाद, संघर्ष, कलह और अहंकार आदि की प्रसव भूमि है।
2. अज्ञान अपराध से बचने का सरल उपाय है।
3. अज्ञान के कारण मन में रागादि भावों का उद्भव नहीं होता।
4. अल्पज्ञानी सर्वज्ञ की पहचान नहीं कर सकता।
5. संसार में अनेक दर्शन हैं, उनमें स्वयं में परस्पर विरोध होने से सत्य का निर्णय नहीं कर पाते।
6. मुक्ति - प्राप्ति का साधन अज्ञान ही है।

अज्ञानवादी दार्शनिक

अज्ञानवादियों ने ज्ञान के अस्तित्व को नकार कर समस्त वस्तुजगत् का अपलाप किया है। इनका ज्ञान पल्लवग्राही है, आत्मानुभूति जन्य नहीं अज्ञानवादी आचार्यों के नाम निम्नानुसार हैं– 1. शाकल्य 2. वाल्कल 3. कुथुमि 4. सात्यमुग्रि 5. नारायण (राणायन) 6. काठ (कण्व) 7. माध्यंदिन 8. मौद 9. पैप्पलाद 10. बादरायण 11. अबष्ठिकृद् (स्वेष्टकृद्, स्विष्टिकृत) 12. औरिकायन 13. वसु 14. जैमिनी।

1. शाकल्य

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शाकल्य का उल्लेख किया है। महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य का ऋषियों के साथ जो महान संवाद हुआ, उसका वर्णन शतपथ काण्ड में है।[61] उन ऋषियों में एक विदग्ध शाकल्य का नाम हैं, जो ऋग्वेद के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका पूरा नाम 'देवमित्र शाकल्य' था।[62]

2. वाष्कल

कहीं वाल्कल या वल्कल नाम भी मिलता है जो अशुद्ध प्रतीत होता है। सिद्धसेनगणी की तत्त्वार्थ टीका में वाष्कल नाम ही मिलता है।[63]यही नाम शुद्ध लगता है। वाष्कल ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण चरण था। शाकलों और वाष्कलों का साथ-साथ उल्लेख भी देखा जाता है। 'चरण' एक प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमें वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था। उनमें एक शिष्य ने पाराशर्य शाखा का आरंभ किया। पाराशर्य लोगों की कोई स्वतंत्र शाखा या छंद ग्रंथ नहीं था इसलिये वे वाष्कल शाखा पर निर्भर थे। संभवत: अकलंक ने वाष्कल चरण के संस्थापक ऋषि का ही नाम अज्ञानवादियों में परिगणित किया है।[64]

3. कुथुमि

सामवेद की एक शाखा का नाम कुथुमि है। वायु पुराण में द्वैपायन से पूर्व के प्रत्येक द्वापर के अंत में होने वाले 27 व्यासों के नाम अंकित है।[65] उनमें 19 वां व्यास भारद्वाज था। हिरण्यनाभ, कौसल्य, लोगाक्षि और कुथुमि भारद्वाज के समकालीन थे। लगता है, सामवेदाचार्य कुथुमि का ही निर्देश अज्ञानवादियों में किया है।[66]

4. सात्यमुग्रि

पाणिनि ने सामवेद के अन्य चरणों में शौचिवृक्षि और सात्यमुग्रि भी नाम दिये हैं। सामवेद की राणायनीय चरण की एक शाखा का नाम सत्यमुग्रि था। सत्यमुग्रि शाखावाले सन्ध्यक्षरों को ह्रस्व पढ़ते थे। अज्ञानवादियों की गणना में उनका ही नाम होना चाहिये।[67]

5. नारायण

नारायण के स्थान पर राणायन पाठ अधिक संगत लगता है, क्योंकि सिद्धसेनगणी की टीका में राणायन पाठ मुद्रित है। यह बुद्धि-दोष या लेखकों के प्रमाद के कारण राणायन का नारायन हो गया लगता है।

6. काठ

महाभारत में राजा उपरिचर वसु के यज्ञ का वर्णन है।[68] वहां सोलह ऋत्विजों में एक नाम कठ का भी है। उसे ही आद्य कठ कहा गया है। अज्ञानवादी में उनका नाम ही हो सकता है।

7. माध्यन्दिन

शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा माध्यन्दिन है। संहिता के हस्तलिखित ग्रंथों में इस

शाखा को बहुधा यजुर्वेद या कासनेय संहिता ही कहा गया है। इसके संस्थापक माध्यन्दिन का उल्लेख अज्ञानवादियों में मिलता है।

8. मौद और पैप्पलाद

ये दोनों अथर्ववेद के चरण थे।[69] इन दोनों चरणों में ज्ञान सा चर्य था। अथर्ववेद परिशिष्ट में मौद का मत दिया है।[70] स्कंध पुराण के अनुसार पिप्पलाद सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का ही एक सम्बन्धी था। प्रश्नोपनिषद् के प्रारंभ में लिखा है- भगवान पिप्पलाद के पास सुकेशा भारद्वाज आदि छह ऋषि गये थे। पिप्पलाद महाविद्वान और समयज्ञ पुरुष थे।

9. बादरायण

मत्स्य पुराण के अनुसार - वेदव्यास का एक नाम बादरायण भी था।[71] जैमिनी सूत्रों में भी बादरायण का निर्देश है।[72] एक बादरायण स्मृतिकार भी हुए हैं।[73] अज्ञानवादियों के अन्तर्गत अकलंक ने संभवत: सूत्रकार बादरायण का निर्देश किया है।

10. अम्बष्ठिकृद् और औरिकायन

बादरायण के पश्चात् तत्त्वार्थवार्तिक में प्रदत्त दो नामों को लेकर पाठान्तर मिलते हैं। यथा– 'अम्बष्ठिकृदौ विकायनी अम्बष्ठि कृदैलिकायन, अम्बरीश कृदैतिकायन'। सिद्धसेनगणी की तत्त्वार्थ भाष्यानुसार टीका में स्विष्ठिकृद् अनिकात्यायन मुद्रित है।[74] धवला टीका में 'स्वेष्ठकृदैतिकायन' नाम दिये गये है। [75] अंगिराकुल के मंत्रदृष्टाओं में अम्बरीश एक मंत्रदृष्टा हुआ है। अम्बरीश प्राचीन राजा था। महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी उसका नामोल्लेख है।[76]

11. वसु

व्यासमुनि के पास ऋग्वेद पढ़नेवाले शिष्य का नाम पैल था। महाभारत में प्राप्त उल्लेख के अनुसार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय ऋत्विक कर्म के लिये व्यास पैल को साथ लाये थे।[77] पुराण के अनुसार व्यास से ऋग्वेद पढ़कर पैल ने उसकी दो शाखाएं स्थापित की थी। उनके अध्येता थे वाष्कल और इन्दुप्रमति। 'ब्रह्माण्डपुराण' के अनुसार उस इन्दुप्रमति के पुत्र वसु और वसु का पुत्र उपमन्यु था।

12. जैमिनी

जैमिनी नाम के कई विद्वान हो चुके हैं। एक जैमिनी व्यास ऋषि के शिष्य थे।[78] महाभारत सभापर्व से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर के सभाप्रवेश के समय जैमिनी उपस्थित थे।

आदि पर्व में उल्लेख है कि महाराजा जनमेजय के नागयज्ञ में जैमिनी उद्गाता का कार्य करते थे। साम संहिताकारों के लांगल वर्ग में भी एक जैमिनी का नाम आता है। मीमांसा दर्शन के रचयिता भी जैमिनी नाम के ऋषि थे। अज्ञानवादियों में उनका उल्लेख किया गया है या अन्य किसी का, यह निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है।

शास्त्रकारों ने ज्ञान-गर्वोन्नत अज्ञानवादियों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए अज्ञान के दुष्परिणामों को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि जैसे– पिंजरे में आबद्ध पक्षी उसे तोड़कर बाहर निकलने में असमर्थ है। वैसे ही अज्ञानवादी भी अपने मतवाद के घेरे से बाहर निकल नहीं सकते। प्रत्युत संसार के जाल में और अधिक दृढ़ता से बंध जाते हैं।

अज्ञान श्रेयोवादी की तुलना महावीरयुगीन संजयवेलट्ठि से की जा सकती है। बौद्ध वाङ्मय में विवेचित उनके प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है। परलोक के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने पर संजयवेलट्ठि का उत्तर था– आप प्रश्न पूछ रहे हैं। यदि मैं समझूं कि परलोक है और आपको बतलाऊं, परलोक है भी, नहीं भी। वे इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे। निश्चित उत्तर कभी नहीं दिया।[79] वे किसी भी प्रश्न का उत्तर निश्चित भाषा में देना उचित नही मानते थे। निष्कर्ष रूप में तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता ही अज्ञानवाद का आधार है। अज्ञानवादियों की कुल 67 शाखाएं हैं -उनका गणनाक्रम इस प्रकार है–

जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों का सत्-असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद् अवक्तव्य, असद् अवक्तव्य तथा सद्-असद् अवक्तव्य– इन सात भंगों से गुणा करने पर 9×7=63 भेद होते हैं।[80] उनके अतिरिक्त सद्भावोत्पत्ति को कौन जानता है ? उसके जानने से क्या लाभ ? असत् भावोत्पत्ति को कौन जानता है ? उसके जानने से क्या लाभ है ? असद्भावोत्पत्ति को कौन जानता है? और उसके जानने से क्या लाभ है? ये चार भंग और मिलाने से 9×7+4 (उत्पत्ति के) 67 मत होते हैं।

जीव	अजीव	पुण्य	पाप	आश्रव	संवर	निर्जरा	बंध	मोक्ष
सत्व	असत्व	सदसत्व	अवाच्यत्व	सदवाच्यत्व	असदवाच्यत्व	सदसदवाच्यत्व		

विनयवाद

स्वरूप एवं परिचय

विनयवाद का आधार विनय है।[81] विनयवादियों के अभिमत से किसी भी सम्प्रदाय या गृहस्थ की निंदा नहीं करनी चाहिये। सब के प्रति विनम्रता का व्यवहार होना चाहिये।[82] विनय करना विनयवाद का परम लक्ष्य है। विनय किसका किया जाये यह प्रश्न निरर्थक है। गधे से लेकर गाय तक, चण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक, जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प आदि किसी भी जाति का प्राणी क्यों न हो, सबके प्रति विनय होना चाहिए।

चूर्णिकार ने निर्युक्ति गाथा की व्याख्या में दाणामा, पाणामा, आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी बतलाया।[83] भगवती में उनका स्वरूप निम्नोक्त प्रकार से निर्दिष्ट है।

ताम्रलिप्ति नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने पाणामा प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रव्रज्या के पश्चात् तामली जहां कहीं इन्द्र, स्कंध, रुद्र, शिव, वैश्रमण, दुर्गा, चामुण्डा आदि देवियों तथा राजा, ईश्वर, तलवर, मांडलिक, कौटुम्बिक, ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, कौओं, कुत्ता, या चंडाल को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊपर देखता तो ऊपर प्रणाम करता और नीचे देखता तो नीचे प्रणाम करता।[84] इसी प्रकार पूरण गाथापति ने 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की थी। प्रव्रज्या के बाद वह चार पुट वाला लकड़ी का पात्र लेकर 'बेभेल' सन्निवेश नामक गांव में गया वहां जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता, उसे पथिकों को, जो भोजन दूसरे पुट में गिरता, उसे कौओं और कुत्तों को दे देता। तीसरे पुट का मच्छ-कच्छों को और चौथे पुट का भोजन स्वयं खाता था।[85]

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने भी विनय का अर्थ विनम्रता ही किया है जो विमर्शनीय है। प्रस्तुत प्रकरण में विनय का अर्थ आचार अधिक संगत प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में आचार के अर्थ में विनय का काफी प्रयोग हुआ है। ज्ञाता में जैन धर्म को विनयमूलक धर्म कहा है। थावच्चापुत्र ने शुकदेव से कहा-मेरे धर्म का मूल विनय है।[86] बौद्धदर्शन में भी ऐसी दृष्टि का प्रतिपादन है जो आचार पर अधिक बल देती थी। केवल आचार से शील-शुद्धि मानने वाले को वहां 'शीलत्वत परामास' कहा गया है।[87] केवल ज्ञानवादी और केवल आचारवादी, ये दोनों परम्पराएं उस समय विद्यमान थीं। विनम्रता आचार का ही एक अंग है। इसलिये आचार में उसका समावेश हो जाता है किन्तु विनयवाद का केवल विनम्रता अर्थ किया जाये तो आचारवाद को उसमें समाहित नहीं किया जा सकता। ज्ञानवादी के मत में जैसे ज्ञान की प्रधानता है, वैसे ही आचारवादी

आचार पर बल देते हैं। ज्ञानवाद और आचारवाद दोनों एकांगी होने से मिथ्यादृष्टि की श्रेणी में आते हैं।

जीवन एक मुखी नहीं होता, वह अनेक वृत्तियों, विचारों, चिन्तनों एवं क्रियाओं का समवाय होता है। उसे समग्रभाव से समझा जाये यही सम्यग्दृष्टि है।

एकांगीदृष्टि से सत्योपलब्धि नहीं हो सकती। विनय की अपनी उपादेयता है पर उसके साथ उन तत्त्वों को महत्त्व दिया जाना चाहिए जो विनय को सत्योन्मुखी बनाते हैं। विनयवादियों की अपनी कोई विशेष वेशभूषा या शास्त्र नहीं, वे केवल मोक्ष को ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य मानते हैं। विनयवादियों की विचारधारा के बत्तीस प्रकार हैं।

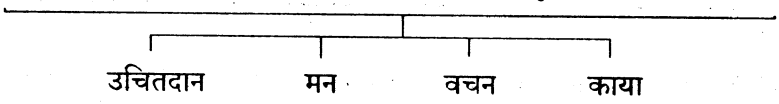

विनयवादी दार्शनिक

इस परम्परा के कुछ आचार्य इस प्रकार हैं– (1) वशिष्ठ (2) पाराशर (3) जनुकर्णि (4) वाल्मिकी (5) रोमर्षि (6) सत्यदत्त (7) व्यास (8) एलापुत्र (9) औपमन्यव (10) ऐन्द्रदत्त (11) अयस्थूण।

1.वशिष्ठ– इतिहास में वशिष्ठनाम के कई व्यक्ति हो चुके हैं। उदाहरणार्थ धर्मसूत्र के रचयिता, योग वशिष्ठ, रामायण के रचयिता और दस महर्षियों में भी एक वशिष्ठ नाम के व्यक्ति रहे हैं। अकलंक ने किस वशिष्ठ को उल्लिखित किया है, निर्णय कर पाना कठिन है। तथापि आगम नामों को देखते हुए वैदिक ऋषि वशिष्ठ का ही ग्रहण संगत लगता है। जिन्होंनें अथर्ववेद के मंत्रों का उद्धार किया था।

2. पाराशर– वशिष्ठ कुल में सात ब्रह्मवादी हुए है। उनमें प्रथम वशिष्ठ थे, दूसरे पाराशर। उसी पाराशर का पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास था। इसलिये उसे पाराशर्य भी कहते थे। वशिष्ठ के पश्चात् पाराशर नाम ही उचित प्रतीत होता है। सिद्धसेनगणी की टीका में पाराशर नाम पाया जाता है।

3. जनुकर्णि– पुराणों के आधार पर वाष्कल ने चार संहिताएं बनाकर अपने चार शिष्यों को पढ़ाई थी। उनमें जातुकर्ण्य भी एक थे। श्रीमद् भागवत के बारहवें स्कंध के वेदशाखा प्रकरण में जातुकर्ण्य को ऋग्वेद का आचार्य माना गया है। वायुपुराण के

प्रथम अध्याय के अनुसार जातुकर्ण्य वशिष्ठ का पुत्र था। उन्हीं से व्यास ने वेदाध्ययन किया था। अत: जातुकर्ण्य पाराशर के भाई हो सकते हैं।

4.वाल्मिकी– रामायण के रचयिता वाल्मिकी ऋषि सर्वविदित हैं।

5.रोमहर्षिणी– पुराण संहिताओं के रचयिता के रूप में रोमहर्षण का नाम मिलता है।

6.सत्यदत्त– सत्यकाम जाबाल, सत्यज्ञ आदि नाम तो मिलते हैं। किन्तु सत्यदत्त नाम की उचित जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है।

7.व्यास– पराशर कृषि के पुत्र महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास विख्यात हैं।

8. ऐलापुत्र या इलापुत्र– प्रजापति कर्दम का पुत्र इल या एल था। वह वाह्लीक देश का राजा था। जब वह स्त्री रूप में परिवर्तित हो गया तब उसका नाम इला या एला बन गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी एक एल नामक राजा का निर्देश मिलता है निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि निर्दिष्ट एलापुत्र वही है या दूसरा।

9. औपमन्यव– एन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि के बारे में कोई विशेष विश्वस्त जानकारी प्राप्त नहीं है। अकलंक ने अलग-अलग वाद में विश्वास रखने वाले लोगों के कतिपय नामों का उल्लेख किया है। उनका आशय क्या था, यह बतलाना संभव नहीं है। फिर भी यह स्पष्ट है कि अकलंक द्वारा निर्दिष्ट उक्त सभी विचारक प्राय:वैदिक हैं। अक्रियावादियों में सांख्यदर्शन के पुरस्कर्ता तथा अज्ञानवादियों में ब्रह्मसूत्रकार बादरायण और पूर्वमीमांसा के प्रवर्तक जैमिनी मुख्य हैं।

बौद्धमत के प्रवर्तकों में किसी आचार्य का उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि इन दार्शनिकों के युग में बौद्धधर्म का प्रभाव भी था। अपने ग्रंथों में उन्होंने धर्मकीर्ति आदि का खण्डन भी किया है। संभव है उनके द्वारा निर्दिष्ट नाम अवश्य ही किसी परम्परागत स्रोत से उन्हें प्राप्त हुए होंगे ।

सिद्धसेनगणी ने अपनी तत्त्वार्थ भाष्य टीका के 8 वें अध्याय के प्रारंभ में उन्हीं नामों की चर्चा की है जिनकी अकलंक ने की। संभव हैं वे नाम उन्होंने भी अकलंकदेव के तत्त्वार्थ वार्तिक से ही लिये हों। दृष्टिवाद में इन मतों का निरूपण या निराकरण था उस संदर्भ में सिद्धसेन ने अपना मत प्रकट नहीं किया, यह केवल अकलंकदेव ने ही किया है।

आचार्य वीरसेन की धवला टीका और आचार्य सिद्धसेन की तत्वार्थ

भाष्यानुसारिणी टीका में भी कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन के साथ नाम मिलते है। लगता है उन्होंनें भी अकलंकदेव की सूचि के आधार पर ही नाम-सूची संकलित की है। श्वेताम्बर साहित्य में भाष्यानुसारिणी टीका के अतिरिक्त और कहीं इन नामों का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर साहित्य में भी अकलंकदेव से पूर्व कोई उल्लेख नहीं मिलता। उन्होंनें कहां से उद्धृत किया, यह प्रमाण पुरस्सर कहना कठिन है।

चार समवसरण एवं 363 मतों का निरूपण उत्तराध्ययन और स्थानांग में भी प्राप्त है।[88] सूत्रकृतांग के अनुसार चारों वाद श्रमण और वैदिक दोनों परम्परा में थे। सूत्र की रचनाशैली के आधार पर 'एगे' शब्द विभिन्न मतवादों का संकेत है। कतिपय शब्द प्रयोग से यह स्पष्ट ज्ञात होता है। गौशालक, संजयवेलट्ठिपुत्त पकुधकात्यायन आदि श्रमण परम्परा के आचार्यों का नामोल्लेख भी है।

महावीर का युग दर्शन-वाङ्मय के विकास का युग था। तत्कालीन दार्शनिक विभिन्न परम्पराओं से जुड़े हुए थे लेकिन परम्परा की प्रतिबद्धता उनके निरपेक्ष चिन्तन के लिये बाधक नहीं थी। ब्राह्मण परम्परा का प्रतिनिधित्व ब्राह्मणों के हाथ में था। जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा के संवाहक थे। पहली परम्परा में ज्ञान का प्राधान्य था, दूसरी में ज्ञान के साथ क्रिया का भी उतना ही महत्त्व था।

जैन दर्शन उदारवादी दर्शन है, अनेकान्तवादी है। जैन दर्शन में क्रियावाद - आस्तिक्यवाद के अर्थ में और अक्रियावाद नास्तिक्यवाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह सारी चर्चा प्रवृत्ति-निवृत्ति को लिये हुए हैं।

भगवान महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद की स्थापना की। इसका अर्थ उनका एकांगी दृष्टिकोण नहीं था। इसलिये उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की संज्ञा दे सकते है।[89]

भगवान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नहीं, उन्नायक के रूप में जाने जाते है। प्रवर्तक भगवान ऋषभ थे। वैदिक और पौराणिक दोनों साहित्य में श्रमण धर्म के प्रवर्तक ऋषभ का उल्लेख है। उनका धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा है।

भगवान महावीर के अस्तित्व -काल में श्रमणों के प्रसिद्ध चालीस सम्प्रदाय थे उनमें पांच अधिकतम प्रसिद्ध व प्रभावशाली थे।

1. निर्ग्रंथ - भगवान महावीर का शासन
2. शाक्य - तथागत का शासन (बौद्धदर्शन)

3. आजीवक - मंक्खली गौशालक
4. गैरिक - तापस का शासन
5. परिव्राजक - सांख्य शासन

बौद्ध साहित्य में श्रमण-सम्प्रदायों, उनके आचार्यों तथा सिद्धांतों का उल्लेख है।[90]

1. अक्रियावाद - पूरण काश्यप
2. नियतिवाद - मंक्खली गौशालक
3. उच्छेदवाद - अजित केशकम्बली
4. अन्योन्यवाद - पकुधकात्यायन
5. चातुर्याम संवरवाद - निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र
6. विक्षेपवाद - संजयवेलट्ठि पुत्त[91]

अक्रियावाद (पूरणकाश्यप)

यह पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है। पकुधकात्यायन भी अक्रियावादी था। पञ्चमहाभूतवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है।[91(क)] उसका बौद्ध साहित्य में विस्तार है।[92]

पूरणकाश्यप अक्रियावादी आचार्य थे, उसका मन्तव्य था कि किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, डरा या दूसरे को डराया, कष्ट सहा या दिया, हिंसा, डकैति, परस्त्रीगमन, असत्य संभाषण आदि कुछ भी किया उसे पाप नहीं लगता, तीक्ष्ण धार के चक्र से यदि कोई संसार के समस्त प्राणियों को मारकर ढेर लगादे, वह पाप का भागी नहीं बनेगा, उसी तरह कोई गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर दान, यज्ञ, धर्म, संयम, आदि अनुष्ठान करता है तो पुण्य नहीं होगा, अनुभवों से परिपूर्ण मानकर लोग उन्हें पूर्ण कहते और वे ब्राह्मण थे इसलिये काश्यप थे वे नग्न रहते थे। उनके अस्सी हजार अनुयायी थे।[93]

नियतिवाद

इस मत के प्रवर्तक आचार्य मंक्खली गोशालक थे, नियतिवादी क्रियावाद - अक्रियावाद दोनों में विश्वास नहीं रखते। उनके अभिमत से प्राणी के अपवित्र होने में न कोई कारण है न कोई हेतु। बिना हेतु और कारण के ही वे अपवित्र होते है। इसी

तरह शुद्धि में भी कोई कारण, हेतु नहीं है, बल - वीर्य - पुरुषार्थ कुछ नहीं है। नियति से ही शरीरात्मक संघात विविध पर्यायों, विवेक (शरीर के पृथक् भाव) और विधान (विधि - विपाक) को प्राप्त होते है। सबके दुःखों का नाश अस्सी लाख के महाकल्पों के चक्र में गुजर जाने के बाद ही होता है।[94]

उच्छेदवाद

'अजितकेश कम्बली' उच्छेदवादी परम्परा के प्रमुख है। उन्होंनें कहा– दान-यज्ञ -होम कुछ नहीं, भले-बुरे कर्मों का विपाक नहीं। न इहलोक है, न परलोक। चार भूतों के समवाय से मनुष्य बना है, मरने पर पृथ्वी धातु पृथ्वी में, पानी धातु पानी में, तेजो धातु तेज में, वायु धातु वायु में मिल जाता है। इन्द्रिय आकाश में विलीन हो जाती है। शरीर है वहां तक जीव है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता। उनका अभिमत है कि आत्मा अन्य है– यह मान्यता इसलिये सही नहीं कि इस प्रकार देखा नहीं जाता। कोई व्यक्ति म्यान से तलवार, मांस से हड्डी, दही से नवनीत, तिलों से तेल, ईख से रस, अरणि से आग अलग निकाल कर दिखा नहीं सकता है वैसे ही आत्मा शरीर से अलग दिखाई नहीं जाती इसलिये आत्मा का अलग अस्तित्व नहीं है। केशों का कम्बल धारण करने से उन्हें अजित केश कम्बली नाम से अभिहित करते थे।[95]

अन्योन्यवाद

पकुधकात्यायन का कहना था -पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दुःख, और जीव ये सातों पदार्थ न किसी ने किये, न करवाये। वे कूटस्थ तथा खम्भे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं, उन्हें मारने वाला, मार खाने वाला, सुनाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनानेवाला कोई नहीं। जो तेजशस्त्रों से दूसरे से, दूसरे के सिर कटवाता है, वह खून नहीं करता,सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है, इतना ही है।[96]

विक्षेपवाद

उसके प्रवक्ता आचार्य संजयवेलट्ठि पुत्र थे, उनका कहना था परलोक है या नहीं, मैं नहीं समझता। अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलता है या नहीं मिलता है। वह रहता है या नहीं रहता है। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं रहता, मैं नहीं समझता। उसे विक्षेपवाद कहते है। ये आचार्य अपने - आपको तीर्थंकर घोषित करते थे, उनके सहस्रों

अनुयायी थे। उनकी मान्यताओं का विशद रूप सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में देखा जा सकता है और पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी विस्तार से लिखा है।

सारांश

इस प्रकार भगवान महावीर के समय प्रचलित प्रसिद्ध विभिन्न मतों का - क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद इन चार वादों में समाहार किया गया है। टीकाकार ने अस्ति-नास्ति के आधार पर क्रियावाद - अक्रियावाद की व्याख्या की है। अस्तिवाद का क्रियावाद, नास्तिकवाद का अक्रियावाद नामकरण क्यों हुआ ? इस पर किसी टीकाकार ने प्रकाश नहीं डाला। किन्तु इसका संवादी प्रमाण है जो निम्नोक्त–

अत्थि त्ति किरियावादी, वयंति णत्थि त्ति अकिरियवादी य।
अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी।।[97]

क्रिया	-	अक्रिया	लोक	-	अलोक
जीव	-	अजीव	सिद्धि	-	असिद्धि
पुण्य	-	पाप	शाश्वत	-	अशाश्वत
आश्रव	-	संवर	गति	-	आगति
बंध	-	मोक्ष	सुकृत	-	दुष्कृत
वेदना	-	निर्जरा	इहलोक	-	परलोक

इन तथ्यों में सापेक्ष या निरपेक्ष रूप से विश्वास करते है, वे क्रियावादी हैं। इनका अस्तित्व नहीं मानने वाले अक्रियावादी हैं। सम्यग् दृष्टि क्रियावादी होते हैं अत: क्रियाओं के प्रकार एवं स्वरूप हमारे शोध का विवेच्य विषय हैं।

जैन मुनि के लिये एक संकल्प का विधान है जो प्रतिदिन किया जाता है– 'अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि-[98] मैं अक्रिया का परित्याग करता हूं और क्रिया की उपसंपदा स्वीकार करता हूं–

क्रियावाद और अक्रियावाद का सिद्धांत प्राचीन है। ये दो विचारधाराएं मानव के विचार और आचार पक्ष को प्रभावित करती रही है। केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन की नींव भी इन्हीं पर खड़ी है। क्रियावादी, अक्रियावादी दोनों का जीवन-पथ समान नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि प्रमुख हैं। अक्रियावादी का दृष्टिकोण वैसा नहीं है, वह भोगोन्मुख है। आज की भाषा में क्रियावाद को अवचेतनवाद या कर्मवाद

तथा अक्रियावाद को परिस्थितिवाद कहा जा सकता है। हमारे सामने दो दृष्टिकोण है। पहला दृष्टिकोण है कि जीवन में जो कुछ घटित हो रहा है उसका निमित्त बाह्य कारण है परिस्थिति है। जैसी परिस्थिति है मनुष्य का आचरण एवं व्यवहार तदनुरूप बन जाता है।

दूसरे दृष्टिकोण से उसका कारण बाह्य नहीं। भीतरी कारण है, वह है क्रियात्मक चिन्तन। जब तक मनोविज्ञान विकास में नहीं आया तब तक सारा दोष बाह्य कारणों को दिया जाता था। विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक मनोविज्ञान ने नये द्वार का उद्घाटन किया। उसके अनुसार जीवन की समग्र व्याख्या अवचेतन मन के आधार पर की जाने लगी। इस प्रकार कर्मवाद अथवा क्रियावाद का सिद्धांत मनोविज्ञान के क्षेत्र में मान्य हो चुका है।

संदर्भ सूचि

1. दीर्घनिकाय भाग 1, ब्रह्मजाल सूत्त
2. श्वेताश्वेतर उपनिषद् ; 1/2, 6/1
3. मैत्रायणी भूमिका; 22
4. गोम्मटसार 2 (कर्मकाण्ड) ; गा. 877-888 पृ . 1238-1243
5. आचरांग वृत्ति; 1/1/1/4
6. स्थानांग वृत्ति; 4/4/345
7. प्रवचनसारोद्धार; 1/88
8. गोम्मटसार; 787
9. भगवती; 30/1
10. सूयगडो; 1/12/1 चत्तारि समोसरणाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
    किरियं अकिरियं विणयंति तइयं अण्णाणं माहंसु चउत्थमेव ॥
11. सूत्रकृतांग; 1/6/27
12. स्थानांग; 4/530
13. भगवती; 30/1/824
14. कषाय पाहुड,भाग.1 ; पृ.134
15. हरिभद्रीया टीका पत्र; 8/6-2
16. उत्तराध्ययन टीका; 18/23
17. सूत्रकृतांग निर्युक्ति ; गा. 111-112
18. प्रवचन सारोद्धार; उत्तर भाग, 344/1
19. सूत्रकृतांग निर्युक्ति; गा. 112, असियसयं किरियाणं, अक्किरियाणं च होइ चुलसीती ।
    अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा ॥

20. कषाय पाहुड, जय धवला, पृ.134
21. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक 222-223 का सारांश
22. दशाश्रुत स्कन्ध; 6/7
अहियवाई, आहिय-पण्णे, आहिय-दिट्ठी सम्मावादी नीयावादी संति परलोकवादी..।
23. सूयगड़ो, भाग 1; 12/20-21
अत्ताण जो जाणइ जो य लोग, जो आगति जाणइऽणागतिं च।
जो सासयं जाण असासयं जाण असासयं च जाति मरणं च चयणोववातं॥20॥
24. (क) तत्त्वार्थवार्तिक; 8/1
(ख) षड्दर्शन समुच्चय ; पृ.13
25. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा; 112
91. (क) सूयगडो द्वितीय श्रुतस्कंध 1/23-26
26. Jacobi Herman, Jain Sutras, Part II, 1980 Introduction P. XXV
27. Sikdar, J.C. Studies in Bhagawati Sutra
28. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ.254
29. पाणिनी कृत व्याकरण; सू 4/181
30. (क) पाणिनी भाष्य, पृ. 321
(ख) पाणिनी व्याकरण; सू. 4-1-104
31. धवला टीका; पु. 1 पृ. 107
32. तत्त्वार्थ भाष्य टीका; पृ. 61
33. बृहदारण्यक; 3-7-1, 6-3-1
34. तत्त्वार्थ टीका भाग 2; पृ. 55
35. हेमाद्रि सिद्ध कल्प; पृ. 75
36. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका, पृ. 226
37. सूत्रकृतांग निर्युक्ति ; गा.118
38. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 256
39. सूयगडं सुत्तं (मुनि जंबु विजय बम्बई 1978, प्रस्तावना पृ.10 टिप्पण संख्या 3)
40. दशाश्रुतस्कंध; 6/3
अकिरियावादी यावि भवति-नाहियवादी नाहियपण्णे नाहियवदिट्ठी, नो सम्मावादी,
नो नितियावादी, न संति - परलोकवादी, ...।
41. दशाश्रुतस्कंध; 6/6
42. स्थानांग; 8/22
43. (क) सूत्रकृतांग; 1/1/9, 1/1/64-67, 2/1/32

44. (क) वही; 1/3/66, 1/1/11-12, 2/1/13-22
(ख) नयोपदेश; श्लोक 126, धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेया; सर्वेऽपि-परतीर्थिकाः॥
45. स्याद्वादमंजरी; श्लोक 4
46. स्याद्वादमंजरी; श्लोक 4
47. न्यायसूत्र; 4/1/19-21
48. स्थानांग वृत्ति; पत्र, 404
49. सूत्रकृतांग; 3/4/6
50. सांख्य कारिका; 9
51. सूत्रकृतांग निर्युक्ति ; गा.112
52. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 206
53. तत्त्वार्थवार्तिक भाग 2; 8/1 पृ.562
54. महापुराण पर्व; 18/61-62
55. हरिटेज ऑफ इण्डिया दी सांख्य सिस्टम, उद्धृत-पूर्व पीठिका, पृ. 319
56. (क) तत्त्वार्थ भाष्य टीका प्रस्तावना; पृ.58
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ.207
ते तु जधा पंचमहाभूतिया चतुष्भूतिया खंधमेत्तिया सुण्णवादिणो लोगायतिगा इच्चादि अकिरियावादिणो।
57. सूत्रकृतांग;. गा.111
58. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 207
59. सूत्रकृतांग वृत्ति, पत्र; 35
60. सूत्रकृतांग वृत्ति,पत्र, 217
61. शतपथ काण्ड; 11-14
62. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, उद्धृत जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, पृ. 320
63. तत्त्वार्थ टीका; भा. 2 पृ. 123
64. पाणिनी भाष्य; पृ. 315
65. वायु पुराण, अध्याय; 23
66. जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका; पृ. 70
67. (क) पाणिनी; 4-1-81
(ख) पाणिनी भाष्य; पृ. 320
68. महाभारत, शांति पर्व; अध्याय 344
69. वै.वा.भा.1; पृ.220
70. अथर्ववेद परिशिष्ट; 22-3
71. मत्स्य पुराण; 14-16

72. जैमिनी सूत्र; 1/1/3, 5/2/9
73. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका; पृ.714
74. तत्त्वार्थ भाष्य टीका, भा. 2; पृ.123
75. धवला टीका, पु. 1 ; पृ.108
76. कौटिल्य अर्थशास्त्र ; 1-6
77. महाभारत सभापर्व ; अ. 36
78. (क) महाभारत आदिपर्व ; अ. 64
79. सुत्त पिटक, दीघ निकाय, सामञ्ञसुत्त ; पृ. 41-53
80. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 206 अज्ञानिकवादिमतं नवजीवादीन् सदादि सप्तविधान्।
भावोत्पत्ति: सदसद् द्वैताऽवाच्यं च को वेत्ति ?॥
81. सूत्रकृतांग निर्युक्ति.गा.111, ...विणइत्ता वेणइवादी
82. वही गा.111, चूर्णि; पृ. 206,
वेणइयवादिणो भणंति - ण कस्स णि पासंडस्स गिहत्थस्स का
णिंदा कायव्वा, सव्वस्सेव विणीय विणयेण होतव्वं॥
83. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति; गा.113 चूर्णि पृ.206
वेणइयवादीणं बत्तीसा दाणामा - पणामादि प्रव्रज्यादि।
(ख) सूयगडो;1/12/1, सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ.207
वेणइया तु दाणाम - पाणामादीया कुपासंडा।
84. भगवई ; 3/34
85. वही; 3/102
86. नायाधम्म कहाओ - 1/5/59
87. धम्म संगहणि; पृ. 277
88. (क) स्थानांग ; 4/530, उत्तराध्ययन ; 18/23
89. सूयगडो, 1/12/21
90. उद्धृत भगवती भाष्य पृ. 191।
91. दीघनिकाय; 1/2, पृ. 24 (क) सूयगडो द्वितीय श्रुतस्कंध 1/23-26
92. (क) दीघनिकाय; 1/2/4/17
(ख) सूयगडो द्वितीय; 1/23-26
93. सूयगडो; 1/13-14 टि. पृ. 25
94. सूयगडो; 1/28-40
95. सूयगडो द्वितीय श्रुतस्कंध 13-22
96. सूयगडो; 2/1/27, ठाणांग, 3/337
97. सु.श्रु-1 अ.12 गा.118
98. आवश्यक सूत्र; 4

द्वितीय अध्याय

क्रिया के प्रकार और उसका आचारशास्त्रीय स्वरूप

जीवन की गुत्थियां आसान नहीं है। बिन्दु तथा रेखा से प्रारंभ होनेवाला जीवन का गणित कई आकृतियों का सृजन और भंजन करते हुए विशिष्ट समीकरणों के निर्माण में जुट जाता है। ऐसे समीकरणों का अस्तित्व उभरकर सामने आता है जिसमें अन्तर्निहित प्रत्येक पद अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना से ही संतुष्ट है। जीवन की नियति चेतना है। किन्तु यही जीवन की चेतना चिन्तन की पगडंडियों से भटक कर संवेगों के चक्रव्यूह में फंस जाती है।

संवेगों का उत्स कर्म है। कर्मवाद पर भारतीय तत्त्व चिंतकों ने गहराई से चिन्तन, मनन और मंथन किया है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि आत्मा का सहज स्वरूप शुद्ध है। उसकी वैभाविक परिणति में मुख्य हेतु कर्म है। कर्म का मूल हेतु क्रिया है। क्रिया क्या है ? वह आत्मा के साथ कैसे सम्बन्ध स्थापित करती है ? इन प्रश्नों का समाधान अपेक्षित है। और उसी का प्रयास यहां किया जा रहा है।

क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा

''भावे करणादौ सूत्र से कृश् + टाप् प्रत्यय का योग होने पर 'क्रिया' शब्द की सिद्धि होती है।

सूत्रकृतांग चूर्णि में क्रिया, कर्म, परिस्पंद और कर्मबंध– ये एकार्थक माने गये हैं।[1]

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं सम्प्रधारणम्।
उपायः कर्मचेष्टा च चिकित्सा च नव क्रिया।।[2]

आगमों में क्रिया की परिभाषा दृष्टिगोचर नहीं होती है। टीकाकार, वृत्तिकार एवं चूर्णिकार के अनुसार क्रिया की परिभाषाएं निम्नानुसार हैं– आचारांग और सूत्रकृतांग के अनुसार क्रिया सद्-असद् अनुष्ठान रूप होती है।[3] क्रिया का अर्थ है परिस्पन्दन, कंपन। उससे विपरीत अक्रिया होती है।[4] अभयदेव सूरि, प्रज्ञापना के वृत्तिकार तथा मलयगिरि के अनुसार क्रिया अथवा करना मात्र क्रिया है। विशेष रूप से कर्मबंधन की हेतुभूत चेष्टा ही क्रिया है।[5]

'कर्माकर्षक आत्मपरिणाम : आश्रव।' के अनुसार कर्मबंध का मूल हेतु मिथ्यात्व आदि परिणाम है। इनमें से एक है– 'क्रिया प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त क्रिया तो केवल योग आश्रव है। जबकि 'क्रिया' रूप में आत्मपरिणाम आश्रव का स्वतंत्र प्रकार है। आश्रव के 42 भेदों में इन्द्रिय (5), अव्रत (5), कषाय (4), योग (3) तथा क्रिया (25) का ग्रहण किया गया है।

इससे स्पष्ट होता है कि 25 क्रियाएं आश्रव का स्वतंत्र भेद है, योग के भेद नहीं है। 'शांत सुधारस' में भी कहा गया– 'इन्द्रियाव्रतकषाययोगजा..।' पांच आश्रवों- मिथ्यात्व, अव्रत, प्रकार, कषाय, योग में केवल योग ही 'प्रवृत्ति' रूप है। यदि 'क्रिया को प्रवृत्ति माना जाए तो वह योग आश्रव के अन्तर्गत होगी। किन्तु परिणाम रूप होने से मिथ्यात्व, आश्रव, प्रमाद और कषाय के अन्तर्गत ही हैं, योग के अन्तर्गत नहीं।'

व्यक्ति जैसी क्रिया करता है तदनुरूप ही कर्म बंध होता है। कर्मफल भी तथारूप होता है। कर्म-फल से बचने के लिये कर्मबंध से बचना अनिवार्य है और कर्म-बंध से बचने के लिए क्रियाओं से दूर रहना अनिवार्य है।

आगम साहित्य में बहुत बड़ा भाग क्रियाओं की चर्चा से परिव्याप्त है। प्रतिपादन की शैली कहीं संक्षिप्त है, कहीं विस्तृत। कहीं निश्चय दृष्टि का प्रयोग है, कहीं व्यवहार दृष्टि का। कर्म के शुभाशुभ विकल्पों, उसके परिणमन की विचित्रता को समझने के लिए क्रिया का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। जैन दर्शन के तीन आधार स्तंभ है– आत्मवाद, क्रियावाद और कर्मवाद।

स्वाभाविक और वैभाविक क्रिया

आत्मा एक द्रव्य है, 'अर्थक्रियाकारित्वम्', यह द्रव्य का लक्षण है। जिसकी सत्ता है, वह निश्चित अर्थक्रिया करता है। अर्थक्रिया के अभाव में अस्तित्व नहीं। तर्क शास्त्र के अनुसार आकाश कुसुम, वन्ध्या-पुत्र, तुरंग-श्रृंग, शश-श्रृंग आदि अनस्तित्व

के सूचक हैं। क्योंकि उनकी कोई क्रिया उपलब्ध नहीं है। क्रिया ही अस्तित्व की अभिव्यक्ति है।

क्रिया दो प्रकार की है– होना और करना। होना भी क्रिया है, करना भी क्रिया है। होना (Being) स्वाभाविक क्रिया है। करना (Becoming) वैभाविक क्रिया है। क्योंकि करने में एक कर्ता (Subject) है, एक कार्य (Object) है। केवल कर्त्ताभाव में स्वाभाविक क्रिया है। कर्म-संयोग से होने वाली वैभाविक क्रिया है।

हमारी कोई भी वैभाविक क्रिया ऐसी नहीं होती जहां बंधन न हो। दोनों में अविनाभावी सम्बन्ध है। तर्कशास्त्र में - **'यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्नि :'** जहां जहां धुआं है, वहां वहां अग्नि है, यह निश्चित व्याप्ति है, पर वह एक तरफा है। क्योंकि धुआं है वहां अग्नि अवश्यंभावी है, अग्नि है वहां धुआं होगा- निश्चित नियम नहीं, इसमें विकल्प की संभावना है। प्रवृत्ति एवं बंधन में दोहरी व्याप्ति है। प्रवृत्ति है, वहां बंधन है, बंधन है, वहां प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति के पीछे प्रेरक तत्व है– राग-द्वेष। इनसे ही कर्मों का आश्रवण होता है। सृष्टि के मूलभूत तत्त्व छह हैं– धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। उनमें प्रथम तीन निष्क्रिय हैं। निष्क्रियता का आशय क्रियाहीनता नहीं बल्कि देशान्तर प्राप्ति रूप गति से है। वे जहां है, वहीं अवस्थित है। स्व-स्वरूप में परिणमन भी करते हैं। जीव और पुद्गल दोनों सक्रिय हैं। काल-सक्रियता में सहचारी है। जीव में परिस्पंदना और अपरिस्पंदना रूप दोनों प्रकार की क्रिया होती हैं।

क्रिया और परिणाम

क्रिया के दो प्रकार हैं– जीव क्रिया और अजीव क्रिया। जीव अपने अध्यवसायों, परिणामों से जो क्रिया करे वह जीव क्रिया है। जीव जिससे पुद्गल प्रचय को कर्म रूप में परिणत करता है उसे अजीव क्रिया कहते हैं। जीव क्रिया और अजीव क्रिया– ये दोनों क्रिया के सामान्य प्रकार है। इसमें सूत्रकार का आशय यह है कि क्रियाकारित्व जीव और अजीव का समान धर्म है। यहां वही अजीव क्रिया विवक्षित है जो जीव के निमित्त से अजीव (पुद्गल) का कर्म के रूप में परिणमन रूप है।

जीव क्रिया के दो भेद हैं– सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। अभयदेव सूरि ने सम्यक्त्व क्रिया का अर्थ तत्त्व में श्रद्धा करना और मिथ्यात्व क्रिया का अर्थ अतत्त्व में श्रद्धा करना किया है।[6] आचार्य अकलंक ने सम्यक्त्ववर्धिनी प्रवृत्ति को सम्यक्त्व - (Urges that lead to enlightened world view) और मिथ्यात्वहेतुक प्रवृत्ति

को मिथ्यात्व क्रिया (Urges that lead to deluded world view) कहा है।[7] अजीव क्रिया के अन्तर्गत ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी को लिया है। 'ईर्यापथ' शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों के साहित्य में मिलता है। बौद्ध पिटकों में कायानुपश्यना के अर्थ में ईर्यापथ का प्रयोग हुआ है।[8]

क्रिया का नियम

'गौतम ने महावीर से पूछा– भंते ! अन्यतीर्थिक एक समय में दो क्रियाएं मानते हैं। जिस समय जीव सम्यक् क्रिया करता है, उसी समय मिथ्या क्रिया भी करता है– यह कैसे ?

भगवान महावीर ने कहा– गौतम ! जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या है। सम्यक् और मिथ्या– इन दोनों क्रियाओं का एक साथ होना संभव नहीं है। मन, वचन, काया का व्यापार एक समय में एक ही प्रकार का होता है।[9] उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम भी एक समय में एक ही होता है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों विरोधी क्रियाएं हैं, एक साथ कैसे होगी ? जीवा जीवाभिगम सूत्र इसी सिद्धांत की पुष्टि करता है कि एक समय में दो क्रियाएं नहीं की जा सकती। इसी प्रकार ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी क्रिया भी एक साथ नहीं होती। सकषायी के साम्परायिक क्रिया होती है, अकषायी के ऐर्यापथिक। एक अकषायोदय से उत्पन्न है दूसरी कषायोदय से, इसलिये दोनों साथ नहीं होती। एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है।

भगवान महावीर के अनुसार एक समय में दो क्रियाएं संभव नहीं है। कुछ दार्शनिक दो क्रियाओं का एक साथ होना मानते है। भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार भगवती सूत्र में उनका नाम निर्देश नहीं है किन्तु प्रकरण की दृष्टि से यह मान्यता किसी श्रमण-सम्प्रदाय की प्रतीत होती है। प्रस्तुत प्रसंग में आजीवक मत की संभावना की जा सकती है।[10]

महावीर और बुद्ध के युग में यह मत काफी प्रभावशाली और व्यापक रहा है। विक्रम की आठवीं शताब्दि तक उसका अस्तित्व समाप्त प्राय: हो गया। आज उस परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है किन्तु जैन और बौद्ध परम्परा के साहित्य में आज भी तत्सम्बन्धी सामग्री मिल जाती है। आचार्य धनगुप्त के शिष्य गंगमुनि ने भी द्वैक्रियवाद की स्थापना की, जो पांचवें निह्नव कहलाएं।

क्रिया : नयदृष्टि

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। शब्द शक्ति की सीमा है। अत: अनन्त धर्मों की अभिव्यक्ति संभव नहीं। यह एक समस्या है। नय सिद्धांत उसका समाधान है। नय सात हैं– 1 नैगम, 2 संग्रह, 3 व्यवहार, 4 ऋजुसूत्र, 5 शब्द, 6 समभिरूढ़, 7 एवंभूत। नय के आधार पर क्रिया का विवेचन इस प्रकार है– सभी संसारी जीव सक्रिय हैं।

यह नैगम और संग्रह नय का अभिमत है। शरीर प्राप्ति के पश्चात् क्रिया होती है, यह व्यवहार नय है। क्रिया अथवा प्रवृत्ति में मुख्य रूप से वीर्य का परिणमन होता है, यह ऋजुसूत्र का अभिमत है। शब्दनय की दृष्टि से विचार करे तो वीर्य आत्मा की परिस्पंदन रूप क्रिया है। समभिरुढ़ से साधना के अनुरूप सर्व कर्तव्य करना-क्रिया है, जीव परिस्पंदन की सहायता से जो गुण-परिणमन होता है, वह क्रिया एवंभूतनय की अपेक्षा से है।

क्रिया और निक्षेप

निक्षेप निर्युक्तिकालीन व्याख्या पद्धति का मुख्य अंग है। यह जैन परम्परा की मौलिक अवधारणा है, द्रव्य के अनन्त पर्याय है। अनन्त पर्यायों को समझने के लिये एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। फलत: विवक्षित अर्थ-बोध नहीं होता। उलझन खड़ी होती है। निराकरण के लिये निक्षेप पद्धति का आविष्कार हुआ। अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण और प्रस्तुत अर्थ का बोध निक्षेप द्वारा होता है। निक्षेप पद्धति का शब्द-मीमांसा में महत्वपूर्ण स्थान है।

निर्युक्तिकार ने निक्षेप पद्धति से क्रिया का विवेचन करते हुए नाम और स्थापना का उल्लेख नहीं किया। द्रव्य और भाव के संदर्भ में अपना अभिमत प्रस्तुत किया है। द्रव्य की अपेक्षा जीव और अजीव की परिस्पंदन रूप क्रिया द्रव्य क्रिया है। जिस क्रिया से कर्म बंध होता है, वह भाव क्रिया है। द्रव्य क्रिया के प्रायोगिक और वैस्रसिक– दो भेद हैं, भाव क्रिया के प्रयोग क्रिया, उपाय क्रिया, करणीय क्रिया, समुदान क्रिया, ऐर्यापथिक क्रिया, सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया आदि अनेक भेद है।

क्रिया के प्रकार

आगमों में क्रिया के समस्त भेदों का एक स्थान पर उल्लेख नहीं मिलता है। संक्षेप में उसके दो प्रकार हैं– जीव क्रिया, अजीव क्रिया। विस्तार में आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कंध में दस, सूत्रकृतांग में तेरह तथा समवायांग में क्रिया, अक्रिया के एक-एक भेद

का उल्लेख मिलता है। स्थानांग में 1,2,3 तथा 5, 5 भेद करके पांच पंचक उपलब्ध हैं। भगवती, प्रज्ञापना में 'काइया, आरंभिया' ऐसे दो पंचकों का वर्णन है तथा भगवती और प्रज्ञापना में अठारह पापस्थानों का भी क्रिया के रूप में उल्लेख है। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार क्रिया के तीन वर्गीकरण किये जा सकते हैं–

1. दस और तेरह क्रियाओं का उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग व आवश्यक सूत्र में उपलब्ध है।
2. ठाणांग सूत्र में है मुख्य - गौण भेद से बहत्तर (72) क्रियाओं का निर्देश है।[11]
3. तत्त्वार्थसूत्र में पच्चीस क्रियाओं का प्रतिपादन है।[12]

प्रथम वर्गीकरण

श्रमण साधना में निरन्तर जागरूक होता है। फिर भी कभी-कभी प्रमादवश साध्वाचार का अतिक्रमण हो जाता है। इस संदर्भ में आचारांग में 10 क्रियाओं का नामोल्लेख है– (1) कालातिक्रान्त क्रिया (2) उपस्थान क्रिया (3) अभिक्रान्त क्रिया (4) अनभिक्रान्त क्रिया (5) वर्ज्य क्रिया (6) सावद्य क्रिया (7) महासावद्य क्रिया (8) अल्पसावद्य क्रिया (9) परक्रिया (10) अन्योन्य क्रिया।

कालातिक्रान्त

धर्मशाला, आरामगृह, मठ, आश्रम, उपाश्रय, बगीचा आदि में साधु - साध्वी ऋतुबद्ध शीतोष्णकाल में मासकल्प तथा वर्षावास व्यतीत करने के बाद बिना प्रयोजन पुनःपुनः वहां आकर रहते हैं तो कालातिक्रांत क्रिया लगती है।[13]

उपस्थान क्रिया

जिस स्थान पर मास कल्प या वर्षावास व्यतीत किया उसी स्थान पर अन्यत्र विहार किये बिना दो-तीन मास या चतुर्मास प्रयोजन रहना उपस्थान क्रिया है। [14]

अभिक्रांत क्रिया

साधु के आचार-व्यवहार से अनभिज्ञ श्रद्धालु जन अन्य मतावलम्बी, शाक्यादि भिक्षुओं, ब्राह्मण-अतिथि, भिखारी आदि के उद्देश्य से तथा अपने व्यवसाय या परिवार

के उद्देश्य से धर्मशाला आदि बनाते है, उनमें शाक्यादि भिक्षु ठहरे हुए हों अथवा गृहस्थ अपने काम में ले रहा हो,वहां कोई साधु ठहरता है तो अभिक्रांत क्रिया लगती है।[15]

अनभिक्रांत क्रिया

कई श्रद्धालु अज्ञानवश श्रमण-ब्राह्मण आदि के लिये भवन आदि का निर्माण कराते हैं। उन स्थानों में श्रमण आदि नहीं ठहरे हों, काम में नहीं लिया हो, फिर भी साधु उनमें आकर रहे तो अनभिक्रांत क्रिया लगती है।[16]

वर्ज्य क्रिया

कई श्रद्धालु साधु के आचार से परिचित होते हैं कि संयत, संवृत, संयमी अपने लिये निर्मित भवन आदि में नहीं ठहरते हैं। आधाकर्मिक दोष युक्त उपाश्रय काम में नहीं लेते है। अत: अपने लिये निर्मित विशाल मकान उन्हें यह सोचकर दे कि हम अपने लिये दूसरा मकान बनवा लेगें। ऐसे मकान में साधु ठहरता है तो वर्ज्य क्रिया का दोष लगता है।[17]

सावद्य क्रिया

कई अज्ञान वश श्रमण - ब्राह्मण आदि के रहने के लिये अलग- अलग सामुदानिक भवन का निर्माण करवाते हैं। इस तथ्य की अवगति पाकर भी यदि साधु उस भवन में रहता है तो सावद्य क्रिया लगती है।[18]

महासावद्य क्रिया

कई श्रद्धालु किसी एक श्रमण को लक्षित कर मकान आदि बनवाता है। तदर्थ षट्जीवनिकाय का महान आरंभ-समारंभ करता है। क्योंकि साधु के निमित्त विशेष क्रियाएं-लिपाई-पोताई, शीतल जल का छिड़काव, द्वार ढ़कना, अग्नि प्रज्ज्वलित करना इत्यादि करवाता है। ऐसे स्थान पर रहने से साधु की महासावद्य क्रिया लगती है।[19]

अल्पसावद्य क्रिया

गृहस्थ ने अपने लिये महान् आरंभ-समारंभ करके भवन आदि का निर्माण करवाया, लिपाई आदि विशेष क्रियाएं भी की। उस मकान में रहने से साधु को अल्प क्रिया लगती है, क्योंकि वह गृहस्थ के लिये निर्मित है। अल्प शब्द का अर्थ यहां अभाववाची है अर्थात् ऐसे मकान में रहने से साधु को कोई पाप नहीं लगता है।[20]

परक्रिया

पर अर्थात् गृहस्थ के द्वारा मुनि के लिये की जानेवाली क्रिया, चेष्टा, व्यापार, कर्म, परक्रिया कहलाती है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भिक्षु के शरीर सम्बन्धी क्रिया करना परक्रिया है। जैसे– साधु का पैर धोना, पौंछना, साफ करना। इसी प्रकार अन्य अवयव सम्बन्धी या बीमार अवस्था में परिचर्या करना परक्रिया के अर्न्तगत है।

अन्योन्यक्रिया

पारस्परिक सेवा, सहयोग के रूप में दान - प्रतिदान की अभिलाषा से की गई क्रिया अन्योन्यक्रिया है। परक्रिया की तरह यह भी ज्ञातव्य है। परक्रिया में गृहस्थ साधु की परिचर्या करता है। जबकि अन्योन्यक्रिया में परस्पर सेवा देना, सेवा लेना आदि का समावेश है।

सूत्रकृतांग आदि में क्रिया के प्रकार

सूत्रकृतांग आदि में 13 क्रियाओं का वर्णन मिलता है। उनमें कर्मबंध और मुक्ति की हेतुभूत दोनों प्रकार की क्रियाओं का निर्देश किया गया है। सूत्रकृतांग के दूसरे अध्ययन का नाम क्रिया-स्थान है।[21] इसमें कर्म-बंध की कारणभूत 12 क्रियाओं का साम्परायिकी क्रिया के अन्तर्गत और कर्म-बंध से मुक्त होने की क्रिया ऐर्यापथिकी क्रिया के अन्तर्गत प्रतिपादित है। अर्थ दण्ड आदि बारह क्रियाओं से पापकर्म का बंध होता है। यद्यपि ऐर्यापथिकी क्रिया से पुण्य कर्म का बंध होता है फिर भी शुभ योगात्मक होने से आचरणीय है। बारह क्रियाएं अशुभ-योगात्मक है अत: सर्वथा अनाचरणीय है।

आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत 'पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं' पाठ से तेरह क्रियाओं को ग्रहण किया है। उनमें पांच क्रियाओं को दण्ड-समादान कहा है तथा अन्य आठ को केवल क्रिया-स्थान कहा है। इस भेद के विषय में चूर्णि और वृत्ति में विमर्श प्राप्त है। प्रथम पांच में प्राय: परोपघात होता है इसलिये उन्हें दण्ड-समादान कहा है। शेष में परोपघात की संभावना नहीं होने से उन्हें क्रिया-स्थान कहा हैं। तेरह क्रियाओं में प्रवृत्ति की प्रेरणाभूत, प्रकार और परिणाम जनित क्रियाओं का समावेश है।

दण्ड शब्द हिंसा का वाचक है। एक शब्द अनेक अर्थों का अभिव्यंजक होता है। दण्ड का सामान्य अर्थ है– प्रायश्चित। विधि-विधानों का अतिक्रमण करने पर दण्ड देने का प्रचलन केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में रहा है।

आगमों में जहां त्रिदण्ड का उल्लेख है उसका संबंध मन, वचन, काया की हिंसा जनक प्रवृत्ति से है। मन, वचन और शरीर की असत् प्रवृति से हिंसा होती है। अत: हिंसा के साधन के रूप में इन्हें दण्ड कहा गया है। इस आधार पर सूत्रकृतांग और आवश्यक में सर्वप्रथम पांच दण्डों का उल्लेख किया है। भगवती में वर्णित पच्चीस क्रियाओं में आरम्भिकी आदि पांच क्रियाओं का उल्लेख किया गया है।[22] स्थानांग में वर्णित बहत्तर क्रियाओं का[23] तथा तत्त्वार्थ सूत्रमें वर्णित पच्चीस क्रियाओं का [24] ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी इन दो में समाहार हो जाता है।

प्रश्न होता है, कर्म-मुक्ति की चर्चा न्यायोचित है किन्तु कर्म-बंध की हेतु क्रियाओं के विवरण से क्या प्रयोजन ? चूर्णिकार ने प्रश्न को समाहित करते हुए लिखा– बंध की अवगति बिना मुक्ति की ओर प्रयास असंभव है। इसलिये जो भिक्षु चरण-करणविद् हो जाता है। कर्म - क्षय के लिये उत्थित है, उसे कर्म - बंध और क्षय के स्थानों को अवश्य जानना चाहिये।[25] स्थानांग में पांच प्रकार के दण्डों का निर्देश है।[26]

साम्परायिक क्रिया पुण्य और पाप दोनों की हेतु है किन्तु प्रस्तुत अध्याय में यहां केवल पाप हेतुक साम्परायिक क्रिया का विस्तार किया जा रहा है। ईर्यापथिक पुण्य रूप ही होती है।[27] ये तेरह क्रियाएं (सूत्रकृतांग और आवश्यक सूत्र पर आधारित) निम्न है–

(1) अर्थदण्ड (2) अनर्थ दण्ड (3) हिंसा दण्ड
(4) अकस्मात् दण्ड (5) दृष्टि दोष दण्ड (6) मृषा प्रत्ययिक
(7) अदत्तादान प्रत्ययिक (8) अध्यात्म प्रत्ययिक (9) मान प्रत्ययिक
(10) मित्रदोष प्रत्ययिक (11) माया प्रत्ययिक (12) लोभ प्रत्ययिक
(13) ऐर्यापथिक

(1) अर्थ दण्ड- अर्थ का मतलब है– प्रयोजन। जिस हिंसा के पीछे कोई उद्देश्य निहित होता है, वह अर्थ दण्ड है। उदाहरणार्थ ज्ञाति, परिवार, मित्र, घर, देवता, भूत, यज्ञ आदि के प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा। इसमें व्यक्ति त्रस-स्थावर प्राणियों की मन-वचन-काया से स्वयं घात करता है, दूसरों से करवाता है और घात करते हुए का अनुमोदन करता है, परिणाम स्वरूप इस प्रकार की हिंसा से वह पाप कर्म का बंध करता है।[28]

(2) अनर्थ दण्ड- निष्प्रयोजन, अविवेक और मनोरंजन के लिये प्राणियों को

मारता है, छेदन-भेदन करता है, अंगों को काटता है, चमड़ा और नेत्रों को उखाड़ता है, उपद्रव करता है, यह अनर्थदण्ड है। इसी प्रकार निरुद्देश्य स्थावर जीवों की हिंसा करना, चपलता वश वनस्पतियों को उखाड़ना, पर्वत और वन आदि में आग लगाना, नदी-तालाब आदि में पत्थर फेंकना, ये सभी प्रवृत्तियां अनर्थदण्ड के अन्तर्गत हैं।[29]

गृहस्थ संपूर्ण हिंसा से बच नहीं सकता इसलिये हिंसा के उपर्युक्त दो भेद किये गये हैं– अर्थ हिंसा, अनर्थ हिंसा।

जैन तार्किकों ने जैसे इन्द्रिय मानस ज्ञान को परोक्ष होते हुए भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। उसी प्रकार लौकिक अभ्युदय की हेतुभूत हिंसा को अर्थ-हिंसा या व्यवहार्य हिंसा माना है। लोक दृष्टि में जीवन-निर्वाह के लिये होने वाली अनिवार्य हिंसा को हेय नहीं बतलाया है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति दूसरे पर आक्रमण करता है। तीसरा व्यक्ति आक्रांता को मार डालता है। सामाजिक नीति या व्यवस्था में उसे हिंसक न मानकर उसे उचित ठहराया जाता है किन्तु आध्यात्मिक जगत् के नियम इससे भिन्न है। आक्रांता को उपदेश देना उचित है किन्तु उपदेश न मानने पर दबाव डालना धर्म के अनुकूल नहीं। एक की रक्षा के लिए दूसरे के प्राणों का व्यपरोपण अहिंसा की दृष्टि से क्षम्य नहीं है।

(3) हिंसा दण्ड- कुछ लोग प्रतिशोध, प्रतिकार और आशंका वश हिंसा में प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे– 'इसने मेरे सम्बन्धी को मारा है इसलिये मैं उसे अवश्य मारुंगा', यह प्रतिशोध की भावना है।

'यह मेरे स्वजन को मार रहा है इसलिये इसे मार देना चाहिये', यह प्रतिकार की वृत्ति है। यह जीवित रहा तो मुझे मारेगा। मैं उसे पहले ही मार डालूं, इस आशंका से की जाने वाली हिंसा है। कंस ने देवकी पुत्रों को अपनी मृत्यु की आशंका से मार डाला था। परशुराम ने अपने पिता की घात से क्रोधित हो कार्तवीर्य का वध किया। बहुत से व्यक्ति सिंह, सांप आदि प्राणियों का वध इसलिये कर डालते है कि ये जीवित रहकर दूसरों को मारेंगे। यह हिंसा दण्ड है। प्रतिशोधात्मक हिंसा का सम्बन्ध अतीत से है, प्रतिकारात्मक हिंसा का वर्तमान और आशंका जनित हिंसा का सम्बन्ध भविष्य से है।

(4) अकस्मात् दण्ड– किसी प्राणी की हत्या करने के उद्देश्य से चलाए हुए शस्त्र द्वारा यदि दूसरे प्राणी का वध हो जाये, उसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं। घातक

व्यक्ति का उसे मारने का लक्ष्य नहीं, पर अनायास हिंसा हो जाती है। जैसे– शिकारी मृग का वध करने बाण चलाता है किन्तु वाण लक्ष्य-च्युत होकर मृग के बदले किसी दूसरे पक्षी या मनुष्य को लग जाता है। यह अकस्मात्- दण्ड है।

किसान धान्य की सुरक्षा के लिए अनावश्यक घास-फूस पर शस्त्र चलाता है। अचानक शस्त्र घास पर न लगकर धान्य के पौधों पर लग जाता है, जिससे पौधे नष्ट हो जाते हैं, यह अकस्मात्-दण्ड है। क्योंकि इसमें किसान का लक्ष्य पौधों को काटना नहीं था।

वाहन चालक दुर्घटना करना नहीं चाहता किन्तु शराब का नशा, निद्रा, आलस्य, कुहासा आदि कई ऐसे कारण हैं जो दुर्घटना में निमित्त बन जाते हैं। यह न तो अर्थ हिंसा है, न अनर्थ किन्तु आकस्मिक दण्ड है। इस प्रकार की हिंसा में प्रेरक तत्व आजीविका है। परिणाम है पाप कर्म का बंध।

(5) दृष्टि विपर्यास दण्ड– अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि विपर्यास दण्ड है। मित्र को शत्रु समझकर और साहूकार को चोर समझ कर दंडित करना दृष्टि विपर्यास दण्ड है। इसमें प्रेरक तत्व है– दृष्टि की विपरीतता, भ्रांत चित्तता।

युद्ध के समय जो शत्रु नहीं है, उसे भी शत्रु समझ कर मार दिया जाता है। या निर्दोष को दोषी मानकर उसका प्राणवध कर देता है, यह दृष्टिविपर्यास दण्ड है। इसका परिणाम है– पाप कर्म का बंध और वैमनस्य ।[30]

मन, वचन और कर्म, त्रियोग साधना से ही अहिंसा का पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है, फिर भी भगवान महावीर ने मानसिक अहिंसा को सर्वोपरि महत्व दिया है, क्योंकि हिंसा सर्व प्रथम मस्तिष्क में ही जन्म लेती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में लिखा गया है कि युद्ध पहले मस्तिष्क में लड़ा जाता है। तत्पश्चात् अनुकूल बाह्य निमित्त पाकर युद्ध भूमि में लड़ा जाता है। कायिक हिंसा के साथ मानसिक हिंसा का अविनाभावी सम्बन्ध है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट है– ''राग और द्वेष कर्म के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है।[31(क)]उसी प्रकार अंगुत्तर निकाय में कर्म को लोभज, दोषज, (द्वेषज) और मोह जनित माना है।[31ख]

कर्म-बंध की प्रक्रिया में मन की विशुद्धि-अविशुद्धि भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

मन कर्म-बंध में सक्रिय भूमिका निभाता है। कायिक हिंसा की तरह मानसिक हिंसा भी अनर्थ का हेतु है, उससे भी प्राणी नरकादि अधोगति को प्राप्त करता है।

तंदुल मत्स्य का उदाहरण मानसिक हिंसा का स्पष्ट प्रमाण है। तंदुल मत्स्य एक अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी है जो विशालकाय मगरमच्छ के भौहों पर अवस्थित रहता है। मगरमच्छ के मुंह में आते - जाते जंतुओं को देखकर सोचता है– यह कितना बेपरवाह है। यदि इसके स्थान पर मैं होता तो सारे जंतुओं को खा जाता। इस प्रकार के क्रूरता पूर्वक चिन्तन से वह नरकगामी बन जाता है।

राजा श्रेणिक ने काल सौकरिक कसाई (जो पांच सौ भैंसों का प्रतिदिन वध करता था) को अहिंसक बनाने का काफी प्रयत्न किया। खाली कुएं में डाल देने पर भी कालसौकरिक कायिक हिंसा तो नहीं कर सका किन्तु मानसिक हिंसा से बच भी नहीं सका। कुए में विद्यमान कीचड़ से वह भैंसें बनाता गया, मारता गया शाम तक एक-एक करके उसने पांच सौ भैंसें मारने के संकल्प को पूरा किया। कर्म शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार करें तो मात्र काययोग से मोहनीय कर्म का बंध उत्कृष्टत: एक सागर की स्थिति का हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय के साथ संपृक्त होने पर पचास सागर, चक्षु के मिलने पर सौ सागर, श्रौत्रेन्द्रिय का योग होने पर हजार सागर और यदि मन का योग हो गया तो उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर का कर्मबंधन हो सकता है।[37] मन की शक्ति असीम है।

बौद्ध दर्शन में भी कायिक और मानसिक हिंसा को स्वर्ण एवं मृन्मय घट से उपमित किया है। मिट्टी का घट फूटने पर कीमत नहीं रहती जबकि स्वर्णघट फूटने पर भी कीमत यथावत् रहती है वैसे ही कायिक क्रिया हेतु मात्र है। मानसिक क्रिया से प्रचुर कर्म-बंध होता है। मानसिक हिंसा वृक्ष के मूल जैसी है। वाचिक और कायिक हिंसा पत्ते एवं फल जैसी है।

(6) मृषा प्रत्ययिक– असत्यसम्भाषण या झूठ बोलना मृषाप्रत्यायिक क्रिया कहलाती हैं। इसके प्रेरक तत्व है– आवेश, आग्रह अथवा पारिवारिक स्वार्थ इत्यादि। इसके कारण व्यक्ति स्वयं झूठ बोलता है, दूसरों को झूठ बोलने के लिये प्रेरित करता है अथवा झूठ का समर्थन करता है। परिणाम स्वरूप पाप कर्म का बंध होता है और लोगों में अविश्वास पैदा होता है।[38]

(7) अदत्तादान प्रत्ययिक– अदत्त वस्तु के ग्रहण से जो क्रिया लगती है, वह अदत्तादान क्रिया है। चोरी सामाजिक अपराध है। चोरी स्वार्थ अथवा परिवार के सुख-

सुविधा जुटाने के लक्ष्य से की जाती है। व्यवधान न हो तो यह क्रिया छहों दिशाओं का स्पर्श करती है, व्यवधान होने पर तीन - चार या पांच दिशाओं का इसी प्रकार नरक आदि सभी दण्डकों के लिये ज्ञातव्य है। चोरी करना, दूसरों से करवाना तथा चोरी का समर्थन करना कर्म - बंध का कारण है।

(8) आध्यात्मिक प्रत्ययिक– यह एक प्रकार की मानसिक क्रिया है। मन में किसी प्रकार की दुर्भावना का प्रवेश ही पाप का कारण है। मानसिक लगाव और दुराव की प्रवृत्ति आध्यात्मिक क्रिया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बाह्य निमित्तों, कारणों, परिस्थितियों से व्यक्ति दु:ख की अनुभूति करता है, यह सत्य है किन्तु कभी-कभी अकारण ही चिन्तित और शोकाकुल हो जाता है। इसका कारण बाहर नहीं, आन्तरिक है। आधुनिक शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसका अन्त: स्रावी ग्रंथियों के स्रावों का असंतुलन है। कर्म शास्त्र की भाषा में असात वेदनीय कर्म का विपाकोदय है। इस क्रिया के प्रेरक तत्व हैं– क्रोध, मान, माया, लोभ। इनकी उत्पत्ति आत्मा में होती है इसलिये इन्हें आध्यात्मिक क्रिया कहा जाता है।[39]

(9) मान प्रत्ययिक– जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य आदि के मद से अथवा अन्य किसी कारण से उन्मत्त होकर दूसरों को जो तुच्छ समझता है, निंदा करता है, अपने को उच्च और दूसरे को तिरस्कृत करता है। वह मान प्रत्ययिक क्रिया का सेवन करता है। चूर्णिकार ने अपमान जनक निम्नोक्त क्रियाओं को मानप्रत्यायिक के अन्तर्गत गिनाया है।[40]

हीलना - दूसरों को लज्जित करने की वृत्ति।

निंदा - जाति, ऐश्वर्य आदि के निमित्त से दूसरों को मानसिक कष्ट देना।

खिंसना - घृणा करना

परिभव - किसी की अवज्ञा करना

गर्हा - जाति आदि को लेकर किसी को ऊंच - नीच बताना।

अवमानना - तिरस्कार करना, बड़ों के आने पर सम्मान न करना, तुच्छ आहार आदि देना, इत्यादि कार्यों से होने वाली क्रिया मान प्रत्ययिकी है।

वृत्तिकार का मानना है कि ये सब शब्द एकार्थक भी हो सकते हैं और अपेक्षा भेद से भिन्नार्थक भी।[41]

किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति अहंकार या मान कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से होता है। सभी जीवों में यह क्रिया होती है।[42] यदि कोई जाति आदि के अभिमान वश दूसरों का पराभव, तिरस्कार आदि करता है, वह गर्भ के पश्चात् गर्भ, जन्म के पश्चात् जन्म, मृत्यु के पश्चात् मृत्यु, नरक के पश्चात् नरक को प्राप्त होता है और जन्म-मरण की वृद्धि करता है।

(10) मित्रदोष प्रत्ययिक– मित्र, ज्ञाति आदि को ताप देने से जो क्रिया होती है वह मित्रदोष प्रत्ययिकी है।[43] परिवार के सदस्यों द्वारा छोटा सा अपराध हो जाने पर उन्हें भारी दंड देना जैसे– गर्म पानी से शरीर का सिंचन करना, अग्नि से शरीर को दागना, चमड़ी उधेड़ना, बेंत, रस्सी, छड़ी आदि से पीटकर लहुलुहान कर देना आदि। इस प्रकार की प्रवृत्ति से पारिवारिक क्लेश, दौर्मनस्य की वृद्धि तथा कर्मबंध होता है।[44]

(11) माया प्रत्ययिक– माया प्रत्ययिक का तात्पर्य छल-कपट से होने वाली प्रवृत्तियां है। मायाचार से जीविका उपार्जन करना, गला काटना, संधिच्छेद करना, दूसरों में विश्वास उत्पन्न कर ठगना। अपने अज्ञान को ढ़कने के लिये व्यर्थ शब्दाडम्बरों का प्रयोग करना ऐसी प्रवृत्तियों से कर्मबंध, मायाचार में वृद्धि और दुर्गति की प्राप्ति होती है।

(12) लोभ प्रत्ययिक– किसी व्यक्ति या पदार्थ के प्रति कामना, लिप्सा, लालसा, आसक्ति और मूर्च्छा इत्यादि के कारण होने वाली क्रिया लोभ-प्रत्ययिकी है। आचारांग में लोभ के निम्नोक्त रूपों का निर्देश मिलता है।

जिजीविषा– जीने की कामना। प्राणियों में अनेक प्रकार की एषणाएं होती है, उनमें जिजीविषा प्रथम है। प्राणी जीने के लिये परिग्रह का संचय करता है, क्रूर-कर्म और हिंसा भी करता है।

प्रशंसा– आचारांग वृत्तिकार ने परिवन्दण शब्द का अर्थ प्रशंसा किया है। जीवन की पुष्टि या प्रशंसा के लिये हिंसात्मक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। [45]

मानन– सम्मान के लिये हिंसा की जाती है। आचारांग भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने 'मानन' शब्द पर दो दृष्टियों से विचार किया है–

(अ) सम्मान संपादित करने के लिये हिंसात्मक प्रवृत्ति करता है।

(ब) जो सम्मान नहीं करता, उसे लक्षित कर असम्मानित व्यक्ति हिंसात्मक प्रवृत्ति करता है। जैसे– प्रजा अपने राजा का वध-बंधन, सर्वस्व-अपहरण आदि करता है। ये सभी हिंसात्मक क्रियाएं हैं।

पूजन– जैसे सम्मान के लिये हिंसा की जाती है उसी तरह पूजा के लिये भी। मानन और पूजन शब्द में अन्तर है। अभ्युत्थान आदि करना मानन तथा अर्चना करना, तिलक लगाना आदि पूजन हैं।

जाति-मरण– जाति के दो अर्थ है– जाति समुदाय। और जाति जन्म। सदृश्यता के आधार पर बनने वाले वर्ग को जाति कहा जाता है किन्तु यहां जन्म अर्थ ही प्रासंगिक है, मरण का अर्थ है– मृत्यु। जन्म-मरण के निमित्त से होने वाला कर्म समारंभ प्रत्यक्ष है।

मोचन– इसका अर्थ है– मुक्त या स्वतंत्रता। व्यक्ति बंधन से मुक्त होने के लिए कर्म - समारंभ करता है। हिंसावादी लोग इस दिशा में तत्पर है। चूर्णिकार ने 'भोयणाए' के स्थान पर 'मोयणाए' पाठ स्वीकार किया है। जो प्रस्तुत प्रसंग में अधिक न्याय संगत लगता है। मनुष्य भोजन के लिये कृषि आदि कर्मों में प्रवृत्त होते है। मनोविज्ञान के आधार पर आहार की गवेषणा मौलिक मनोवृत्ति हैं।

दुख:प्रतिकार– इस प्रकार प्राणी शारीरिक और मानसिक दु:खों के निवारण के हेतु नाना प्रकार से कर्म-समारंभ करता है। यह प्रवृत्ति का महान् स्रोत है। आचारांग में हिंसा के जनक उपर्युक्त प्रेरक-तत्वों की विशद संकलना है। कई चर्म, मांस, रक्त, हृदय, दांत, नख, आंख, अस्थि-मज्जा आदि के अनेक प्रयोजनों से हिंसा करते हैं। कई लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा में प्रवृत्त होते है।[46] कृषि, बावड़ी, कुआ, सरोवर, तालाब, भित्ति, स्तूप वेदिका, प्रसाद, भवन, घर, शयन, दुकान, भूमिगृह, देवालय, प्रतिमा चित्रशाला, मण्डप, घट आदि विविध कारणों से प्रेरित हो पृथ्वीकाय की हिंसा करते हैं।[47]

कई रस लोलुप मधु के लिए मधु - मक्खियों की, शारीरिक दुविधा मिटाने खटमल, मच्छर, रेशमी वस्त्र के लिये कीड़ों की घात करते हैं।[48]

कई व्यक्ति धान्य पकाने के लिये, अन्य से पकवाने के लिये,दीपक जलाने और बुझाने के लिये अग्नि की हिंसा करते हैं।[49]

कई व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक के लिये, स्त्री पुरूष, नपुंसक के लिये, काम-भोग के लिये अथवा अर्थ, काम और धर्म के लिये, स्ववश या परवशता से, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन ही त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते है।[50]

हिंसा में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दोषों को नहीं देखकर, जो उसमें रंजित हो जाता है, आचारांग में उस हिंसक को आर्त्त, परिजीर्ण, दुः संबोध और अविज्ञायक कहा है।[51]

(13) ईर्यापथिकी क्रिया– ईर्यापथिकी क्रिया पुण्य कर्म-बंध का कारण है। यह क्रिया केवल वीतराग के ही होती है। ऐर्यापथिकी क्रिया के लिए आवश्यक साधना निम्नानुसार है–

(i) आत्म भाव में रमण, परभाव से विरति

(ii) इन्द्रिय सुखों की निवृत्ति

(iii) बाह्य– आभ्यन्तर संयोगों का परित्याग

(iv) यतना पूर्वक समिति की आराधना

(v) मन - वचन - काया की गुप्ति से युक्त

दूसरा वर्गीकरण

ठाणांग सूत्र पर आधारित 72 क्रियाएं संक्षेप में निम्नानुसार है–

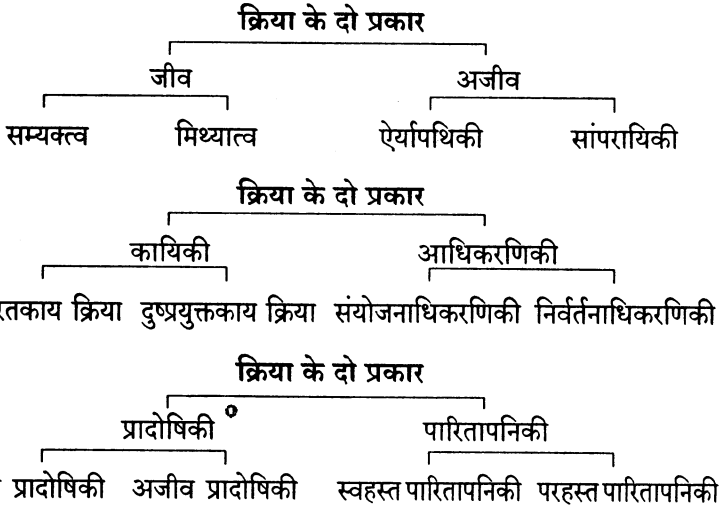

क्रिया के दो प्रकार

- प्राणातिपात क्रिया
  - स्वहस्त प्राणातिपात क्रिया
  - परहस्त प्राणातिपात क्रिया
- अप्रत्याख्यान क्रिया
  - जीव अप्रत्याख्यान क्रिया
  - अजीवअप्रत्याख्यान क्रिया

क्रिया के दो प्रकार

- आरंभिकी क्रिया
  - जीव आरंभिकी
  - अजीव आरंभिकी
- पारिग्राहिकी क्रिया
  - जीव पारिग्राहिकी
  - अजीव पारिग्राहिकी

क्रिया के दो प्रकार

- माया प्रत्यया
  - आत्मभाव वंचना
  - परभाव वंचना
- मिथ्यादर्शन प्रत्यया
  - अनातिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्यया
  - तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्यया

क्रिया के दो प्रकार

- दृष्टिजा
  - जीव दृष्टिजा
  - अजीव दृष्टिजा
- स्पृष्टिजा
  - जीव स्पृष्टिजा
  - अजीव स्पृष्टिजा

क्रिया के दो प्रकार

- प्रातीत्यिकी
  - जीव प्रातीत्यिकी
  - अजीव प्रातीत्यिकी
- सामन्तोपनिपातिकी
  - जीव सामन्तोपनिपातिकी
  - अजीव सामन्तोपनिपातिकी

क्रिया के दो प्रकार

- स्वाहस्तिकी
  - जीव स्वाहस्तिकी
  - अजीव स्वाहस्तिकी
- नैसृष्टिकी
  - जीव नैसृष्टिकी
  - अजीव नैसृष्टिकी

क्रिया के दो प्रकार

- आज्ञापनी
  - जीव आज्ञापनी
  - अजीव आज्ञापनी
- वैदारिणी
  - जीव वैदारिणी
  - अजीव वैदारिणी

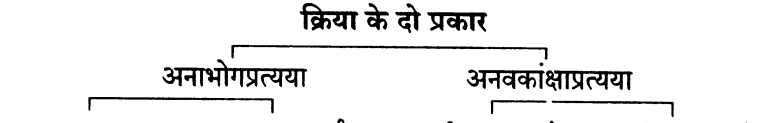

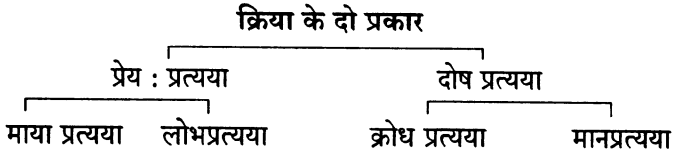

तृतीय वर्गीकरण

तत्त्वार्थसूत्र पर आधारित पच्चीस क्रियाएं निम्नानुसार है–

1. सम्यक्त्व क्रिया
2. मिथ्यात्व क्रिया
3. प्रयोग क्रिया
4. समादान क्रिया
5. ईर्यापथ क्रिया
6. कायिकी क्रिया
7. आधिकरणिकी क्रिया
8. प्रादोषिकी क्रिया
9. पारितापनिकी क्रिया
10. प्राणातिपातिकी क्रिया
11. दर्शन क्रिया
12. स्पर्शन क्रिया
13. प्रात्ययिकी क्रिया
14. समन्तानुपातन क्रिया
15. अनाभोग क्रिया
16. स्वहस्त क्रिया
17. निसर्ग क्रिया
18. विदारण क्रिया
19. आज्ञाव्यापादिकी (आनयन) क्रिया
20. अनवकांक्षा क्रिया
21. आरम्भ क्रिया
22. पारिग्रहिकी क्रिया
23. माया क्रिया
24. मिथ्यादर्शन क्रिया
25. अप्रत्याख्यानक्रिया

अन्य क्रियाएं

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार क्रिया की व्याख्या के संदर्भ में दो परम्परा रही हैं। एक परम्परा आगमिक व्याख्या के परिपार्श्व की है जिसका अनुसरण स्थानांग के वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने किया है। दूसरी परम्परा तत्त्वार्थ भाष्य के आधार पर विकसित हुई है। इस परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों के आचार्य लगभग समान रेखा से गुजर रहे हैं।

सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता पूज्यपाद देवनंदी, तत्त्वार्थवार्तिक के कर्ता आचार्य अकलंक, श्लोक वार्तिक के कर्ता आचार्य विद्यानंद– तीनों दिगम्बर आचार्य है, इनका एक विचार होना आश्चर्य नहीं किन्तु तत्त्वार्थ के टीकाकार हरिभद्रसूरि, भाष्यानुसारिणी के कर्ता सिद्धसेनगणी, दोनों श्वेताम्बर आचार्य हैं फिर भी इन्होंनें व्याख्या की एकरूपता का निर्वाह किया है। सिद्धसेनगणी तत्त्वार्थ की व्याख्याओं का अनुसरण करते हुए भी स्थानांग वृत्तिगत व्याख्या के प्रति जागरूक रहे हैं।

आगमों के अवलोकन से क्रियाओं की संख्या 27 भी मिलती है। 27 क्रियाओं में एक परम्परा 'प्रेमक्रिया' और 'द्वेषक्रिया' को छोड़ देती है। दूसरी परम्परा उन्हें स्वीकार कर सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की क्रिया का वर्जन करती है। इस दृष्टि से दोनों 25 क्रियाओं पर एक मत हो जाते हैं। 25 क्रियाओं में 5-5 क्रियाओं के आधार पर पंचक की कल्पना की गई है। जिनका विवेचन निम्नानुसार है–

कायिकी क्रियापंचक

जैन धर्म केवल प्रवृत्ति प्रधान धर्म नहीं है, उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय है। दोनों का प्रतिनिधित्व करते है– आश्रव और संवर। आश्रव बंध और संवर मोक्ष का हेतु है किन्तु आश्रव का सम्बन्ध प्रवृत्ति से, संवर का निवृत्ति से है। अध्यात्म साधना के प्रारंभ काल में दोनों रहते हैं। साधना की सर्वोच्च स्थिति प्राप्त होने पर प्रवृत्ति का वलय टूट जाता है, शेष रहती है केवल निवृत्ति।

प्रवृत्ति शुभ– अशुभ उभय रूप है। प्रज्ञापना वृत्ति के अनुसार क्रिया का सम्बन्ध अशुभ प्रवृत्ति से है। क्रिया का मुख्य हेतु शरीर है। अत: हिंसा-अहिंसा की सीमा को भिन्न-भिन्न समझने के लिये कायिकी आदि क्रियाओं के पंचक का वर्णन मननीय है। इसमें कायिकी, प्राणातिपातिकी, पारितापनिकी, प्रादोषिकी और अधिकरणिकी इन पांच क्रियाओं का परिणमन किया गया है–

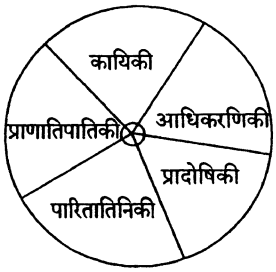

1. कायिकी (Physical Enthusiasm)

जो उपचय रूप हो, वह काया है। काया सम्बन्धी या काया द्वारा की गई क्रिया कायिकी है।[52] केवल स्थूल या कार्य करने का क्षण ही क्रिया नहीं है अपितु कार्य करने की जो आन्तरिक इच्छा, अभिलाषा या आकांक्षा है, वह भी क्रिया है। इस आधार पर कायिकी क्रिया को दो भागों में विभक्त किया गया है। पूछा गया– 'काइया णं भंते! किरिया कइविहा पन्नत्ता? गोयमा ! दुविहा पन्नता। तं जहा- अनुवरयकाइया य दुप्पउत्तकाइया च''।[53]

गौतम और मण्डित पुत्र द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर ने बताया– क्रिया के अनुपरत कायिकी और दुष्प्रयुक्त कायिकी ये दो भेद है।

1. अनुपरत कायिकी– देशतः सावद्य, सर्वतः सावद्य योगों से जो विरत हो, वह उपरत है। जो उपरत-विरत न हो वह अनुपरत है। अर्थात् काया संबंधी प्राणातिपातादि से देशतः या सर्वतः विरत-निवृत्त न होना- अर्थात् विरति रहित व्यक्ति की काया की प्रवृत्ति अनुपरत कायिकी क्रिया है। यह क्रिया अविरत को लगती हैं।

2. दुष्प्रयुक्त कायिकी– काया आदि का दुष्ट प्रयोग करना, यह क्रिया प्रमत्त संयमी को लगती है क्योंकि प्रमत्त होने पर काया का दुष्प्रयोग संभव है। इन्द्रिय और मन के विषयों में आसक्त व्यक्ति की काय-प्रवृत्ति दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया है।

भगवती[54] और प्रज्ञापना[55] वृत्ति के अनुसार स्वामित्व की दृष्टि से अनुपरत कायिकी क्रिया अविरत व्यक्ति के होती है। जबकि दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया अविरत और विरत दोनों के होती है। हरिभद्र सूरि का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार अनुपरत क्रिया मिथ्यादृष्टि के शरीर से होने वाली क्रिया है। दुष्प्रयुक्त कायिकी प्रमत्त संयति के द्वारा होनेवाली क्रिया है।[56]हरिभद्र का यह अभिमत संगत नहीं लगता। यदि मिथ्यादृष्टि की क्रिया को अनुपरत कायिकी क्रिया माना जाये तो अविरत सम्यक् दृष्टि, देशविरत की असंयत क्रिया को क्या कहेंगें।[56(अ)] इस विषय में कोई निर्देश नहीं मिलता, इसलिये यही उपयुक्त है कि मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग् दृष्टि और देशविरत की क्रिया अनुपरत कायिकी है और प्रमत्त संयति की दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया है। जिनका कायादि व्यापार दुष्प्रयुक्त है अथवा जिनकी इष्ट-अनिष्ट विषय प्राप्ति में किंचित् भी संवेग-निर्वेद की भावना नहीं है उनकी क्रिया दुष्प्रयुक्त कायिकी है। प्रमत्त संयत के भी काया का अशुभ

व्यापार संभव है। स्थानांग के टीकाकार के अनुसार मानसिक अशुभ संकल्प द्वारा मोक्ष मार्ग के प्रति उपेक्षा रखने वाले प्रमत्त संयत की कायिकी क्रिया भी दुष्प्रयुक्त है।[57]

आचार्य अकलंक ने कायिकी क्रिया का अर्थ प्रद्वेष युक्त व्यक्ति का शारीरिक उद्यम किया है।[58]हरिभद्र ने प्रमत्त संयत की क्रिया को दुष्प्रयुक्त माना है किन्तु विरति की अपेक्षा मुनि हिंसक नहीं होता। कारण वह सर्व पापविरति का पालन करता है। प्रमत्तसंयम (छठे गुणस्थान-वर्ती) कभी प्रमादवश दुष्प्रवृत्ति कर लेता है, वह हिंसा है।[59] प्रत्याख्यानीय मोहोदय में सर्वविरति संभव नहीं। प्रत्याख्यानीय चारित्र मोह का विलय सबका समान नहीं होता। इसमें शक्यता-अशक्यता के आधार पर तीन पक्ष बनते हैं।

देश से या सर्व से जो सावद्य योग से निवृत्त नहीं हुआ है उसकी कायिक प्रवृत्ति अनुपरत क्रिया है। यह क्रिया अविरति की अपेक्षा से है। देश या सर्व विरति की अपेक्षा से नहीं।[60] दुष्प्रवृत्ति की दृष्टि से पुरूष निरन्तर सक्रिय रहता है। अविरति सूक्ष्म अचेतन स्तर की क्रिया है। दुष्प्रवृत्ति स्थूल चेतन स्तर पर होने वाली क्रिया है।

2. आधिकरणिकी (Using instruments of destruction)

क्रिया का दूसरा माध्यम है अधिकरण। इसका सम्बन्ध शस्त्र आदि हिंसक उपकरणों के संयोजन और निर्माण से है।[61] हिंसादि पाप क्रियाओं की हेतुभूत वस्तु अधिकरण हैं। उसके दो पक्ष है– आन्तरिक और बाह्य। शरीर, इन्द्रियां आन्तरिक अधिकरण है। यंत्र, शस्त्र आदि पौद्गलिक साधन बाह्य अधिकरण है। अविरत व्यक्ति का शरीर भी अधिकरण है।[62]

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों के कर्ता अविरत होते हैं इसलिये उन्हें हिंसा कर्मकारी कहा है। प्रज्ञापना[63] स्थानांग[64] भगवती[65] में आधिकरणिकी क्रिया के दो प्रकार बताये हैं– (अ) संयोजनाधिकरणिकी और (ब) निर्वर्तनाधिकरणिकी ।

(अ) संयोजनाधिकरणिकी– संयोजन का अर्थ है– जोड़ना। यंत्र, शस्त्र आदि के पुर्जों को मिलाना। जैसे हल के अलग-अलग हिस्सों को जोड़कर हल तैयार किया जाता है वैसे ही पशु-पक्षियों के मारक शस्त्र आदि सभी पुर्जे मिलाकर एक करना। इसी प्रकार किसी पदार्थ में विष मिलाकर मिश्रित पदार्थ तैयार करना। इन सब क्रियाओं का समावेश संयोजन शब्द में हो जाता है। ये क्रियाएं संसार की हेतु है। इनके निमित्त से होने वाली क्रिया संयोजनाधिकरणिकी क्रिया है।[66]

(ब) निर्वर्तनाधिकरणिकी– किसी मारक यंत्र, शस्त्र आदि का नया निर्माण करना।[67] शस्त्र-निर्माण का हेतु अविरति और दुष्प्रवृत्ति दोनों है। यदि कायिकी क्रिया न हो तो आधिकरणिकी क्रिया संभव नहीं होती। शस्त्र-निर्माण की पृष्ठभूमि में कार्य करती है– अविरति और निर्माण की प्रक्रिया है– दुष्प्रवृत्ति। तलवार, शक्ति, भाला, तोमर आदि शस्त्रों का निर्माण अथवा पांच प्रकार के औदारिकादि शरीर को उत्पन्न करना भी निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया है क्योंकि अशुभ प्रवृत्तिमय शरीर भी संसार वृद्धि का हेतु है।[68] तात्पर्य यह है कि निर्मित अधिकरणों से संयोजनाधिकरणिकी और निर्मियाण (भविष्य में बनने वाले) अधिकरणों से निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया होती है।

शस्त्र का अर्थ केवल आयुध ही नहीं अपितु हिंसा का भाव भी शस्त्र है। अविरति या असंयम हिंसा है। यह वर्तमान में हिंसारूप प्रतीत नहीं होती है। किन्तु हिंसा इनके अभाव में संभव नहीं हैं। हिंसा का मूल कारण क्रूरता, अविरति आदि भाव ही हैं।

हिंसा के उपकरणों का नाम द्रव्य शस्त्र है और हिंसात्मक मनोभाव का नाम भाव शस्त्र है। भाव शस्त्र स्थूल स्तर पर मृत्यु का कारण नहीं हैं किन्तु यह इस प्रकार के कर्म बंध का कारण है जिसका परिणाम मृत्यु हो सकती है।

(1) स्वकाय शस्त्र– जैसे– पृथ्वी द्वारा पृथ्वी के जीवों का प्रतिघात।

(2) परकाय शस्त्र– जैसे–पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से पृथ्वी का प्रतिघात।

(3) उभय शस्त्र– जैसे– पृथ्वी और अन्य वस्तु दोनों द्वारा पृथ्वी का अपघात।

शस्त्र विवेक के बिना अहिंसा की गहराई को मापा नहीं जा सकता। इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में अरबों का व्यय हो रहा है। इस आधिकरणिकी क्रिया का संभागी कौन ? निर्माण कर्ता या निर्देश कर्ता ?

जैनागम के अनुसार हिंसा के तीन स्रोत हैं– कृत, कारित और अनुमोदित। जब तक इन तीनों में से किसी एक से भी व्यक्ति जुड़ा हुआ है तब तक उसकी संभागिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: हिंसक शस्त्रों के निर्माण का निर्देश देने वाला हिंसा का भागी है तो निर्माण कर्ता भी। इतना ही नहीं, वह व्यक्ति जो हिंसा स्वयं नहीं करता और न हिंसक साधनों का निर्माण ही करता है किन्तु हिंसात्मक गतिविधियों को समर्थन देता है वह भी उतना ही हिंसक है जितने पूर्ववर्ती निर्देश कर्ता और निर्माण कर्ता। यह स्पष्ट ही है कि समर्थन या अनुमोदन से हिंसक घटनाओं और व्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।

3. प्रादोषिकी (Malicious activity)

क्रिया का तीसरा प्रकार है– प्रदोष अर्थात् क्रोधावेश। प्रदोष का अर्थ स्थानांग वृत्तिकार ने 'मत्सर' किया है उससे होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी है।[69]

आचार्य अकलंक के अनुसार प्रदोष का अर्थ क्रोधावेश है [70(क)] क्रोध अनिमित्तक होता है। जबकि प्रदोष निमित्त से ही होता है। क्रोध और प्रदोष में यही अंतर है।[70(ख)] महात्मा गांधी ने भी सभी प्रकार की असभ्यताओं, अशिष्टताओं, दुर्भावनाओं को हिंसा कहा।[71]

इस क्रिया में विद्वेष भावना प्रबलतम होती है। अकुशल परिणाम कर्म-बंध का मुख्य कारण माना गया है। मनुष्य क्रोधावेश जन्य क्रिया का प्रयोग कभी अपने पर, कभी दूसरे पर और कभी एक साथ दोनों पर करता है। यह जीव प्रादोषिकी क्रिया है। क्रोध का प्रयोग अचेतन पदार्थों पर किया जाता है तब अजीव प्रादोषिकी क्रिया कहलाती है। स्थानांग वृत्तिकार ने जीव प्रादोषिकी और अजीव प्रादोषिकी का जो अर्थ किया है उसमें क्रोधावेश ही फलित होता है। प्रादोषिकी क्रिया के प्रकारान्तर से तीन कारणों का निर्देश भी मिलता है।[72]

(1) अपने निमित्त से किसी कार्य के बिगड़ जाने से स्वयं को ही गाली देना, छाती और सिर पीटना, आत्महत्या करना आदि।

(2) दूसरे निमित्त से होने वाली गलती के कारण दूसरे पर द्वेष करना, उसे पीटना, मारना आदि।

(3) दोनों के निमित्त से अपने और दूसरे पर प्रद्वेष करना।

प्रदोष के अग्रिम चरण दो हैं– परिताप और प्राणातिपात। अविरति हिंसा का मूल कारण है। शस्त्र उसका बाहरी कारण है। प्रद्वेष हिंसा का आन्तरिक कारण है। परिताप और प्राणातिपात उसके परिणाम हैं।

4. पारितापनिकी क्रिया (Torturous activity)

दूसरों को परितापन देने वाली क्रिया पारितापनिकी है। परितापना का अर्थ है- अत्यन्त दुःखद -व्यवहार करना, जिसमें किसी की मृत्यु की संभावना हो।[73क] स्व - पर के भेद से वह दो प्रकार की है– [73(ख)]

(1) स्वहस्त पारितापनिकी, (2) परहस्त पारितापनिकी।

(1) स्वहस्त पारितापनिकी– मनुष्य स्वयं अपने हाथ से स्वयं को पीड़ित करता है, दूसरों को पीड़ित करता है अथवा दोनों को पीड़ित करता है, वह स्वहस्त पारितापनिकी क्रिया है। सिद्धसेनगणी के अभिमत से स्त्री-पुत्रादि स्वजन के वियोगजनित शोक से संतप्त होकर सिर पीटना आदि स्वहस्त परितापनिकी है। इससे अशुभ कर्म का बंध होता है। अपने सामर्थ्य के अनुसार तपस्यादि करना शरीर को परिताप देना नहीं है। परिताप की अनुभूति हो, वहां तपस्या का स्वरूप बदल जाता है।

(2) परहस्त पारितापनिकी– दूसरे के हाथ से स्वयं को, किसी दूसरे को या दोनों को पीड़ा पहुंचाना परहस्त पारितापनिकी क्रिया है।

5. प्राणातिपातिकी क्रिया (Murderous activity)

प्राण का वियोजन करना प्राणातिपातिकी क्रिया है। जीव के सामान्य से सामान्य कष्ट पहुंचाने से लेकर प्राण-वियोजन करने तक की सभी क्रियाओं के निमित्त प्राणातिपातिकी क्रिया होती है। प्राण का अतिपात स्वयं करें या दूसरों से करवाये, दोनों प्राणातिपात है। प्राणातिपात के दो रूप हैं– 1. कायिकी आदि क्रिया-पंचक। 2. अठारह पाप-स्थान में। इस पंचक में प्राणातिपात का तात्पर्य प्राणवियोजन से है।

पाप-स्थान रूप प्राणातिपात में पांच इन्द्रिय, तीन बल, उच्छ्वास-नि:श्वास तथा आयुष्य, इन दस प्राणों में से कोई एक, अनेक या सबका वियोग करना प्राणातिपात है। दु:ख देना, संक्लेश पैदा करना, वध करना प्राणातिपात है।

पारिताप और प्राणातिपात दोनों का सम्बन्ध जीव से है। हिंसा का सम्बन्ध जीव-अजीव दोनों से है।[73(ग)] प्राद्वेषिकी क्रिया जीव-अजीव दोनों से सम्बन्धित हैं। द्वेष अजीव पर भी हो सकता है किन्तु प्राणातिपात और पारिताप अजीव के नहीं होता। प्राणातिपात का विषय षड्-जीवनिकाय है।

प्राणातिपात की पृष्ठभूमि में प्रादोषिकी क्रिया है। कुछ लोगों की अवधारणा में अनशन भी आत्महत्या है, किन्तु यह समीचीन नहीं है। अनशन करने का उद्देश्य आत्महत्या नहीं, समाधि की साधना है। साधना का उपसंहार प्राण-वियोजन के रूप में होता है, किन्तु यह उसका मूल लक्ष्य नहीं है। वस्तुत: जिसके पीछे प्रादोषिकी क्रिया जुड़ी हुई हो, आत्म-हत्या उसे कहा जाता है। आवश्यक सूत्र के इरियावहियं सुत्तं में हिंसा की क्रियाओं का व्यवस्थित वर्णन है–

अभिहया (अभिहता:)	आघात पहुंचाना।
वत्तिया (वर्तिता:)	रज आदि से आच्छादित करना।
लेसिया (श्लेषिता:)	भूमि आदि पर मर्दन करना।
संघाइया (संघाताता:)	जीवों का संग्रह करना।
संघट्टिया (संघट्टिता:)	स्पर्श करना।
परियाविया (परितापिता:)	परिताप पैदा करना।
किलामिया (क्लामिता:)	मृतप्राय: कर देना।
उद्दविया (उद्रापिता:)	आतंकित करना।
ठाणाओ ठाणं संकामिया (स्थानात् स्थानं संक्रामिता)	एक स्थान से दूसरे स्थान पर अयत्ना से रखना।
जीवियाओ ववरोविया (जीवितात् व्यपरोपिता :)	प्राण रहित कर देना।

सामान्य पीड़ा से लेकर प्राण-वियोग तक ये क्रियाएं दैनिक जीवन में घटित होती रहती हैं। हिंसा का कार्य तीन भूमिकाओं पर सम्पादित होता है -

(1) कायिक व्यापार में तत्परता और अधिकरणों का अधिग्रहण– यह प्रथम भूमिका है।

(2) पारिताप देना, पीड़ा पहुंचाना– यह दूसरी भूमिका है।

(3) प्राणों का व्यपरोपण करना– यह तीसरी भूमिका है।

आगमिक भाषा में उपर्युक्त भूमिकाओं को इस प्रकार व्याख्यायित किया जाता है

संरम्भ – हिंसा का संकल्प, हिंसा करने का आयोजन।

समारम्भ – पारिताप उत्पन्न करना।

आरम्भ – प्राणों का अतिपात करना।

हिंसा की क्रिया को संक्षेप में दो भागों में भी विभक्त किया गया है– पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी।

उपर्युक्त क्रिया पंचक के संदर्भ में जहां तक जीव की सक्रियता और अक्रियता का प्रश्न है, जीव सक्रिय एवं अक्रिय दोनों प्रकार का होता है। जीव दूसरे जीव की अपेक्षा त्रिक्रिय, कदाचित् चतुष्क्रिय, कदाचित् पंचक्रिय होता है।[74]तीन क्रियाएं प्रत्येक अविरत प्राणी में अवश्यंभावी हैं। किसी को कष्ट देने पर वह चार और प्राणघात करने पर पांच क्रियाओं से भी स्पृष्ट होता है। असंयम पूर्वक उठाये गये कदम से दो क्रियाएं लगती हैं। तीसरी क्रिया का सम्बन्ध राग-द्वेषात्मक वृत्ति से है। जिस प्रकार वर्तमान जीवन की अपेक्षा से क्रिया होती है उसी प्रकार अतीतकालीन जीवन की अपेक्षा से भी क्रिया होती है। अतीत का शरीर या उसका कोई अंग हिंसा में व्यापृत होता है तो वह उस हिंसा का अधिकरण कहलाता है। उसके कारण से जीव पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।[75]उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति ने बाण फैंका। हिरण मरा। बाण फैंकने वाले को तो पांच क्रियाएं लगती ही है किन्तु जिन जीवों के शरीर से बाण का निर्माण हुआ वे जीव भी पांच क्रियाओं से लिप्त होते हैं।[76] यद्यपि यह बात सहज बुद्धिगम्य नहीं है किन्तु जैनागम इसका आधार है।

भगवती वृत्तिकार ने भी प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि अचेतन शरीर से भी कर्म का बंध हो तो मुक्त जीवों का शरीर भी प्राणातिपात का हेतु बन सकता है। वनस्पति के जीवों के शरीर से पात्र आदि धार्मिक उपकरणों का निर्माण होता है। उनसे जीव रक्षा भी की जाती है अत: वनस्पति के जीवों को पुण्य-कर्म का बंध होना चाहिये।

इस संदर्भ में विचार यह है कि कर्मबंध का सम्बन्ध मूलत: अविरति से है। अविरति का परिणाम जैसे हिंसक पुरुष में है वैसे ही उन जीवों में है जिनके शरीर से धनुष्य आदि बना है। अविरति की दृष्टि से पाप-कर्म की क्रिया मानी गई है, न कि शरीर से संबंध होने मात्र से। मुक्त जीवों में अविरति नहीं है। इसलिये उनका शरीर यदि प्राणातिपात का निमित्त बने तो भी उनके कर्म-बंध नहीं होता। उसी प्रकार जिन जीवों के शरीर से पात्र आदि का निर्माण हुआ, उनमें पुण्य का हेतुभूत विवेक नहीं है। अत: उनके पुण्य-बंध नहीं होता।

पाप की हेतुभूत अविरति निरन्तर रह सकती है किन्तु पुण्य की हेतुभूत शुभ प्रवृत्ति निरन्तर नहीं रहती। यह विवेक या प्रयत्न जन्य होती है। वृत्तिकार की समीक्षा कुछ आलोचनीय भी है। अविरति का परिणाम धनुर्धर और जिनके शरीर से धनुष्य आदि बनाया गया, उन जीवों में समान हो सकता है किन्तु कर्म-बंध का हेतु केवल अविरति का परिणाम ही नहीं, शरीर और मन का दुष्प्रयोग भी साथ में संपृक्त है।

कायिकी क्रिया के दो भेद अनुपरत और दुष्प्रयुक्त इसे स्पष्ट करते हैं। धनुर्धर के काया का योग अशुभ है। अत: उसके उक्त दोनों क्रियाएं होती हैं। बाण निर्वर्तक शरीर वाले जीवों के केवल अनुपरत क्रिया होती है, दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया नहीं। शेष क्रियाएं भी उन जीवों को इसलिये स्पृष्ट करती हैं कि उनके परिताप देने आदि का त्याग नहीं है। बाण फेंकने वाले का मनोयोग और काययोग– दोनों परिताप, प्राणातिपात आदि में प्रवृत्त हैं और अविरति और अशुभयोग दोनों कर्मबंध के हेतु हैं।

प्रश्न है अविरति का संबंध उन दोनों से है जिनके शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण हुआ और जिनके शरीर से नहीं हुआ, फिर क्रिया का उल्लेख उन जीवों के लिए ही क्यों जिनके शरीर से धनुष्य आदि बने हैं ? इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक जिनके प्रत्याख्यान नहीं होता उनके अविरति से क्रिया लगती है और जिन जीवों के शरीर से धनुष्य आदि बना, उनका अपने-अपने शरीर से ममत्व का अनुबंध टूटा नहीं है इसलिये उनके क्रिया से स्पृष्ट होने का उल्लेख है।

यहां ज्ञातव्य यह है कि किसी का त्यक्त शरीर हिंसा का निमित्त बनता है, इतने मात्र से वह हिंसा का भागी नहीं बनता अपितु पूर्व शरीर की आसक्ति से वह मुक्त नहीं है, इस कारण उसे आसक्ति रूप हिंसा का दोष लगता है न कि प्रवृत्ति रूप से।[77] अविरति की अपेक्षा जीव को अधिकरणी और अधिकरण भी कहा गया है। इस संदर्भ में गौतम - महावीर संवाद भी मननीय है–

गौतम– भंते ! कोई मृगजीवी, मृगवध का संकल्प लिये कूटपाश बांधता है। वह कितनी क्रियाओं से स्पृष्ट होता है ?

महावीर– गौतम ! स्यात् त्रिक्रिय, स्यात् चतुष्क्रिय, स्यात् पंचक्रिया से युक्त होता है !

गौतम– भंत ! किस अपेक्षा से यह कहा जाता है ?

महावीर– गौतम ! जो व्यक्ति कूटपाश की रचना करता है किन्तु न तो मृग को बांधता है, न मारता है, उस समय वह कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जो कूटपाश से मृग को बांधता है, पर मारता नहीं उसके प्राणातिपात के अतिरिक्त चार क्रियाएं होती हैं। जो कूट पाश से बांधकर मार देता है, उसके पांच क्रियाएं होती हैं।

इसी प्रकार बाण का आलापक भी ज्ञातव्य है। कोई व्यक्ति बाण फैंकता है। मृग को आहत करता है। प्राण हरण करता है, वह क्रमशः तीन-चार-पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। अग्नि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का आलापक है। घास का ढेर लगाना, अग्नि प्रक्षेप करना और उसे जला डालने वाला भी क्रमशः तीन-चार-पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

हिंसा के इस सूक्ष्म विवेचन में महावीर ने विभज्यवाद का प्रयोग किया है। उनके मत में प्राणवध करना ही हिंसा नहीं है अपितु उसके लिए प्रयत्न या चेष्टा करना भी कायिक क्रिया है, शस्त्र - प्रयोग आधिकरणिकी, द्वेषयुक्त भावना प्रादोषिकी, परिताप देना पारितानिकी और प्राणवध प्राणातिपातिकी क्रिया है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि व्याध मृग को मारने के लिये कूटपाश की रचना करता है। वह हिंसक है या नहीं ? समाधान विभज्यवाद के आधार पर ही किया जा सकता है। व्याध मारने के लिये प्रयत्नशील है इसलिये उसे अहिंसक नहीं कहा जाता और न तो वह मृग को परिताप दे रहा है, न मार रहा है तब मारने वाला भी नहीं कहा जा सकता। हिंसा एक परम्पराबद्ध प्रवृत्ति है। मानसिक द्वेष, कायिक चेष्टा और शस्त्र - प्रयोग ये सब हिंसा की कड़ियां हैं। परिताप और प्राणवध हो या न हो, हिंसा के लिये उद्यत व्यक्ति भी हिंसक ही है।

सूत्रकार ने इस मर्म का उद्घाटन किया कि परितापन और प्राणातिपात तो हिंसा है, उस दिशा में किया गया संकल्प, प्रणिधान, परिस्पंदन और वध की सामग्री का संग्रह भी हिंसा है।[78] वस्तुतः हिंसा की इस सूक्ष्म विचारणा पर ही क्रिया का सिद्धांत विकसित हुआ है। प्रारंभ में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्म-बंध की निमित्तभूत चेष्टा को क्रिया कहते हैं। इस संदर्भ में एक समस्या और है कि कोई पुरुष मृग मारने की दृष्टि से बाण चलाने की मुद्रा में है, उसी समय उसे कोई दूसरा आकर मार डालता है। उस म्रियमाण व्यक्ति के हाथ से बाण छूटा और मृग मर गया। वहां वधक किसे माना जाये ? धनुर्धर को अथवा उस मारने वाले को ? भगवती भाष्य के अनुसार धनुर्धर को मारने वाले का मृग को मारने का, संकल्प नहीं है। इसलिये वह धनुर्धर का ही वधक है, मृग का नहीं। हिंसा के अनेक विकल्प हैं। उनमें दो मुख्य हैं–

(अ) आभोगजनित हिंसा - संकल्प पूर्वक की जाने वाली।
(ब) अनाभोगजनित हिंसा - अज्ञात स्थिति में होने वाली।

इस प्रसंग में एक और भी प्रश्न है कि श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, अनजान में हिंसा हो जाये तो क्या उसके व्रत का अतिक्रमण होता है ?

भगवती[79] के आधार पर कहा जा सकता है कि अनजान में हुई हिंसा से श्रावक के व्रत का अतिक्रमण नहीं होता; क्योंकि वह संकल्पजनित हिंसा से निवृत्त हो चुका है। मिट्टी खोदते समय किसी त्रस जीव का मर जाना अनाभोगजनित हिंसा है संकल्प पूर्वक की गई हिंसा नहीं। इसी प्रकार संकल्प पूर्वक वृक्ष काटने का किसी श्रावक ने त्याग किया। मिट्टी खोदते समय किसी वृक्ष की जड़ कट गई यह अनाभोगजनित हिंसा है, संकल्प पूर्वक की गई हिंसा नहीं।

जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है– 'क्रियमाण कृत' (कडेमाणेकडे)– अर्थात् जो कार्य किया जा रहा है, उसे किया हुआ माना जाता है। धनुर्धारी व्यक्ति ने प्रत्यञ्चा पर बाण को चढ़ा दिया। प्रत्यञ्चा को खींचकर बाण को वर्तुलाकार बना दिया। बाण को फेंकने की तैयारी में था। उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार निसृज्यमान को निसृष्ट ही माना जाएगा। इसलिये वह धनुर्धर ही मृग का वधक होगा।[80]

उपर्युक्त चर्चा का मुख्य लक्ष्य वैर-बंध के कारण व स्वरूप का विमर्श है। गौण लक्ष्य क्रिया का विमर्श है। भगवती भाष्य में वैर-बंध के दो कारण हैं– आसन्नवध और अनवकांक्षावृत्ति। वधक-वध्य को मारता है तब वैर का बंध होता है। उस बंध के फल-स्वरूप वध्य निकट भविष्य में वधक को मार देता है।[81]

योग सूत्र में भी आसन्नकाल में कर्म-विपाक का उल्लेख है। महर्षि पतंजली ने दृष्ट जन्म वेदनीय और अदृष्ट जन्म वेदनीय की बात कही है।[82] वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने वध से होने वाले बंध को जघन्योदयी (शीघ्र उदय में आने वाला) कहा है।[83]

भगवती भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ के अभिमत से भी तीव्र संवेगजन्य पुण्य, तीव्र क्लेश-जन्य पाप सद्योविपाकी होता है।[83अ]

भगवती के नौवें शतक में वैर - स्पर्श की विस्तृत चर्चा है।[84] जो व्यक्ति पर प्राण से निरपेक्ष होकर वैर - बंध में प्रवृत होता है, वह अनवकांक्षण वृत्तिक है। अनवकांक्षण वृत्ति भी वैरानुबंधी वैर की निमित्त बन जाती है।

भगवान महावीर ने तत्त्व प्रतिपादन में निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों का प्रयोग किया है। इस आलापक में व्यवहार नय से हिंसा की समस्या पर चिंतन किया गया है। किसी व्यक्ति ने किसी पर शस्त्र का प्रहार किया, उस प्रहार से यदि वह

व्यक्ति छह मास की अवधि में मर जाता है तो प्रहारकर्ता पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। यदि छह मास के बाद मरता है तो प्राणातिपात क्रिया नहीं होती। प्राणातिपात को छोड़कर शेष चार क्रियाएं लगती हैं।

इसके पीछे तर्क यह है कि छह मास की अवधि में होने वाली मृत्यु प्रहार हेतुक है। उसके पश्चात् होने वाली परिणामकृत मृत्यु है।[85] वृत्तिकार के अनुसार यह नियम व्यवहार नय की अपेक्षा से है। निश्चय नय से प्रहार हेतुक मरण किसी भी अवधि में हो, उससे प्राणातिपात की क्रिया संभव हो जायेगी।[86] प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि छह मास की अवधि का ही निर्धारण क्यों किया गया ? शास्त्रकारों ने इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं किया। डॉ. सिकदर ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 299, 300 और 302 के साथ इस छह मास की अवधि वाले नियम का औचित्य बतलाया है।[86ख]

क्रिया के साथ तीन परिणमन जुड़े हुए हैं– प्राणातिपात का अतीतकालीन संस्कार, जो प्राणातिपात पाप-स्थान कहलाता है। वर्तमान में होने वाली प्राणातिपात की प्रवृत्ति जो प्राणातिपात क्रिया कहलाती है और प्राणातिपात से होने वाला कर्म-बंधन जो प्राणातिपात की परिणति कहलाता है।[87] गौतम के द्वारा पूछे गये प्रश्न और महावीर के दिये गये उत्तर इस तथ्य की पुष्टि करते हैं–

गौतम– अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ?

महावीर– हंता अत्थि।

गौतम– सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ ? अपुट्ठा कज्जइ ?

महावीर– गोयमा ! पुट्ठा कज्जइ, नो अपुट्ठा कज्जइ, जावनिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिया तिदिसिं, सिया चउदिसिं, सिया पंचदिसिं।

गौतम– सा भंते ! किं कडा कज्जइ ! नो अकडा कज्जइ।

गोयमा! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ सा भंते! किं अत्तकडा कज्जइ? परकडा कज्जइ? तदुभय कडा कज्जइ?

सा भन्ते! किं अत्तकडा कज्जइ? परकडा कज्जइ? तदुमय कडा कज्जइ?

महावीर– गोयमा ! सा अत्तकडा कज्जए, नो परकडा कज्जइ, नो तदुभय कडा कज्जइ।

भन्ते! क्या जीवों की प्राणातिपात क्रिया होती है? हां, होती है।

भन्ते! क्या वह स्पृष्ट होती है अथवा अस्पृष्ट होती है?

गौतम! यह स्पृष्ट होती है, अस्पृष्ट नहीं होती यावत व्याघात न होने पर प्राणातिपातक्रिया छहों दिशाओं में होती है, व्याघात होने पर तीन, चार अथवा पांच दिशाओं में होती है।

भन्ते! क्या वह कृत होती है? अथवा अकृत होती है?

गौतम! वह कृत होती है, अकृत नहीं होती।

भन्ते! क्या वह आत्मकृत होती है? परकृत होती है? अथवा अभयकृत होती है?

गौतम! वह आत्मकृत होती है, परकृत नहीं होती, अभयकृत भी नहीं होती।[88]

भगवती का यह संवाद स्पष्ट करता है कि जीव प्राणातिपात क्रिया करता है, वह स्पृष्ट होती है, अस्पृष्ट नहीं। यदि निर्व्याघात हो तो छहों दिशाओं से और सव्याघात हो तो कदाचित् तीन, चार, पांच दिशाओं से स्पृष्ट होती है। वह क्रिया आत्मकृत, परकृत या उभयकृत होती है। स्पृष्ट होने का अर्थ है प्राणातिपात करनेवाले से उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। क्रिया कृत होती है अकृत नहीं। यह जैन दर्शन के आत्म कर्तृत्ववादी सिद्धांत की पुष्टि करती है। क्रिया आनुपूर्वीकृत होती है, अनानुपूर्वीकृत नहीं होती। आनुपूर्वी का अर्थ है– क्रम और अनानुपूर्वी का अर्थ है– अक्रम, एक साथ न होना। जिसमें पूर्व और पश्चात् का विभाग न हो। एक समय में एक ही क्रिया होती है दो, तीन, चार नहीं। प्रत्येक क्रिया का अपना-अपना काल होता है। जहां कालगत क्रम है वहां आनुपूर्वीकृत होना अवश्यंभावी है।

प्राणातिपात क्रिया और चौबीस दंडक

नरक के जीव भी प्राणातिपात क्रिया करते हैं। वे नियमत: छहों दिशाओं से स्पृष्ट होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर वैमानिक तक के सभी जीव नैरयिक की भांति वक्तव्य हैं। एकेन्द्रिय सामान्य जीव की तरह वक्तव्य हैं।

क्रिया और कर्म-बंध

पन्नवणा के अनुसार जीव प्राणातिपात क्रिया से सात या आठ कर्म-प्रकृतियों का बंध करता है। आयुष्य सहित आठ का बंध करता है । यदि आयु का बंध पूर्व में हो चुका है तो सात कर्म प्रकृतियों का बंध करता है। नारक से वैमानिक तक जीवों के लिये एक ही नियम है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर सभी के तीन - तीन विकल्प हैं।

(अ) सात कर्म प्रकृति का बंध होता है।

(ब) कोई सात और कोई आठ का बंध करते हैं।

(स) अनेक सात और अनेक आठ कर्म का बंध करते हैं।

प्राणातिपात क्रिया के प्रकार

प्राणातिपात क्रिया के दो प्रकार हैं–1. स्वहस्त प्राणातिपात क्रिया 2.परहस्त प्राणातिपात क्रिया।

स्वहस्त प्राणातिपात क्रिया

"स्वहस्तेन स्वप्राणान् निर्वेदादिना परप्राणान् वा क्रोधादिना अतिपातयत: स्वहस्त प्राणातिपात क्रिया।"[89] निराशा अथवा क्रोधावेश में गिरिपतन, अग्नि-प्रवेश-जल प्रवेश या शस्त्रों से अथवा अपने हाथों से स्वयं का या दूसरों के प्राणों का हनन करना स्वहस्त प्राणातिपातिकी क्रिया है।

परहस्त प्राणातिपात क्रिया

दूसरे के द्वारा अपने या पराये प्राणों का अतिपात करना परहस्त प्राणातिपात क्रिया है। कायिकी आदि क्रिया पंचक को **'आयोजिका क्रिया'** भी कहा जाता है। **'आयोजयंति जीव संसारे इत्यायोजिका'** जीव को संसार से जोड़ने वाली क्रिया आयोजिका है।

जैन मान्यतानुसार संकल्पकृत और असंकल्पकृत हिंसा से होनेवाले कर्म-बंध में तारतम्य हो सकता है किन्तु किसी से बंधन हो और किसी से नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। संकल्प व्यक्त मन का परिणाम है। प्रमाद अव्यक्त चेतना का और अध्यवसाय सूक्ष्म मन का कार्य है। विरति के अभाव में स्थूल मन का संकल्प न होने पर भी जीव-वधजनित हिंसा होगी। बौद्धों ने बंध-अबंध का आधार संकल्प-असंकल्प को माना है। जैन दर्शन में प्रमाद-अप्रमाद, राग-द्वेषात्मक आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है।[90(क)] हिंसा से विरत न होना ही हिंसा है। प्रवृत्ति रूप हिंसा वर्तमान में होती है। किन्तु अविरति रूप हिंसा निरन्तर होती है। आचार्य भिक्षु ने इन्द्रियवादी की चौपाई में कहा–

हिंसा री अविरत निरन्तर हुवै, हिंसा रो जोग निरंतर नांही।
हिंसा रा जोग तो हिंसा करे जदि, विचार देखो भन मांही।।[90(ख)]

प्रश्न-जो प्रवृत्ति से रहित है, जिनका ज्ञान अव्यक्त है, ऐसे जीवों के लिये हिंसा कैसे संभव है ? इस संदर्भ में समाधान देते हुए कहा गया– अवसर, साधन और शक्ति

आदि कारणों के अभाव में वे हिंसा करने में समर्थ नहीं है किन्तु षड्-जीवनिकाय की हिंसा से विरत नहीं होने से उन्हें भी हिंसा लगेगी।

अव्यक्त चेतना वाले के पाप कर्म का बंध नहीं होता - यह कहना न्याय संगत नहीं। एक वधक किसी कारण से आक्रुष्ट होकर, गाथापति, राजा, राजकुमार की हत्या करने की खोज में है, अवसर उपलब्ध नहीं हुआ, घात नहीं कर सका, किन्तु घातक भावों के आधार पर वह हिंसक ही है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय हो या विकलेन्द्रिय, मिथ्यात्वादि आश्रवों से संयुक्त होने से प्राणातिपात आदि पापों से दूषित होते हैं।[90(ग)]

प्रश्न है कि हिंसा के भाव परिचित प्राणियों पर तो हो सकते हैं किन्तु जो प्राणी अपरिचित, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, बादर होते हुए भी अपर्याप्त हैं, ऐसे अनन्त प्राणी हैं जो देश-काल और स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं और जिनमें न प्रत्यक्ष संपर्क है, न परिचय, उनके प्रति हिंसा के भाव अकारण कैसे होगें ? इसलिये प्राणी मात्र के प्रति हिंसा के भाव की बात कहां तक तर्कसंगत है ?

इसका समाधान यह है कि हिंसा की सूक्ष्म गहराई तक पहुंच पाना सभी के लिए संभव नहीं है। उपर्युक्त हिंसा सूक्ष्म होने के साथ यथार्थ भी है। किसी ने पूरे गांव को समाप्त करने का संकल्प किया। वह हिंसा के लिए समुद्यत हो रहा है। उसी समय कुछ लोग गांव से अन्यत्र चले जाते हैं, उन्हें वह मार नहीं सका फिर भी वह उनका घातक है; क्योंकि उनके प्रति उसका हिंसा का संकल्प है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानी (अविरत) व्यक्ति दूरस्थ और सूक्ष्म प्राणियों का भी हिंसक है। हिंसा का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, भावों के साथ भी है। इसे स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण भी अप्रासंगिक नहीं होंगे। एक व्यक्ति पृथ्वीकाय के अतिरिक्त प्राणियों के आरंभ का त्याग करता है। वह पृथ्वीकाय का हिंसक है। पूछने पर वह यही कहेगा कि मैं पृथ्वीकाय का आरंभ करता हूं। उसने किसी लाल, पीली, काली आदि पृथ्वी-विशेष का त्याग नहीं किया इसलिए दूर या निकटवर्ती पृथ्वी मात्र का वह हिंसक माना जायेगा।

दूसरा प्रसंग असंज्ञी प्राणियों के सम्बन्ध में है जिनमें संज्ञा, तर्क किसी वस्तु के आलोचनात्मक तथा मननात्मक शक्ति का अभाव है। उनमें विशिष्ट प्रवृत्ति का भी अभाव है तथापि वे प्राणातिपातादि अठारह पापों से लिप्त होते हैं। वे दुःख, शोक और पीड़ा देने की भावना से मुक्त नहीं हैं। अत: अविरति के कारण असंज्ञी जीवों के भी कर्म-बंध का प्रवाह निरन्तर होता रहता है।

सारांश यह है कि किसी भी विषय में निर्णय करने की निश्चय और व्यवहार दो

दृष्टियां हैं। व्यवहार दृष्टि वस्तु के बाहरी स्वरूप तक सीमित रहती है। निश्चय दृष्टि की पहुंच आन्तरिक स्वरूप तक है। व्यवहार दृष्टि में लोक व्यवहार की प्रमुखता है जबकि निश्चय दृष्टि में वस्तु-स्थिति का आकलन किया जाता है। व्यवहार दृष्टि में जहां प्राण-वध है, वहां हिंसा है। जहां प्राण-वध नहीं है, वहां अहिंसा है। निश्चय दृष्टि से असत् प्रवृत्ति अर्थात् राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति हिंसा है। सत्प्रवृत्ति अहिंसा है। इन दृष्टियों के आधार पर हिंसा-अहिंसा की चतुर्भंगी बनती है–

(अ) द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा (ब) द्रव्य हिंसा और भाव अहिंसा
(स) द्रव्य अहिंसा और भाव हिंसा (द) द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा

राग-द्वेष वश होने वाला प्राणवध द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा है। एक शिकारी हिरण को मारता है– यह द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से हिंसा रूप पहला विकल्प है।

राग-द्वेष के बिना होनेवाला प्राणवध द्रव्य हिंसा किन्तु भाव अहिंसा है। एक संयमी पुरूष सावधानी पूर्वक चलता है, तथा आवश्यक दैहिक क्रियाएं भी करता हैं। उसके द्वारा अशक्य परिहार कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह व्यवहार में हिंसा है क्योंकि वह प्राणी की मृत्यु का निमित्त बनता है और वास्तव में अहिंसा है क्योंकि उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषात्मक नहीं है। राग-द्वेष युक्त विचार से प्राणी पर प्रहार करता है, प्राणवध नहीं होता, वह द्रव्य अहिंसा है किन्तु भाव हिंसा है।

उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने सांप देखा। मारने का संकल्प किया किन्तु मारा नहीं। उसने डंडा उठाया, सांप भाग गया, मारने में असमर्थ रहा, यह भी तीसरा विकल्प है। सांप को देखा पर मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। शुद्ध चिन्तन है कि निरपराध की हत्या क्यों करूं ? यह चौथा विकल्प है।

इस प्रकार द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के ये चार समीकरण बनते हैं। ये समीकरण विचित्र प्रतीत होते हैं। इन सबके पीछे मूल तथ्य यही है कि अविरत प्राणियों में भाव हिंसा अनिवार्य रूप से पाई जाती है। यह आवश्यक नहीं कि जहां भाव हिंसा हो वहां द्रव्य हिंसा हो ही। फलितार्थ यह है कि हिंसा में वाणी और शरीर का जितना योग होता है उतना मन का भी होता है।

हिंसा की तरह अहिंसा की भी अनेक कसौटियां हैं। सूत्रकृतांग में बौद्धों की अहिंसक मान्यताओं का उल्लेख है। अहिंसा के संदर्भ में तीन प्रश्न मुख्य हैं–

(अ) क्या जीव-वध होने से हिंसा होती है ?

(ब) क्या जीव-वध न होने पर हिंसा होती है ?

(स) क्या जीव-वध होने पर भी हिंसा नहीं होती ?

इन प्रश्नों पर चिंतकों ने अलग-अलग समाधान प्रस्तुत किये हैं। बौद्धों का उत्तर इस प्रकार है -1. सत्त्व है 2. सत्त्व - संज्ञा है 3. मारने का चिन्तन है 4. प्राणी मर जाता है। इन चारों की समन्विति होने पर हिंसा होती है, हिंसा-जन्य कर्म का उपचय होता है।[91] किस स्थिति में हिंसा नहीं होती, इसका भी सूत्रकृतांग में उल्लेख है। निर्युक्तिकार के अनुसार अबंधकारक चार अवस्थाएं हैं–

(अ) परिज्ञोपचित– केवल मानसिक पर्यालोचन से किसी प्राणी का वध नहीं होता।

(ब) अविज्ञोपचित– अज्ञात अवस्था में प्राणी का वध हो भी जाये तो हिंसाजनित कर्म का चय नहीं होता।

(स) ईर्यापथ– चलते समय कोई जीव मर जाता है, उससे हिंसा जन्य कर्म का संचय नहीं होता क्योंकि वहां मारने का अभिप्राय नहीं होता।

(द) स्वप्नान्तिक– स्वप्न में जीव-वध हो जाने पर भी हिंसा सम्बन्धी कर्म का चय नहीं होता। इन चारों से मात्र कर्म का स्पर्श होता है जो सूक्ष्म तंतु-बंधन की तरह तत्काल छिन्न हो जाता है अथवा सूखी दीवार पर चिपकने वाली धूल के समान शीघ्र ही नीचे गिर जाता है। जीव वध के प्रति कृत, कारित और अनुमोदित– इन तीनों का प्रयोग होने पर या किसी एक के प्रयोग होने पर भी कर्म का उपचय होता है। परिज्ञोपचित और अनुमोदन दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परिज्ञोपचित में केवल मानसिक चिन्तन है और अनुमोदन में दूसरे द्वारा किये जाने वाले जीव वध का समर्थन है।[92]

जैन मान्यता में हिंसा अहिंसा का मापदण्ड प्रमाद-अप्रमाद है। हिंसा का संकल्प हो या न हो, यदि प्रमाद की विद्यमानता है तो हिंसा संभव है। अप्रमत्त और वीतराग के मन में हिंसा का संकल्प ही पैदा नहीं होता। अत:उनके द्वारा जीव- वध हो भी जाये तो उनके हिंसाजनित कर्म-बंध नहीं होता। प्रमत्त जीवों के कर्म-बंध की क्रिया सतत चालू रहती है।

क्रियापंचक और चौबीस दण्डक

चौबीस दण्डकों में कायिकी आदि क्रिया-पंचक की मीमांसा तथा एक जीव की अन्य जीव या जीवों के प्रति कितनी क्रिया लगती है– इसे हम निम्नांकित तालिका से समझ सकते हैं–

सामान्य रूप से एक जीव की अन्य जीव के प्रति क्रिया

जीव अन्य जीव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय
नारक यावत् स्तनित कुमार के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय
पृथ्वीकाय यावत् मनुष्य के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय
वाणव्यंतर,ज्योतिषी,वैमानिक के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय
एक नारक यावत् एक देव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय
अनेक जीव की एक जीव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय

नारक जीव की अन्य जीव के प्रति क्रिया

नारक की किसी एक जीव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
नारक का किसी एक नारक के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
नारक, देव अतिरिक्त अन्य जीव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
नारक का किसी एक देव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
नारक का किसी भी नारक या देव के प्रति	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5

असुरकुमार व मनुष्य को छोड़कर अन्य सभी दण्डक के जीवों के विषय में नारक की तरह ही उपर्युक्त 4-4 आलापक ज्ञातव्य हैं। मनुष्य के सम्बन्ध में तीन - चार - पांच क्रियाएं होती हैं और कभी मनुष्य अक्रिय भी होता है।[93]

जीव और नारक के परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा से क्रियाएं

जीव परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात्अक्रिय
नारक परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	
असुर कुमार यावत् वैमानिक देव परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	
मनुष्य परकीय औदारिक शरीर की अपेक्षा	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5	स्यात् अक्रिय

गौतम स्वामी ने महावीर से पूछा– भगवन्! एक जीव को बहुत जीवों के शरीर

की अपेक्षा,बहुत जीवों को बहुत जीवों के शरीर की अपेक्षा, बहुत जीवों को एक जीव के शरीर की अपेक्षा कितनी क्रियाएं होती हैं ?

महावीर– गौतम ! तीन -चार या पांच क्रियाएं होती हैं।[94(क)] शेष चार शरीर वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण का विनाश हो सकता है इसलिए उनकी अपेक्षा तीन या चार क्रियाएं होती हैं उनके पांचवीं क्रिया नहीं होती। नारक से वैमानिक तक इसी प्रकार आलापक ज्ञातव्य हैं।

प्रश्न यह होता है कि नैरयिक अधोलोक में स्थित है। आहारक शरीरी मनुष्य लोक में स्थित होता है। अत: नारक आहारक शरीर की अपेक्षा तीन-चार क्रिया वाला कैसे हो सकता है ?

समाधान स्वरूप कहा गया है कि नारक जीव के पूर्व त्यक्त शरीर की अस्थि आदि से आहारक शरीर की स्पर्शना-परितापना हो सकती है। अविरति की अपेक्षा नारक जीव तीन-चार क्रिया से स्पृष्ट होता है।

कायिकी क्रिया पंचक और वेदना समुद्घात

समुद्घात शब्द यौगिक है। सम + उद् + घात – इन तीन शब्दों के योग से समुद्घात शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ है– आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना। समुद्घात सात हैं– वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और केवली। प्रस्तुत प्रसंग में केवल वेदना समुद्घात की चर्चा ही प्रासंगिक है।

प्रबल असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है तब वेदना समुद्घात होता है। शरीर से जिन पुद्गलों को बाहर निकाला जाता है, वे तत्र स्थित प्राण-भूत-जीव-सत्व का हनन करते हैं। उन जीवों में कंपन होता है, संघात, क्लामना और परिताप होता है, प्राणों का अतिपात भी हो जाता है। यही कारण है कि उस जीव के तीन-चार क्रियाएं होती हैं। इसी प्रकार कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, आहारक समुद्घात होता है। विशेष यह है कि पृथ्वी, अप्, तैजस, वनस्पति और तीन विकलेन्द्रिय जीवों के वैक्रिय समुद्घात नहीं होता। आहारक समुद्घात केवल मनुष्य ही कर सकता है, अन्य नहीं।

केवली समुद्घात करनेवाले भावितात्मा अणगार के अन्तिम समय में निर्जरित पुद्गल सूक्ष्म होते हैं। इसलिये केवली के कायिकी आदि क्रियाएं नहीं होती। मात्र ऐर्यापथिक क्रिया होती है। इन तथ्यों को निम्नांकित चार्ट से भी समझा जा सकता है–

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण का निर्माण	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
श्रोत्रेन्द्रिय,चक्षुरिन्द्रिय,घ्राणेन्द्रिय,रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय का निर्माण	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5
मनोयोग, वचनयोग, काय योग का निर्माण	स्यात् 3	स्यात् 4	स्यात् 5

उपर्युक्त 13 आलापक एक वचन, बहुवचन की अपेक्षा 26 आलापक हो जाते हैं।

पृथ्वीकाय के जीवों को श्वास-नि:श्वास ग्रहण करने में स्यात् तीन-चार-पांच क्रियाएं स्पृष्ट होती हैं। पृथ्वीकाय की तरह ही अन्य स्थावर के आलापक ज्ञातव्य हैं।

कायिकी क्रियापंचक का परस्पर सहभाव कायिकी–

क्रिया की विद्यमानता में आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी क्रिया अवश्य होती है। प्रारंभ की तीन क्रियाओं का परस्पर सहभाव नियम से है। आगे की दो क्रियाएं वैकल्पिक हैं अर्थात् वे कभी होती हैं और कभी नहीं भी होती हैं। इसका कारण शरीर अधिकरण है भी और नहीं भी। इसलिये अधिकरणिकी क्रिया होती है और विशिष्ट कायिकी क्रिया प्रद्वेष के बिना नहीं होती। मुख की वक्रता, रूक्षता आदि प्रद्वेष के लक्षण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। अत: तीनों का अविनाभावी सम्बन्ध है। किसी को परिताप देने या प्राण व्यपरोपण करने में 4-5 क्रियाएं भी एक साथ हो सकती हैं। कहा भी है–

तिसृभिश्चतसृभिरथ पञ्चभिश्च हिंसा समाप्यते क्रमशः।
बन्धोऽस्य विशिष्टः स्यात् योगप्रद्वेषसाम्यं चेत्।।[94(ख)]

क्रियाओं के सहभाव को तीन रूपों में देखा जा सकता है– (1) प्रथम में कायिकी आदि तीन क्रियाएं। (2) द्वितीय में पारितापनिकी के साथ चार क्रियाएं। (3) प्राणातिपात होने पर पांच क्रियाएं।

आरम्भिकी क्रिया-पंचक

आगम साहित्य में क्रिया के अनेक प्रकारों का उल्लेख है। कर्म-बंधन की हेतुभूत सभी प्रवृत्तियां क्रिया हैं। इस व्याख्या में क्रिया के सभी प्रकारों का समाहार हो जाता है। विवक्षा के आधार पर संक्षिप्त या विस्तार रूप से विवेचन किया जा सकता है। इस संदर्भ में क्रियाओं के अनेक पंचक बनाये गये हैं। प्राणातिपातादि क्रिया-पंचक के बाद आरम्भिकी आदि क्रिया पंचक की प्रस्तुति इष्ट है।

(1) आरम्भिकी क्रिया (Damage to the enviroment such as digging earth, tearing leaves etc.)

आरम्भ का तात्पर्य है– प्रवृत्ति। शब्द कोष में इसके अनेक निर्वचन हैं।[94(ग)] उदाहरणार्थ– प्रस्तुति, शुरू, कार्य, प्रयत्न, अभिमान, वध, उत्पत्ति, उपक्रम, तीव्रता आदि। धर्म ग्रंथों में आरम्भ का अर्थ हिंसा (Violence) है। प्रज्ञापना में लिखा है–

आरंभ - पृथिव्याद्युपमर्दः, उक्तं चः
'संरभो संकप्पो परितावकरो भवे समारम्भो।
आरंभो उद्दवओ सुद्धनयानं तु सव्वेसिं अथवा
'आरंभः प्रयोजनं-कारणं यस्याः सा आरम्भिकी।।

अर्थात् जिसमें पृथ्वी आदि जीवों का उपमर्दन अथवा उनके प्रति उपद्रव किया जाता है, वह क्रिया आरम्भिकी कहलाती है।[95] अभयदेवसूरि ने आरम्भ का अर्थ जीवों का उपघात या उपद्रवण किया है। उनकी दृष्टि में इस शब्द का प्रयोग सामान्यतः प्रत्येक आश्रव की प्रवृत्ति के लिये किया जा सकता है।[96] भगवती में 'आरम्भ शब्द का प्रयोग अविरति और योग आश्रव के संदर्भ में हुआ है।[97]

वैदिक काल में आरम्भ के स्थान पर आलम्भ शब्द मिलता है। उस समय 'आलम्भ' का तात्पर्य पशुबली था। 'रलयोरेकत्वम्' प्राकृत व्याकरण के इस सूत्र से 'ल' के स्थान पर 'र' होने से उत्तरवर्ती साहित्य में आरम्भ का प्रयोग हिंसा के अर्थ में होने लगा। चूर्णिकार ने आरम्भ का अर्थ अज्ञान, कषाय, नो कषाय अथवा असंयम किया है।[98] आरम्भ से होने वाली क्रिया आरम्भिकी क्रिया है। यह हिंसा सम्बन्धी क्रिया है।[99] उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट करते हुए श्लोकवार्तिक में भी कहा है कि छेदन आदि क्रिया में आसक्त अथवा दूसरों की हिंसा सम्बन्धी कार्यों में प्रहर्ष चित्त आरंभिकी क्रिया है।[100] आयारो के अनुसार 'आरंभ' क्रिया का पर्यायवाची शब्द है।[101] अशुभयोगजन्य असत् प्रवृत्ति आरम्भिकी क्रिया है। छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त संयत अशुभयोगजन्य प्रवृत्ति के कारण ही आरंभी कहलाते हैं। यही कारण है कि मुनि बनने के लिए सभी क्रियाओं, आरंभों को जानना और छोड़ना अनिवार्य है।[102] आरंभिकी क्रिया के दो प्रकार हैं–

(1) जीव आरम्भिकी, (2) अजीव आरम्भिकी।

(1) जीव आरम्भिकी– पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और गतिशील जीवों की हिंसा का जब तक प्रत्याख्यान नहीं किया जाता तब तक जितना भी आरंभ होता है, वह जीव आरम्भिकी क्रिया है।

(2) अजीव आरम्भिकी– वृत्तिकार ने इसका आशय स्पष्ट किया है कि जीव के मृत शरीरों, पिष्ट, कपड़ा, कागज, चीनी आदि से निर्मित जीवाकृतियों में हिंसक प्रवृत्ति अजीव आरम्भिकी क्रिया है।[103] चूर्णिकार[104] ने छेदन, भेदन, पाचन आदि क्रियाओं तथा वृत्तिकार ने यंत्र-पीलन, निर्लांछन आदि 15 प्रकार का कर्मादान, जिनमें कोयलों का निर्माण,दन्त, केश, लाख आदि का व्यापार, सरोवर, तालाब आदि को खाली करना, जंगलों को जलाना आदि क्रियाओं को महाआरम्भ के अन्तर्गत माना है।[105]

(3) पारिग्रहिकी क्रिया (Possessive Clinging)– स्थानांग वृत्तिकार के अनुसार यह क्रिया जीव और अजीव के परिग्रह से उत्पन्न होती है।[106]तत्त्वार्थवार्तिक में उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से उपलब्ध है। उसके अनुसार परिग्रह की सुरक्षा के लिए होने वाली प्रवृत्ति पारिग्रहिकी क्रिया है। [107] परिग्रह अर्थात् ममत्व भाव या आसक्ति, इससे लगने वाली क्रिया पारिग्रहिकी है। आवश्यक साधनों के सीमाकरण के अभाव में विश्व में विद्यमान सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया से व्यक्ति स्पृष्ट होता है। परकीय वस्तु पर आसक्ति भी परिग्रहजन्य क्रिया है। कहा भी गया–''पारिग्गहिय''– परिग्रहो धर्मोपकरणं वर्ज्य वस्तुस्वीकार: धर्मोपकरणमूर्च्छा च स प्रयोजनं यस्या: सा पारिग्रहिकी।''[108]

परिग्रह से तात्पर्य धर्मोपकरण को छोड़कर अन्य वस्तुओं का ग्रहण और धर्मोपकरण में आसक्ति है, तज्जनिक क्रिया पारिग्राहिकी क्रिया है। अन्यत्र भी कहा है– 'मैं और मेरा' इस भाव से की जाने वाली विषयासक्ति पारिग्रहिकी क्रिया है।

पारिग्रहिकी क्रिया के प्रकार– पारिग्रहिकी क्रिया के दो प्रकार हैं– (1) जीव पारिग्रहिकी (2) अजीव पारिग्रहिकी।

जीव पारिग्रहिकी– कुटुम्ब, परिवार, दास-दासी, गाय-भैंस, पशु-पक्षी, धन-धान्य आदि स्थावर जीवों पर ममत्वभाव जीव पारिग्रहिकी क्रिया है।

अजीव पारिग्रहिकी– सोना-चांदी, मकान, वस्त्र-आभूषण, शयन-आसन आदि निर्जीव वस्तुओं पर ममत्वभाव अजीव पारिग्रहिकी क्रिया है।

इस संदर्भ में गौतम स्वामी का प्रश्न है– नैरयिक जीव आरंभ और परिग्रह से युक्त होते हैं अथवा मुक्त ?

भगवान महावीर ने प्रश्न को समाहित करते हुए कहा– नैरयिक आरंभ-परिग्रह से युक्त होते हैं।[109] आरंभ और परिग्रह दोनों जीव की स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। ये वृत्तियां नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभी सांसारिक जीवों में पाई जाती है।

सांसारिक जीवों के छह वर्गीकरण है– पृथ्वी, अप्, तैजस, वायु, वनस्पति और त्रसकाय। नैरयिक सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करता है इसलिये वह सारंभी है।

भगवती में परिग्रह के तीन प्रकार बताये हैं– शरीर, कर्म, सचित्त-अचित्त मिश्र द्रव्य।[110] स्थानांग में भी तीन प्रकार के परिग्रह बताये हैं– तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा - कम्म परिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे अर्थात् कर्म परिग्रह, शरीर परिग्रह, उपधि परिग्रह। उपधि से तात्पर्य भौतिक वस्तुएं या द्रव्य, पदार्थ, वस्त्र-पात्र आदि है ।[111]

नैरयिक के पास ये तीनों प्रकार के परिग्रह होते हैं इसलिये वे सपरिग्रही हैं। स्थानांग में नैरयिक और एकेन्द्रिय के पास तीसरे प्रकार के परिग्रह का निषेध किया गया है। प्रश्न होता है यह अन्तर क्यों ? समाधान है कि उपधि परिग्रह दो प्रकार का है– 1. भवन, आसन, शयन, पात्र आदि। 2. आहार के लिये उपयुक्त सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य। नैरयिक सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य रूप परिग्रह का उपयोग करते हैं किन्तु उनके पास भवन, स्त्री, आसन, शयन आदि का परिग्रह नहीं होता। देव के प्रसंग में इन दोनों प्रकार के परिग्रह का उल्लेख है। नैरयिक की तरह ही एकेन्द्रिय ज्ञातव्य है।

सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य रूप परिग्रह नैरयिक और एकेन्द्रिय में भी होता है। इसलिये स्थानांग की वक्तव्यता में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। द्वीन्द्रिय जीव बाह्य पदार्थों का संग्रह करते है। वे अपने लिये मिट्टी के घरोंदे भी बना लेते हैं।[112] इसलिये उनका एकेन्द्रिय से भिन्न विवेचन है।

तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य भी नैरयिक जीवों की तरह ही ज्ञातव्य हैं। आरंभ और परिग्रह मोक्ष मार्ग के अवरोधक है। स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान (अध्याय) में आरंभ - परिग्रह का विस्तृत विवेचन है। बाईस सूत्रों में आरंभ-परिग्रह की प्रवृत्ति से होने वाली अनुपलब्धि-उपलब्धि की चर्चा भी मिलती है। वहां आरम्भ और परिग्रह के त्याग से होने वाली उपलब्धि-अनुपलब्धि इस प्रकार हैं–

1. केवली प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण – आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सत्यमार्ग का श्रवण।

2. विशुद्ध बोधि का अनुभव - निर्मल ज्ञानोदय।
3. सम्पूर्ण अनगारिता - गृहस्थावास से निवृत्ति।
4. सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यावास - कामवासना से मुक्त जीवन।
5. सम्पूर्ण संयम - अध्यात्म के प्रति सर्वात्मना समर्पण।
6. सम्पूर्ण संवर - पापमय प्रवृतियों का निरोध।
7. सम्पूर्ण अभिनिबोधिक ज्ञान - इन्द्रियजन्य निर्णायक ज्ञान।
8. विशुद्ध अवधिज्ञान - मर्यादापूर्वक मूर्त द्रव्यों को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान।
9. मन:पर्याय ज्ञान - मन को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान।
10. विशुद्ध केवलज्ञान - पूर्ण निरावरण ज्ञान, सर्वलोक व सर्वजीवों के समस्त भावों को जानना।

इन उपलब्धियों में प्रत्येक चरण अगले चरण के विकास के लिये अनिवार्य है। पूर्व भूमिका एवं उत्तर भूमिका में कारण-कार्य सम्बन्ध है।[112अ]

प्रथम चार उपलब्धियों का स्वरूप व्यवहार और निश्चय दोनों भूमिकाओं पर संभव है। सामान्यत: परम्परागत साधना में उनकी व्यावहारिक भूमिका पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है और नैश्चयिक भूमिका गौण हो जाती है। पांचवें चरण से आगे की उपलब्धियां केवल आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं। उन्हें व्यवहार की भूमिका पर घटित नहीं किया जा सकता।

भगवान महावीर की दृष्टि में सारी समस्याओं का मूल हिंसा और परिग्रह है। उनका दृढ़ अभिमत था कि जो व्यक्ति हिंसा और परिग्रह की वास्तविकता को नहीं जानता, वह न धर्म का अधिकारी होता है, न बोधि को प्राप्त कर सकता है और न सत्य का साक्षात्कार ही कर सकता है। कर्म-बंध के मूल हेतु आरंभ और परिग्रह हैं। राग -द्वेष, मोह भी बंधन के मूल कारण और आरंभ परिग्रह के प्रेरक तत्त्व हैं। दोनों में मुख्यता परिग्रह की है। आरंभ, परिग्रह के लिये होता है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा निश्चित है। दोनों एक सिक्के के ही दो पहलू हैं।

परिग्रह विरति का महत्वपूर्ण उपाय है– परिग्रह की परिज्ञा, विवेक करना, परिग्रह को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान– परिज्ञा से छोड़ना। अपरिग्रह मोक्ष का उत्तम उपाय है। इससे वीतरागता की प्राप्ति होती है।

(3) माया प्रत्यया क्रिया (Deceitful Action)– इस क्रिया का सम्बन्ध कषाय से है। जब तक स्थूल या सूक्ष्म रूप में कषाय आत्मा में विद्यमान रहता है तब तक प्राणी इस क्रिया से मुक्त नहीं हो सकता। दसवें गुणस्थान से आगे कषाय का उपशम या क्षय हो जाता है। अत: वहां माया प्रत्यया क्रिया नहीं है। माया कषाय का ही प्रकार है। एक के ग्रहण करने से दूसरे भेद स्वत: गृहीत हो जाते हैं। ऋजुता की मिथ्या संस्थिति का नाम माया है। स्थानांग वृत्ति में इसके दो अर्थ किये है–[113] माया के निमित्त से होने वाली क्रिया और माया पूर्ण चेष्टाएं।

माया अर्थात् अनार्जव, शठता। कपट के निमित्त से जो क्रिया होती है, वह माया-प्रत्ययिकी क्रिया है।[114] तत्त्वार्थ वार्तिककार ने ज्ञान-दर्शन और चारित्र सम्बन्धी प्रवंचना को माया क्रिया माना है।[115] यें केवल प्रतीक रूप हैं। व्यापक अर्थ में प्रत्येक प्रकार की प्रवंचना माया कहलाती है। माया के दो प्रकार हैं– आत्मभाव वक्रता, परभाव वक्रता।

आत्मभाव वक्रता– जहां आत्म भाव अप्रशस्त हो लेकिन बाहर से प्रशस्त भावों का प्रदर्शन हो। 'विषकुम्भ पयोमुखम्, जैसा व्यवहार हो, वह आत्मभाव वक्रता क्रिया है।[116] परभाव वक्रता– झूठा तोल-माप करना, शुद्ध वस्तु में अशुद्ध का मिश्रण करना परभाव वक्रता है। यह दूसरों को धोखा देने के अभिप्राय से की गई क्रिया है। [117] कई गूढ़ाचारी उल्लू के पंख की तरह तुच्छ होकर भी अपने को पर्वत के समान बड़ा मानते हैं। आर्य होकर अनार्य भाषा का प्रयोग करते हैं। अकरणीय कार्य करके आलोचना, प्रतिक्रमण नहीं करते। इस प्रकार के मायावी व्यक्ति माया प्रत्यया क्रिया से स्पृष्ट होते हैं।

स्थानांग सूत्र में क्रिया के बारह युगल हैं। उनमें माया प्रत्यया क्रिया का उल्लेख दो स्थानों पर हुआ है। छठे युगल में माया प्रत्यया और मिथ्यादर्शन क्रिया दोनों का एक साथ प्रयोग है। बारहवें युगल में प्रेय: प्रत्यया और द्वेष प्रत्यया या दोष प्रत्यया दोनों का सह नामोल्लेख है। प्रेय:प्रत्यया के दो प्रकार हैं– माया प्रत्यया और लोभ प्रत्यया।

भगवती वृत्तिकार ने माया का अर्थ ऋजुता का अभाव किया है। उपलक्षण से क्रोध आदि के ग्रहण का संकेत भी है।[118] क्रोध और मान ये दो द्वेष प्रत्यया के भेद है[119] इसलिये उनका ग्रहण यहां उचित प्रतीत नहीं होता।

आरंभिकी आदि पांच क्रियाओं में माया प्रत्यया क्रिया का जो उल्लेख है, उसका सम्बन्ध प्रेय:प्रत्यया से है और वह नौवें गुणस्थान में क्षीण होती है।

एक विचार धारा में माया को कषाय का वाचक माना है। इस दृष्टि से जयाचार्य ने माया प्रत्यया क्रिया की प्राप्ति दसवें गुणस्थान तक बतलाई है।[120] मायी मिथ्यादृष्टि शब्द में मिथ्यादृष्टि के साथ 'मायी' शब्द का सम्बन्ध स्थानांग में उल्लिखित क्रिया के छठे युगल की 'माया-प्रत्यया' के साथ संभव है। माया-प्रत्यया और मिथ्यादर्शन प्रत्यया युगल के पीछे कोई सापेक्ष दृष्टि होनी चाहिये। चूंकि एक दृष्टि से विचार करे तो माया एवं असत्य एकार्थक हैं। असत्य का अर्थ है– माया और विसंवादन योग।[121] विसंवादन योग अर्थात् कथनी-करनी का वैषम्य। इसी आधार पर माया के आत्मभाव वंचन, परभाव वंचन दो भेद किये गये हैं।

(4) अप्रत्याख्यान क्रिया (Harbouring passion and possessiveness)– प्रत्याख्यान आन्तरिक अनासक्ति का प्रतीक है। प्रति + आ + ख्या धातु अनेक अर्थों की द्योतक है जैसे– परित्याग करना, सावद्य आचरण से निवृत्त होना, अस्वीकार करना,[122] निषेध करना इत्यादि।[123] प्रत्याख्यान एक पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ विरति है। अप्रत्याख्यान अर्थात् अविरति। अविरति-आश्रव है। कर्मागम का द्वार है।

''प्रत्याख्यानाभावेऽनियतत्वाद्यत्किंचन कारितया तत्प्रत्ययिका तन्निमित्ताभावादुत्पद्यतेऽप्रत्याख्यान क्रिया।''[124]

प्रत्याख्यान के अभाव में जो कुछ किया जाता है, वह अप्रत्याख्यान क्रिया के अन्तर्गत आता है। तत्त्वार्थवार्तिक में अप्रत्याख्यान क्रिया की कर्मशास्त्रीय परिभाषा है– संयम के विघातक कर्मों का उदय होने के कारण विषयों से अनिवृत्ति की स्थिति अप्रत्याख्यान क्रिया है।

प्रत्याख्यान की योग्यता सब जीवों में समान नहीं होती। नैरयिकों के प्रबल असातवेदनीय के संवेदन के कारण प्रत्याख्यान की चेतना जाग नहीं सकती। प्रबल सात वेदनीय के संवेदन के कारण देवों में प्रत्याख्यान के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव अमनस्क हैं। उनमें मानसिक विकास का अभाव है। इसलिये उनमें व्रत ग्रहण का संकल्प असंभव है। समनस्क तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में स्वल्प मानसिक विकास होने से प्रत्याख्यान की उनमें आंशिक क्षमता होती है। मनुष्य में मानसिक विकास पर्याप्त मात्रा में होता है अत: वे आंशिक या पूर्ण प्रत्याख्यान की दिशा में बढ़ सकते हैं। अप्रत्याख्यान जीव की एक सामान्य अवस्था है। उसका हेतु

अप्रत्याख्यान मोह का उदय है। जिन जीवों में पूर्ण प्रत्याख्यान की क्षमता का उद्भव नहीं होता, उसका हेतु प्रत्याख्यान मोह का उदय है। तात्पर्य यह है कि मानसिक विकास और चारित्रमोह कर्म का क्षयोपशम– दोनों की युति होने पर ही आंशिक या पूर्ण प्रत्याख्यान की चेतना जागृत होती है। जैन दर्शनानुसार अप्रत्याख्यान की क्रिया तब तक चलती है जब तक सावद्य योग की पूर्णत: निवृत्ति नहीं हो जाती।

प्रश्न होता है कि जिनके मन-वचन-काया रूप प्रवृत्ति है, उनके पाप-कर्म का बंध गम्य है, किन्तु जो स्थाणु की तरह निश्चेष्ट हैं, उनके कर्म बंध कैसे होता है ?

जैनागमों के अनुसार कर्म-बंध का मूल कारण व्यक्त-अव्यक्त मन, वचन और काया नहीं अपितु अप्रत्याख्यान है। कर्म-बंध दो प्रकार से होता है– प्रवृत्तिजन्य एवं अनिवृत्ति रूप। एकेन्द्रिय जीवों के आश्रव द्वार खुले हैं। अत: उनके अनिवृत्ति रूप कर्म-बंध होता रहता है। अविरति का चक्र रुकता नहीं है, वह स्वप्न में भी सतत रहता है। इसी कारण समनस्क या अमनस्क जीवों में प्रत्याख्यान चेतना का उदय नहीं होता, फलत: वे अविरत कहलाते हैं।

हमारे व्यक्तित्व के दो पक्ष है– बाह्य और आन्तरिक । बाहरी व्यक्तित्व की पहचान मन-वचन-काया जनित प्रवृत्तियों से होती है। आन्तरिक व्यक्तित्व का मानक है– आश्रव या चित्त । प्रवृत्ति रूप बाह्य व्यक्तित्व निष्क्रिय होने पर भी कर्म-बंध चालु रहता है। उसका कारण यह है कि मूल-स्रोत आन्तरिक व्यक्तित्व में है। इससे यह भी फलित होता है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो:' बंध और मुक्ति का कारण मन ही है– यह अवधारणा अंतिम सत्य नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार मन की प्रवृत्ति के अभाव में भी बंध होता है। इस विषय में नंदीसूत्र में वर्णित तीन प्रकार की संज्ञाओं का स्वरूप भी ज्ञातव्य हैं। वे हैं– हेतुवादोपदेशिकी, दीर्घकालिकी, दृष्टिवादोपदेशिकी। हेतुवादोपदेशिकी– गमन, आगमन करना। दीर्घकालिकी–जिसमें ईहा-अपोह विमर्श होता है। दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा-सम्यक् ज्ञान।

असंज्ञी जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा– तर्क, प्रज्ञा और मन इत्यादि का अभाव होता है।[125] हिंसा आदि का बोध दीर्घकालिकी संज्ञा वाले जीवों में ही संभव है। यद्यपि संज्ञी-असंज्ञी में अध्यवसायों का तारतम्य रहता है फिर भी कर्म-बंध का हेतु समान रूप से पाया जाता है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक असंज्ञी जीवों में कोई प्राणी किसी भी योनि में जन्म लेने का कर्म-संचय कर सकता है। वह किसी योनि विशेष के साथ प्रतिबद्ध नहीं है। अर्थात् मनुष्य मरकर मनुष्य रूप में ही पैदा हो, ऐसा नियम नहीं है। वह

मनुष्य, नारक, देव, तिर्यञ्च किसी भी योनि में जा सकता है। प्रत्येक प्राणी 'सर्वयोनिक' है। योनियों के संवृत, विवृत, संवृत-विवृत, शीत-उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मिश्र आदि अनेक प्रकार हैं। सभी योनियां कर्महेतुक हैं। इसलिये एक दूसरी योनि में जाना आश्चर्य का विषय नहीं है। एक जन्म में प्राणी मनरहित है तो यह अनिवार्य नहीं कि भविष्य में अन्य योनि में जाकर भी वह अमनस्क ही रहे; वह समनस्क भी बन सकता है। इस प्रसंग में संक्रमण सिद्धांत के हेतुओं को समझना भी आवश्यक है। सूत्रकृतांग में संक्रमण के चार हेतुओं का निर्देश है। उनकी व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है–[126]

(1) अविविक्त– बद्ध कर्म प्राणी से पृथक् नहीं होते। कुछ कर्मों का पृथक्करण हो जाता है किन्तु समग्रतया विशोधन नहीं। अवशिष्ट कर्मों द्वारा वर्तमान जन्म में उद्वर्तन कर जीव उनके अनुरूप स्थान में उत्पन्न हो जाते हैं।

(2) अविधूत– जैसे वस्त्र को झटक कर धोया जाता है इसी प्रकार कर्मों को प्रकंपित कर देने पर भी वे शेष रह जाते हैं इसलिए जीव को पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

(3) असमुच्छिन्न– कर्मों का सम्पूर्ण उच्छेद नहीं होता इसलिये पुनर्जन्म होता है।

(4) अननुतप्त– हिंसा आदि प्रवृत्तियों से कर्म-संचय (उपचय) कर जिन जीवों का अनुताप नहीं होता, उनके कर्मों के बंध का शिथिलीकरण नहीं होता अपितु कर्म-बंधन अपना प्रगाढ़ विपाक देते है। फलत: उनका जन्मान्तर में संक्रमण होता है।

संक्रमण का हेतु कर्म है। पूर्वार्जित कर्म सर्वथा क्षीण नहीं होते तब तक नये कर्मों का आगमन होता रहता है। संज्ञित्व- असंज्ञित्व (मन का होना अथवा नहीं होना) भी कर्मों के आधार पर ही होता है। संज्ञित्व-असंज्ञित्व नैमित्तिक है, नैसर्गिक नहीं। ज्ञानावरणीय कर्म का उदय और क्षयोपशम इनमें निमित्त बनता है। असंज्ञित्व उदय भाव है। संज्ञित्व क्षयोपशम भाव है। सूत्रकार का प्रतिपाद्य है कि जीव संज्ञी हो या असंज्ञी, अविरत होता हैं। उनमें पाप कर्मों के निष्पादन की क्षमता है। चूर्णिकार ने प्रतिहत और प्रत्याख्यात को एकार्थक मानकर उनका अर्थ प्रतिषिद्ध या निवारित किया है।

प्रत्याख्यान का इतना गहन और सूक्ष्म चिन्तन जैन दर्शन की विशिष्टता है। बौद्ध दर्शन में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं तब प्रत्याख्यान का प्रश्न ही नहीं रहता। सांख्य दर्शन में आत्मा अनुत्पन्न, अप्रच्युत है, उसमें प्रत्याख्यान की क्रिया संभव नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य दर्शनों में भी प्रत्याख्यान सम्बन्धी चर्चा दृष्टिगोचर नहीं होती। सूत्रकृतांग के चतुर्थ अध्ययन में 'प्रत्याख्यान- अप्रत्याख्यान' की विशद व्याख्या है। वृत्तिकार ने

उनका निरूपण न्याय के पांच अवयवों-प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन के द्वारा किया है।

(1) प्रतिज्ञा– अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात् क्रिया सम्पन्न आत्मा पापानुबंधी होती है।

(2) हेतु– छह जीव-निकायों में जीव निरन्तर व्यतिपात चित्तवाला होता है।

(3) दृष्टान्त– राजा गृहपति को मारनेवाला है।

(4) उपनय– जैसे वधक हिंसक परिणामों से अनिवृत्त होने के कारण वध्य के लिये अमित्रभूत है, वैसे ही विरति के अभाव में आत्मा सभी जीवों के अतिपात-अध्यवसाय वाला होता है।

(5) निगमन– आत्मा की उपर्युक्त स्थिति है, इसलिये आत्मा या जीव पापानुबंधी है।

अप्रत्याख्यानी के कर्म-बंध और फल-विपाक की चर्चा के पश्चात् प्रश्न उठता है कि प्राणी संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा कैसे हो सकता है ?

समाधान यह है कि जैसे अप्रत्याख्यानी के लिये षड् जीवनिकाय संसार-भ्रमण में निमित्त है वैसे ही प्रत्याख्यानी के लिये वह मोक्ष का हेतु है।

भव-भ्रमण के जितने हेतु हैं उतने ही मोक्ष के। दोनों तुल्य है। इस प्रसंग में सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान के विषय में गौतम-महावीर संवाद भी मननीय है–

सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान क्रिया

गौतम ने पूछा– भंते ! कोई पुरुष कहता है मैंने सब प्राण- भूत-जीव और सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है। उसका वह प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान होता है अथवा दुष्प्रत्याख्यान।

गौतम ! जो पुरुष ऐसा कहता है, उसका प्रत्याख्यान कभी सुप्रत्याख्यान होता है और कभी दुष्प्रत्याख्यान होता है।

भगवान महावीर एकान्तवादी नहीं थे। उन्होंनें वस्तु-सत्य का प्रतिपादन नय अथवा सापेक्ष दृष्टि केआधार पर किया है। प्रत्याख्यान को निरपेक्ष दृष्टि से समीचीन-असमीचीन कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कोई व्यक्ति जीव और अजीव को नहीं जानता। जीव विषयक उसका ज्ञान स्पष्ट नहीं है। वह सब जीवों के वध के प्रत्याख्यान का पालन कैसे कर सकेगा।[127] यही कारण है कि उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इससे विपरीत सुप्रत्याख्यान है। अभयदेवसूरि का भी यही अभिमत है कि जीवाजीव के सम्यक् ज्ञान के

अभाव में प्रत्याख्यान का यथावत् पालन नहीं हो सकता। इस अपेक्षा से अज्ञानी का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है।[128]

जयाचार्य ने इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा– जीव - अजीव का अज्ञाता मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि का प्रत्याख्यान अज्ञान की अपेक्षा दुष्प्रत्याख्यान है। उन्होंने इस संदर्भ में अनेक आगमिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[129]

प्रत्याख्यान की प्रथम अर्हता सम्यग् दर्शन है। जीव-अजीव की विज्ञप्ति हुए बिना सम्यग्-दर्शन उपलब्ध नहीं होता। सम्यग् दर्शन सोपान है। उसके बिना व्यक्ति मुनि की भूमिका तक नहीं पहुंच सकता। तीन करण, तीन योग से हिंसा आदि का त्याग करना सर्वविरति की भूमिका है। उपर्युक्त तथ्यों को निम्नांकित चार्ट से भी समझा जा सकता है–

दुष्प्रत्याख्यान	सुप्रत्याख्यान
मिथ्यादर्शनी के तीन करण, तीन योग से त्याग का फलित है– दुष्प्रत्याख्यान	सम्यग्दर्शनी के तीन करण, तीन योग से त्याग का फलित है– सुप्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान के प्रकार

गौतम– भंते ! प्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं ?[130]

महावीर– मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुण प्रत्याख्यान के भेद से दो प्रकार हैं।

प्रत्याख्यान

मूल गुण प्रत्याख्यान	**उत्तरगुण प्रत्याख्यान**
सर्व मूलगुण प्रत्याख्यान	देश मूलगुण प्रत्याख्यान
सर्व प्राणातिपात विरमण	स्थूल प्राणातिपात विरमण
सर्व मृषावाद विरमण	स्थूल मृषावाद विरमण
सर्व अदत्तादान विरमण	स्थूल अदत्तादान विरमण
सर्व मैथुन विरमण	स्थूल मैथुन विरमण
सर्व परिग्रह विरमण	स्थूल परिग्रह विरमण

उत्तरगुण प्रत्याख्यान

सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान	**देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान**
अनागत	दिग्व्रत
अतिक्रांत प्रत्याख्यान	उपभोग-परिभोग- विरमण
कोटि सहित प्रत्याख्यान	सामायिक
नियन्त्रित प्रत्याख्यान	देशावकाशिक
साकार प्रत्याख्यान	अतिथि-संविभाग
अनाकार प्रत्याख्यान	अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना
परिमाणकृत प्रत्याख्यान	
निरवशेष प्रत्याख्यान	
संकेत प्रत्याख्यान	
अध्वा प्रत्याख्यान	

साधना के क्षेत्र में मूल-उत्तरगुण की व्यवस्था है। साधना के लिये जिनकी अनिवार्यता है, वे मूल गुण हैं। साधना-विकास के जो ऐच्छिक प्रयोग किये जाते हैं, वे उत्तरगुण हैं। भगवती भाष्य के द्वितीय खण्डानुसार– साधु के लिये मूल गुण पांच, उत्तर गुण दस हैं। श्रावक के लिये मूल गुण पांच, उत्तर गुण सात हैं। दिगम्बर परम्परा में मूल गुण का वर्गीकरण भिन्न है। वहां मूल गुण अट्ठाईस माने गये हैं– 5 महाव्रत, 5 समितियां, 5 इन्द्रिय-निरोध, छः आवश्यक, लोच, अचेलत्व, अस्नान, क्षिति-शयन, अदन्त-घर्षण (दंतोन न करना), स्थिति-भोजन, (खड़े-खड़े भोजन करना), एक-भक्त (दिन में एक बार भोजन करना)।[131]

मूल गुणों की संख्या का विकास किस आधार पर किया गया, यह अन्वेषणीय है। दिगम्बर आम्नाय में श्रावक के लिये भी मूल गुण आठ बतलाये हैं– 5 अणुव्रत के साथ मद्य, मांस और मधु का वर्जन[132 (क)] आचार्य महाप्रज्ञ के अभिमत से यह उत्तर कालीन विकास है। मूल गुण पांच अणुव्रत ही होने चाहिये।[132(ख)] स्थानांग में मुनि के लिये दस-प्रत्याख्यानों का उल्लेख है।[133] वे भी संभवतः उत्तर गुण प्रत्याख्यान ही प्रतीत होते है। वे हैं–

(1) अनागत प्रत्याख्यान– भविष्य में करणीय तप को पहले करना।

(2) अतिक्रांत प्रत्याख्यान– वर्तमान में करणीय तप नहीं होने से भविष्य में करना।

(3) कोटि सहित प्रत्याख्यान– इस प्रत्याख्यान की अर्थ-परम्परा में दो भिन्न मत है। अभयदेवसूरि के अनुसार इसका अर्थ है– प्रथम दिन के उपवास की समाप्ति और दूसरे दिन के उपवास के प्रारंभ के बीच के समय में व्यवधान न होना। वसुनंदि श्रमण के अनुसार यह संकल्प समन्वित प्रत्याख्यान की प्रक्रिया है। किसी मुनि ने संकल्प किया– अगले दिन स्वाध्याय-वेला होने पर यदि शक्ति ठीक रही तो मैं उपवास करुंगा, अन्यथा नहीं करुंगा। यह संकल्प समन्वित प्रत्याख्यान है।

(4) नियंत्रित-प्रत्याख्यान वज्रऋषभ– यह नाराच संहनन चौदह पूर्वधर, जिनकल्पी और स्थाविरों के होता था। वर्तमान में यह व्युच्छिन्न माना जाता है।

(5) साकार प्रत्याख्यान– अपवाद सहित प्रत्याख्यान।

(6) अनाकार प्रत्याख्यान– अपवाद रहित प्रत्याख्यान।

(7) परिमाणकृत प्रत्याख्यान– दत्ति, कवल, भिक्षा, गृह, द्रव्य आदि के परिमाण युक्त प्रत्याख्यान।

(8) निरवशेष प्रत्याख्यान– अशन,पान,खाद्य और स्वाद्य का सम्पूर्ण परित्याग युक्त प्रत्याख्यान।

(9) संकेत प्रत्याख्यान– संकेत या चिह्न सहित किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

(10) अध्वा प्रत्याख्यान– मुहूर्त्त, पौरुषी आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

निर्युक्ति काल में उत्तरगुण का दूसरा वर्गीकरण मिलता है। उसके अनुसार बारह प्रकार का तप उत्तर गुण है।[134]उपासक दशा में मूल गुण, उत्तर गुण का विभाग नहीं है। बारह व्रतों के अन्तर्गत पांच अणुव्रत, सात शिक्षा व्रत के रूप में इनका नामोल्लेख है।

आवश्यक चूर्णि में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत– ऐसे तीन विभाग मिलते हैं। तत्त्वार्थ भाष्य में यह विभाग उपलब्ध नहीं है। इससे लगता है कि गुणव्रत, शिक्षाव्रत का विभाग तत्त्वार्थ सूत्र की रचना के उत्तरकाल में विकसित हुआ है। सर्वार्थसिद्धि और भगवती आराधना में व्रतों की संख्या का क्रम भिन्न है। वहां गुणव्रत, शिक्षाव्रत का उल्लेख है। किन्तु गुणव्रत में दिग्व्रत, देशावकाशिक और अनर्थदण्ड– ये तीन लिये हैं।[135] सिद्धसेन गणी ने दिग्व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण

और अनर्थदण्ड विरति को गुणव्रत स्वीकार किया है।[136] इस मतभेद का उल्लेख महापुराण में मिलता है।[137]

संभावना की जा सकती है कि कालगत भेद के कारण ही प्रथम तीन शिक्षाव्रतों को गुणव्रत के रूप में स्थापित कर लिया गया है। श्रावक के बारह व्रतों के बाद अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना का उल्लेख है। शरीर और कषाय– दोनों को कृश करने के लिये जो तपस्या की जाती है, उसे संलेखना कहते हैं। उसका प्रयोग समाधिमरण पर्यन्त चलता रहता है इसलिये इसका नाम पश्चिम-मारणान्तिक संलेखना है।

वृत्तिकार का अभिमत है कि अमंगल का परिहार करने के लिये पश्चिम के स्थान पर अपश्चिम शब्द का प्रयोग है।[138] संलेखना मृत्यु के भय से मुक्त होने की साधना है। भगवान महावीर ने साधक को अभय और पराक्रमी बनने का मंत्र दिया है। संलेखना उस मंत्र व सिद्धि का उपाय है। संलेखना का विधान मुनि और श्रावक दोनों के लिये है।

मूलगुण व उत्तर गुण के संदर्भ में गौतम स्वामी के कुछ प्रश्न हैं। उनमें सर्वप्रथम गौतम पूछते हैं– भंते ! जीव क्या मूल गुण प्रत्याख्यानी है ? उत्तर गुण प्रत्याख्यानी है? या अप्रत्याख्यानी है ?[139]

भगवान महावीर ने कहा– गौतम ! जीव मूल गुण प्रत्याख्यानी, उत्तर गुण प्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी तीनों है।

व्रत ग्रहण की चेतना प्राणीमात्र में समान नहीं होती। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण की चार प्रकृतियां ऐसी हैं जिनका तीव्र विपाक प्राणी को प्रत्याख्यान के अभिमुख नहीं बनने देता। कुछ मनुष्य और तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय अपने विशुद्ध अध्यवसायों से उसके विपाक को मंद कर देते हैं इसलिये वे प्रत्याख्यान के लिये उद्यत हो जाते हैं। नैरयिक या देवों में ऐसा पुरुषार्थ प्रकट नहीं होता। शेष सभी अमनस्क जीव मानसिक विकास के अभाव में अप्रत्याख्यानी कहलाते हैं। प्रत्याख्यान की क्षमता कुछ जीवों में होती है, कुछ जीवों में नहीं इसलिये जीवों के ये तीन विभाग किये हैं। केवल मूल गुणों से सम्पन्न मुनियों की अपेक्षा उत्तर गुण वाले संख्यात गुण अधिक हैं क्योंकि अधिक मुनि उत्तर गुण संपन्न ही होते हैं। मनुष्यों (श्रावकों) में भी मूल गुण की अपेक्षा उत्तर गुण वाले असंख्यात गुण अधिक हैं।[140] मनुष्य के दो प्रकार हैं– गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज मनुष्य संख्येय हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंख्येय। इस अपेक्षा से ही अप्रत्याख्यानी मनुष्य को संख्येय गुण अधिक कहा है। सर्व प्रत्याख्यान

केवल मनुष्य के ही होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च को देश प्रत्याख्यानी कहा है। नैरयिक जीव अप्रत्याख्यानी हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों तक तथा वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का आलापक नैरयिक जीवों की तरह ही वक्तव्य है।

गौतम ने पूछा– भंते! सर्वोत्तम गुण प्रत्याख्यानी, देशोत्तर गुण प्रत्याख्यानी, और अप्रत्याख्यानी में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक है ? समाधान में कहा–

जीव

संयत	सबसे अल्प
संयतासंयत	असंख्येय गुण अधिक
असंयत	अनन्तगुण अधिक

मनुष्य

संयत	सबसे अल्प
संयतासंयत	संख्येय गुण अधिक
असंयत	असंख्येय गुण अधिक

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च

संयतासंयत	सबसे अल्प
असंयत	असंख्येय गुणा अधिक

संयत का अर्थ है– सावद्य प्रवृत्ति से विरत होना। संयम का परिणाम मूल क्रिया है। प्रत्याख्यान उत्तर क्रिया है। प्रत्याख्यान से संयम पुष्ट होता है।

प्रत्याख्यान आयुष्य-बंध का हेतु भी बनता है। सामान्य जीवों के लिये प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान तीनों आयुष्य-बंध में हेतु बनते हैं। वैमानिक देव का आयुष्य-बंध भी इन तीनों के होता है। शेष तेईस दण्डकों के आयुष्य का बंध अप्रत्याख्यानी जीव ही करते हैं। साधु प्रत्याख्यानी, श्रावक प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी होते हैं इसलिये उनके वैमानिक के अतिरिक्त किसी अन्य आयुष्य का बंध नहीं होता। जयाचार्य ने भगवती जोड़ में इसे स्पष्ट किया है।[141]

जैन दर्शन का उद्देश्य है– निर्वाण। निर्वाण कर्म की शांति से प्राप्य है। कर्म की शांति सर्वविरति से होती है। सर्व-विरति प्रत्याख्यानीय चारित्र मोह के विलय से होने

वाली उपलब्धि है। अविरति में प्रत्याख्यानीय ही नहीं, अप्रत्याख्यानीय कर्म का उदय भी रहता है। अविरति उसी प्रकार शस्त्र है जिस प्रकार तलवार आदि। दोनों हिंसा के हेतु हैं।[142] तलवार आदि द्रव्य-शस्त्र हैं, अविरति भाव-शस्त्र हैं। अविरति की अपेक्षा हाथी और कुंथु को समान क्रिया लगती है। विरति की अपेक्षा सर्वविरति का स्थान सर्वोपरि है।

इस प्रकार असंयम या अविरति की दशा में होने वाला कर्म अप्रत्याख्यान क्रिया है। उसके द्वारा संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के जीवों को सतत कर्म-बंधन होता रहता है। षड्जीवनिकाय की हिंसा का परित्याग नहीं होने से अठारह पापों का सेवन असंज्ञी जीवों में भी पाया जाता है। पांचवें गुणस्थान तक अविरति का प्रवाह चालु रहता है। अविरति के सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया–

"जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा? अणारंभा?

गोयमा ! अत्थे गइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा।"[143]

तात्पर्य यह है, कुछ जीव आत्मारम्भक भी हैं, परारम्भक भी है, उभयारम्भक भी हैं और अनारम्भक नहीं है। कुछ जीव न आत्मारंभक हैं, न परारम्भक है, न उभयारम्भक है, अनारंभक है। उदाहरणार्थ जीव दो प्रकार के है– सिद्ध और संसार समापन्न। सिद्ध अनारंभी है। संसार समापन्न जीव संयत और असंयत दो प्रकार के हैं। जो संयत हैं, उनके दो प्रकार हैं– प्रमत्त, अप्रमत्त। अप्रमत्त संयत केवल अनारम्भक हैं। प्रमत्त संयत शुभयोग की अपेक्षा अनारम्भक है। अशुभयोग की अपेक्षा आत्मारंभक, परारंभक उभयारम्भक हैं, अनारंभक नहीं।

जो प्रमाद आश्रव की विद्यमानता में साधना करता है, वह प्रमत्त संयत कहलाता है। वह प्रमाद के कारण अशुभ-प्रवृत्ति करता है। इसलिये उसको दो क्रियाएं स्पृष्ट करती है– आरम्भिकी और माया-प्रत्यया। अप्रत्याख्यान की क्रिया नहीं होती।

मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया (Promotion of deluded views)

जैन दर्शनानुसार जीव की मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियां अथवा क्रियाएं आश्रव है। आश्रव के पांच प्रकारों में पहला है– मिथ्यात्व। मिथ्यात्व का तात्पर्य अयथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्व ज्ञान का अभाव है। सत्य के प्रति अनास्था के कारण जड़ में चैतन्य, अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि रखना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से होने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है।

मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया का अर्थ स्थानांग वृत्ति और तत्त्वार्थवार्तिक में भिन्न है। स्थानांग वृति के अनुसार मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) के निमित्त से होनेवाली प्रवृत्ति मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है।[144]

तत्वार्थवार्तिक के अनुसार मिथ्यादर्शन की क्रिया करनेवाले व्यक्ति को प्रशंसा आदि के द्वारा समर्थन देना मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है।[145]

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं– सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी। कई प्राणी अनादिकाल से मिथ्यात्वी हैं और अनन्त काल तक मिथ्यात्व से मुक्त नहीं होंगे। तीव्र दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व की ग्रन्थियां गहरी हो जाती हैं। कुछ ग्रन्थि-विमोचन के लिये प्रयास ही नहीं करते, कई प्रयत्नशील होते हैं किन्तु सफलता प्राप्त नहीं होती, ग्रंथि-भेद नहीं हो पाता। प्रतिक्षण मिथ्यात्व का पाप-कर्म बंधता रहता है। मिथ्यादर्शन क्रिया का सम्बन्ध आत्मा से है।

मिथ्यादर्शन क्रिया के दो प्रकार हैं– ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी, तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी।

ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी

इसमें आत्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति अथवा प्रमाण से अधिक या कम मानने रूप मिथ्यादर्शन क्रिया होती है। उदाहरण के लिए आत्मा शरीर प्रमाण है फिर भी उसे अंगुष्ठ पर्व मात्र, यव मात्र और श्यामक जाति के चावल समान कहा जाता है। कोई उसे पांच सौ धनुष्य प्रमाण अथवा सर्वव्यापक कहता है।

तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी

आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार की विपरीत मान्यता रूप मिथ्यात्व से होने वाली क्रिया तद्व्यतिरिक्त है। मिथ्यात्व किसी भी प्रकार का क्यों न हो, उसमें सत्य के प्रति विमुखता दिखाई देती है। आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व के पांच प्रकारों का उल्लेख किया है– [146] (1) एकान्तिक (2) विपरीत (3) वैनयिक (4) सांशयिक (5) अज्ञान।

(1) एकान्तिक–वस्तु तत्त्व अनन्तधर्मान्तक है। वह विरोधी युगलों का समवाय भी है। किसी एक पक्ष का ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं, सत्यांश है। आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेना एकान्तिक मिथ्यात्व है। बौद्ध विचारणा में भी ऐकान्तिक ज्ञान को मिथ्यात्व कहा है।[147]

(2) विपरीत– वस्तु तत्त्व को यथार्थ में ग्रहण न कर विपरीत रूप से ग्रहण करना।

(3) वैनयिक– बिना किसी विमर्श के परम्परागत तथ्यों, धारणाओं, नियमोपनियम को मान लेना यह एक प्रकार की रुढ़िवादिता है।

(4) संशय– संशयावस्था को भी मिथ्यात्व माना है।

(5) अज्ञान– ज्ञान का अभाव। यह मिथ्यात्व का अभावात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है।

जैन चिन्तकों ने अज्ञान को पूर्वाग्रह, विपरीत ग्रहण, संशय और एकान्तिक ज्ञान से पृथक् माना है। ये चारों मिथ्यात्व के विधायक पक्ष है। इनमें ज्ञान का अभाव नहीं अपितु ज्ञान की उपस्थिति है किन्तु अयथार्थ होने से मिथ्यात्व कहा जाता है।

मिथ्यात्व के दस [148] एवं पच्चीस भेदों[149] का भी निरूपण है। बौद्धदर्शन में अविद्या के बीस प्रकार बतलाये गये है।[150] दोनों दर्शनों की विचारधारा में काफी साम्य है। गीता में मोह, अज्ञान या तामस ज्ञान ही मिथ्यात्व है।[151] पाश्चात्य दर्शन में भी मिथ्यात्व को यथार्थ - बोध में बाधक तत्त्व माना है। सत्य के जिज्ञासु को मिथ्या धारणाओं से अलग रहने का निर्देश दिया है। पाश्चात्य-दर्शन में नवयुग के प्रतिनिधि फ्रांसिस बेकन ने कहा है– निर्दोष ज्ञान के लिये मानव को चार मिथ्या धारणाओं से मुक्त रहना जरूरी है। जैसे–

(1) जातिगत मिथ्या धारणाएं (Idole tribius)– सामाजिक संस्कारों से प्राप्त मिथ्या धारणाएं।

(2) व्यक्तिगत मिथ्या विश्वास (Idole Specus)– व्यक्ति के द्वारा बनाई गई मिथ्या धारणाएं।

(3) बाजारू मिथ्या विश्वास (Idole Fori)– असंगत अर्थ आदि।

(4) रंग-मंच की भ्रान्ति (Idole Theatri)– मिथ्या सिद्धांत या मान्यताएं।

उनके अभिमत से इन मिथ्या विश्वासों (पूर्वाग्रहों) से मानस को मुक्त कर ही ज्ञान को यथार्थ और निर्दोष रूप में ग्रहण किया सकता है।[152]

जैन दर्शन में मिथ्यात्व या अविद्या केवल आत्म-निष्ठ (Subjective) ही नहीं, वह वस्तुनिष्ठ भी है। एकान्त या निरपेक्ष दृष्टि मिथ्यात्व है। इससे होने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी है। इसका कर्त्ता मिथ्यादृष्टि कहलाता है। सम्यग्दृष्टि इसका प्रतिपक्ष है। जैनागमों

में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि में निम्नांकित क्रिया की संभावना बतलाई गई है–

नैरयिक जीव

सम्यग्दृष्टि	मिथ्यादृष्टि	सम्यग्मिथ्यादृष्टि
चार क्रियाएं	पांच क्रियाएं	पांच क्रियाएं
(1) आरंभिकी	आरंभिकी	आरंभिकी यावत्
(2) पारिग्रहिकी	यावत्	मिथ्यादर्शन प्रत्यया
(3) माया प्रत्यया	मिथ्यादर्शन प्रत्यया	
(4) अप्रत्याख्यान क्रिया		

मनुष्य

सम्यग्दृष्टि			मिथ्यादृष्टि	सम्यग्मिथ्यादृष्टि
संयत	असंयत	संयतासंयत	5 क्रियाएं	5 क्रियाएं
			आरंभिकी यावत्	आरंभिकी यावत्
प्रमत्त संयत	अप्रमत्त संयत		मिथ्यादर्शन प्रत्यया	मिथ्यादर्शन प्रत्यया

वीतराग इन क्रियाओं की अपेक्षा अक्रिय हैं। नैरयिकों की तरह वैमानिक तक वक्तव्य है। संयतासंयत में तीन क्रियाएं हैं। उनमें अप्रत्याख्यान की क्रिया नहीं है। संयतासंयत शब्द संयत और असंयत के योग से बना है। संयत तो है, संयत में असंयत भी है फिर अप्रत्याख्यान की क्रिया का उल्लेख क्यों नहीं ? वृत्तिकार इस प्रश्न के समाधान में मौन है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने अवश्य इस संदर्भ में विमर्श किया है।[153] उन्होंने लिखा कि संयतासंयत में अप्रत्याख्यान क्रिया का स्कंध (पूर्णरूप) नहीं होता। इस अपेक्षा से सूत्रकार ने कारण को स्पष्ट नहीं किया है। उसके समर्थन में संवादी प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। वे है–

(1) गौतम के प्रश्न पर महावीर ने कहा– पूर्व दिशा में धर्मास्तिकाय नहीं है। उसका देश-प्रदेश है।[154]

(2) आग्नेय कोण में जीव नहीं है, उसका देश-प्रदेश है।[155] यहां धर्मास्तिकाय और जीव का निषेध स्कंध की अपेक्षा से है। इसी प्रकार संयतासंयत में स्कंध की अपेक्षा अप्रत्याख्यान क्रिया का ग्रहण नहीं किया गया है।

प्रथम प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा– गौतम ! किसी एक प्राणी के मारने का त्याग करने वाला भी एकान्त बाल नहीं कहलाता, उसे बाल पंडित कहा जाता है।[156] इस प्रकार आगम साहित्य में संयतासंयत के प्रत्याख्यान - अप्रत्याख्यान सम्बन्धी अनेक प्रमाण मिलते हैं।[157]

क्रिया के पांच प्रकारों के प्रसंग में एक प्रश्न और उठता है कि संयतासंयत के अप्रत्याख्यान क्रिया निरन्तर होती है फिर भी उसकी विवक्षा नहीं की और प्रमत्त संयत के आरंभिकी क्रिया कादाचित्क है। इसके बावजूद भी उसकी विवक्षा की है, ऐसा क्यों?

इस विवक्षा भेद के पीछे रहे कारण को समझने से तथ्य स्पष्ट हो जाता है। संयतासंयत के देश-विरति गुणस्थान में कर्म-बंध की चर्चा पंच-संग्रह में प्राप्त है। वहां अविरति को कर्म-बंध का मिश्र या आधा हेतु माना गया।[158] प्रश्न यह भी है कि प्रमत्त संयत में आरंभिकी क्रिया स्वीकार की है तो पारिग्राहिकी क्यों नहीं ली गई ? जैसे प्रमत्त संयत के कादाचित्क प्राणी की हिंसा हो जाती है वैसे धर्मोपकरण पर भी मूर्च्छा संभव हो सकती है।

उक्त प्रश्न का समाधान भगवती में उपलब्ध है।[159] वृत्तिकार के अभिमत से परिग्रह के दो प्रकार है– धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तु का ग्रहण और धर्मोपकरण पर मूर्च्छा।[160] प्रमत्त संयत मुनि अनारंभी भी होता है, अपरिग्रही भी। अशुभयोग की अपेक्षा आरंभ मानकर आरम्भिकी क्रिया भी स्वीकार की है। पारिग्रहिकी क्रिया का सम्बन्ध अविरति से है। प्रमत्त संयत अविरति का प्रत्याख्यान कर देता है इसलिये पारिग्राहिकी क्रिया का ग्रहण नहीं किया है। छठे गुणस्थान में अठारह आश्रव होते हैं। मिथ्यात्व आश्रव और अविरति आश्रव नहीं होते। क्रियाओं की व्याप्ति का नियम पन्नवणा के अनुसार यह है कि जिसके आरंभिकी क्रिया है, उसके पारिग्रहिकी क्रिया विकल्पत: होती है और पारिग्रहिकी क्रिया के साथ आरंभिकी नियमत: होती है।[161]

इसी प्रकार आरंभिकी के साथ माया-प्रत्यया की व्याप्ति है। किन्तु उसके साथ आरंभिकी कादाचित्क है। आरंभिकी के साथ अप्रत्याख्यान क्रिया का विकल्प है। अप्रत्याख्यान के साथ आरंभिकी निश्चित है। आरंभिकी के साथ मिथ्यादर्शन का भी विकल्प है। किन्तु मिथ्यादर्शन के साथ आरंभिकी अवश्यंभावी है। यह क्रिया का सिद्धांत मन से परे का सिद्धांत है। पृथ्वीकाय से लेकर अमनस्क पंचेन्द्रिय तक के जीवों में पांचों क्रियाएं होती हैं। इसका फलित स्पष्ट हैं कि आत्मा का अस्तित्व मन से परे बहुत गहरे में है। मन केवल उसका सतही स्तर है।

वृत्तिकार ने प्रश्न उठाया कि कर्म-बंध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग आदि आश्रव माने गये हैं। फिर आरंभ आदि को भी कर्म-बंध में निमित्त मानने से क्या परस्पर विरोध नहीं आता ? इसका समाधान वे स्वयं करते हुए लिखते हैं कि आरंभ और परिग्रह योग के भेद है। ये सारी क्रियाएं आश्रव से ही सम्बद्ध हैं इसलिये विरोध का प्रसंग उपस्थित नहीं होता ![162]

आरम्भिकी क्रिया	–	जीवों के उपमर्दन की प्रवृत्ति।[163]
पारिग्रहिकी क्रिया	–	धन के अर्जन-रक्षण में मूर्च्छा जन्य प्रवृत्ति।[164]
मायाप्रत्यया क्रिया	–	मायात्मक प्रवृत्ति।
अप्रत्याख्यान क्रिया	–	अविरतिमय प्रवृत्ति।
मिथ्यादर्शन क्रिया	–	मिथ्यादर्शनात्मक प्रवृत्ति।

ये सब क्रियाएं कर्म के आश्रवण की निमित्त बनती हैं। परिणाम की तीव्रता - मंदता के आधार पर क्रिया की सघनता और विरलता हो जाती है। उमास्वाति ने लिखा है–

'तीव्र-मंद-ज्ञाताज्ञातभाव वीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष:।'[165] इन पांच क्रिया सूत्रों में गृहस्थ में आरंभिकी आदि चारों क्रिया की संभावना स्पष्ट हो जाती है। मिथ्यादर्शन प्रत्यया का सम्बन्ध मिथ्यात्वी से है। सम्यग्दृष्टि में यह क्रिया नहीं होती इसलिये विकल्प रूप से निर्दिष्ट है। भगवती भाष्य में क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में गौतम ने प्रश्न किया कि एक गृहस्थ भाण्ड (बर्तन) बेच रहा है। उस समय भाण्ड का कोई अपहरण कर लेता है। अर्पत भाण्ड की गवेषणा करते हुए गृहस्थ को उक्त पांच क्रियाओं में से कितनी क्रियाएं स्पृष्ट करती हैं ?[166] समाधान दिया गया– प्रथम, गृहपति अपनी अपहृत वस्तु की खोज करता है। उसके आरंभिकी आदि चार क्रियाएं स्पृष्ट होती है। खोज करने पर वस्तु मिल जाती है तब वे क्रियाएं प्रतनु (पतली) हो जाती हैं। कारण स्पष्ट है, खोज के समय प्रयत्न अधिक होता है। वस्तु मिलने पर वह प्रयत्न शिथिल पड़ जाता है। दूसरा, खरीददार को क्रीत वस्तु प्राप्त हो गई, उसके क्रिया चतुष्क होती है। विक्रेता के क्रिया–चतुष्क प्रतनु हो जाती है। तीसरा, खरीददार को खरीदी हुई वस्तु प्राप्त नहीं हुई इसलिये उस वस्तु विषयक क्रिया हो तो चतुष्क प्रतनु और विक्रेता के स्पृष्ट होती है क्योंकि बेची गई वस्तु विक्रेता के अधिकार में है। चौथा, खरीददार ने वस्तु खरीदने का वचन दिया किन्तु विक्रेता को कीमत भुगतान नहीं की, उस स्थिति में विक्रेता के क्रिया चतुष्क प्रतनु और खरीददार के पुष्ट होता है। कारण, धन अभी खरीददार के अधिकार में है। पांचवां, विक्रेता को बेची हुई वस्तु की कीमत मिल गई, इस अवस्था में विक्रेता के क्रिया चतुष्क

पुष्ट और खरीददार के प्रतनु होती है। कारण, खरीददार का उस धन पर अधिकार नहीं रहा। निष्कर्ष यह है कि वस्तु और धन जिसके अधिकार में है, उसके क्रिया सघन होती है। जिसके अधिकार में नहीं उसके क्रिया पतली होती है।

वेदना और क्रिया

क्रिया और वेदना में कार्य-कारण सम्बन्ध है। वृत्तिकार ने क्रिया के दो अर्थ किये हैं। क्रिया से होने वाला कर्म-बंध अथवा क्रिया ही कर्म-बंध है। वेदना का अर्थ है– क्रिया प्रतिक्रिया का अनुभव। अनुभव कर्म का ही होता है। कर्म नहीं तो अनुभव किसका?[167] क्रिया कर्म की बीज है तो वेदना उसका फल है। बीज के अभाव में फल संभव नहीं है ? यह एक सार्वभौमिक सत्य है। फिर मंडित पुत्र की जिज्ञासा के पीछे हेतु क्या है कि दु:ख क्रिया पूर्वक होता है या दु:ख होने के पश्चात् कोई क्रिया होती है ?जैसे वृत्तिकार ने क्रिया के दो अर्थ किये वैसे वेदना के भी दो अर्थ हैं– दु:ख और अनुभव। कुछ दु:खवादी दु:ख को अहेतुक मानते हैं। परिस्थितिवादी दु:ख को परिस्थिति जन्य स्वीकार करते हैं। लगता है, इन विकल्पों को लक्षित कर ही मंडित पुत्र ने प्रश्न किया।

भगवान् महावीर ने प्रत्युत्तर में कहा कि क्रिया दु:ख का कारण है, इसलिये पहले होती है। दु:ख कार्य है अत: पीछे होता है।[168] इसकी व्याख्या का दूसरा दृष्टिकोण इस प्रकार है- क्रिया का अर्थ है आश्रव और वेदना का अर्थ है– कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध। आश्रव और कर्म का पौर्वापर्य जानने के लिये मंडित पुत्र ने प्रश्न पूछा। उसके उत्तर में भगवान का कहना था कि पहले आश्रव फिर कर्म-पुद्गलों का बंध होता है। मंडित ने पुन: पूछा– भंते ! क्या श्रमण-निर्ग्रंथों के क्रिया होती है?, यदि होती है तो वह कैसे?

भगवान महावीर ने कहा– मंडित पुत्र ! उसका कारण है– प्रमाद और उसमें निमित्त बनता है- योग। प्रमाद और योग इन दो हेतुओं से क्रिया होती है।[169] ठाणं में चार हेतुओं का उल्लेख है[170] उत्तरवर्ती साहित्य में पांच कारण बतलाये गये हैं। कर्म - बंध के पांच कारणों का प्रयोग प्रथम उमास्वाति ने किया है– 'मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बंधहेतव:'[171] कर्मशास्त्र में कर्म-बंध के चार कारण निर्दिष्ट हैं। उनमें प्रमाद का उल्लेख नहीं है।[172] सभी प्रकार के वर्गीकरण में यही प्राचीन प्रतीत होता है किन्तु प्रमाद की निश्चित परिभाषा फलित नहीं हो सकी। सावद्य प्रवृत्ति मात्र को प्रमाद माने तो योग का उससे भिन्न कोई अर्थ नहीं होता। उस स्थिति में अशुभयोग और प्रमाद एकार्थक बन जायेगें।[173] यदि दो हेतु हैं तो दोनों की स्वतंत्र सीमा होनी चाहिये। सीमा की दृष्टि से आचार्य महाप्रज्ञ का निष्कर्ष इस प्रकार है कि कर्म बंध की प्रक्रिया में मुख्यत: हेतुभूत

दो कर्म हैं– मोह कर्म और नाम कर्म। प्रमाद मोहकर्म का सूचक है और योग नाम कर्म का। उनके अभिमत से प्रमाद का अर्थ मोहकर्म के उदय से होने वाली मूर्च्छा अथवा अशुभ व्यापार है। योग का तात्पर्य मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति है।[174]

वीर्य दो प्रकार का है– क्रियात्मक और अक्रियात्मक। अपरिस्पंदनात्मक वीर्य का सम्बन्ध जीव से है। परिस्पंदनात्मक वीर्य शरीर से निष्पन्न है। उसी से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियां संचालित होती है।[175] जहां प्रवृत्ति (क्रिया) है वहां कर्म-बंध अवश्यंभावी है। इस प्रकार कायिकी आदि क्रिया-पंचक और आरंभिकी आदि क्रिया-पंचक की क्रियाएं नारकी से वैमानिक देवों तक सभी दण्डकों में पाई जाती हैं।

तृतीय क्रिया-पंचक

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्रिया से होता है। आत्मा में राग -द्वेषात्मक प्रकंपनों की विद्यमानता में कर्म-परमाणुओं का आश्रवण होता रहता है। शरीर धारण और जीवन-यात्रा का निर्वहन कर्म (क्रिया) के अधीन है इसलिये क्रिया के अनेक प्रकारों का निरूपण स्वाभाविक है। तृतीय क्रियापंचक के अन्तर्गत निम्नोक्त क्रियाओं की समायोजना की गई है–

दृष्टिका और स्पृष्टिका क्रिया

इन दो क्रियाओं के स्थान पर तत्त्वार्थवार्तिक में दर्शन क्रिया एवं स्पर्शन क्रिया का नामोल्लेख है। स्थानांग वृत्ति के आधार पर लगता है कि इनकी अर्थाभिव्यंजना वृत्तिकार के समक्ष अस्पष्ट रही है। उन्होंनें इन दोनों के अनेक अर्थ किये हैं। उनके अनुसार दृष्टिजा अर्थात् दृष्टि से होने वाली क्रिया। दूसरा अर्थ दृष्टि का किया है– दृष्टि के निमित्त से होने वाली क्रिया अथवा वस्तु को देखने के निमित्त से जो क्रिया होती है। दर्शन के लिये जो गति क्रिया होती है अथवा दर्शन से जो कर्म का उदय होता है, वह दृष्टिजा या दृष्टिका कहलाती है। इसी प्रकार स्पृष्टिका के भी पृष्टिजा, पृष्टिका, स्पृष्टिजा और स्पृष्टिका ऐसे चार अर्थ किये हैं।[176] तत्त्वार्थवार्तिक में दर्शनक्रिया और स्पर्शन क्रिया का अर्थ बहुत स्पष्ट है।

दर्शन-क्रिया (Urges for Visual Gratification)– राग के वशीभूत होकर प्रमादी व्यक्ति का रमणीय रूप देखना।

स्पर्शन-क्रिया (Urges for Tactile Gratification) – प्रमाद वश छूने की प्रवृत्ति।[177]

दृष्टिजा के दो प्रकार है– जीव दृष्टिजा, अजीव दृष्टिजा।

जीव दृष्टिजा– प्राणियों को देखने के लिये जाने से लगने वाली क्रिया।

अजीव दृष्टिजा– अजीव (चित्र आदि) के देखने से लगने वाली क्रिया।

सिद्धसेन गणी के अनुसार राजा के राजमहल से बाहर निकलते या प्रवेश करते समय निकट स्थल पर नट, नर्तक, मल्ल, मेष, वृष आदि के युद्ध आदि को देखने की तीव्र इच्छा अथवा उसके लिये चेष्टा करना जीव सम्बन्धी दृष्टिजा क्रिया है।[178]

इसी प्रकार स्पृष्टिका के भी दो प्रकार हैं– जीव स्पृष्टिका, अजीव स्पृष्टिका।

जीव स्पृष्टिका

'तत्र जीव-स्पर्शन क्रिया योषित्पुरुषनपुसंकांऽगंस्पर्शनलक्षणराग-द्वेष-मोह भाजः।' अर्थात् राग-द्वेष अथवा मोहवश स्त्री-पुरुष और नपुसंक के अंगों का स्पर्श करना अथवा उनसे प्रश्न पूछना।[179]

अजीव स्पृष्टिका

राग-द्वेष वश पशुओं के रोम से निर्मित (बने हुए) कम्बल, अन्य वस्त्र, पट्ट, शाटक, नीली और तकिया आदि के स्पर्श से होने वाली क्रिया।[179अ]

(3) प्रात्यायिकी क्रिया (Inventing and manufacturing lethal weapons) :

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रातीत्यिकी क्रिया का उल्लेख नहीं बल्कि नामान्तर से प्रात्यायिकी क्रिया का निर्देश है। लगता है पडुच्च का ही संस्कृतीकरण प्रत्यय किया गया है। प्रात्यायिकी क्रिया का अर्थ नये - नये कलहों को उत्पन्न करना। जीव-अजीव के निमित्त से उत्पन्न राग - द्वेषमय परिणाम से लगने वाली क्रिया प्रातीत्यिकी है। नये-नये पापादानकारी अधिकरणों के उत्पन्न करने से उनके द्वारा प्रातीत्यिकी या प्रात्यायिकी क्रिया होती है।[180]

(4) सामन्तोपनिपातिकी क्रिया (Evacuating Bowels or Vomiting at Gathering of Men and Women)

चारों तरफ से एकत्र जन-समूह में होने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया है।[181]राजवार्तिक,[182] श्लोक वार्तिक,[183] तत्त्वार्थ सूत्र,[184] सर्वार्थसिद्धि[185]आदि के

अनुसार स्त्री-पुरुष से जनाकीर्ण स्थान में मलोत्सर्ग करने में प्रमाद वश लगने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया होती है। स्थानांग वृत्ति और तत्त्वार्थवार्तिक में अर्थ की भिन्नता है। स्थानांग वृत्ति के अनुसार सामन्तोपनिपात– जन-मिलन में होने वाली क्रिया है।[186]

तत्त्वार्थ वार्तिककार के अनुसार स्त्री - पुरुष, पशु आदि से व्याप्त स्थान में मलोत्सर्ग करना सामन्तोपनिपातिकी क्रिया है।[187] हरिभद्र सूरि के अभिमत से सामन्तानुपात क्रिया का अर्थ है– स्थण्डिल आदि में भक्त आदि विसर्जित करने की क्रिया। स्थानांग वृत्ति में सामन्तोपनिपातिकी के दो प्रकार हैं– जीव सामन्तोपातिकी और अजीव-सामन्तोपनिपातिकी।

जीव सामन्तोपनिपातिकी– अपने आश्रित बैल, हाथी, घोड़ा, दास-दासी आदि के निमित्त से होने वाली क्रिया।

अजीव सामन्तोपनिपातिकी– रथ, घर, महल, धातु आदि का संग्रह करना तथा जन-समूह से उनकी प्रशंसा सुनकर हर्षित होना। इस निमित्त से उस मालिक को जो क्रिया होती है, वह अजीव सामन्तोनिपातिकी है। यह भी एक संकेत है। वस्तुत: प्रस्तुत क्रिया का आशय होना चाहिये कि जीव-अजीव आदि द्रव्य समूह के संपर्क से होने वाली मानसिक उतार- चढ़ाव की प्रवृत्ति अथवा उनके प्रतिकूल आचरण।

(5) स्वहस्तिकी क्रिया (Undertaking Others Duties out of Anger or Conceit)

स्थानांग वृत्ति के अनुसार स्वहस्त क्रिया का अर्थ है– अपने हाथ से निष्पन्न क्रिया।[188] जीव-अजीव के निमित्त से यह क्रिया दो प्रकार की है। स्थानांग वृत्तिकार ने जीव स्वहस्तिकी क्रिया की परिभाषा इस प्रकार की है– जहां अपने हाथ में धारण किये खड्ग आदि शस्त्र से किसी जीव को मारा जाये अथवा अपने हाथ से मारा जाये, उस निमित्त से होने वाली क्रिया जीव स्वहस्तिकी है। अथवा क्रोध अभिमान के वशवर्ती होकर दूसरों को काम से हटा स्वयं अपने हाथ से करने पर जो क्रिया लगती है, वह जीव स्व-हस्तिकी है। तत्त्वार्थवार्तिक में भी यही अर्थ उपलब्ध है।

उसके अनुसार दूसरों के द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं करना जीव स्वहस्तिकी क्रिया है।[189]अजीव अर्थात् खड्गादि शस्त्रों के निमित्त से होने वाली क्रिया अजीव स्वहस्तिकी है।

चतुर्थ क्रियापंचक

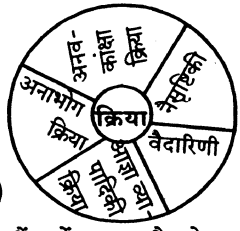

चतुर्थ क्रियापंचक में निम्नोक्त पांच क्रियाओं का समावेश है–

(1) नैसृष्टिकी क्रिया (Approving of an Evil Act)

स्थानांग वृत्तिकार ने नैसृष्टिकी क्रिया के दो अर्थ किये हैं– फेंकना और देना। तत्त्वार्थ वार्तिक और सर्वार्थसिद्धि में नैसृष्टिकी क्रिया के स्थान पर निसर्ग क्रिया का उल्लेख है। वृत्तिकार ने भी इसका वैकल्पिक अर्थ निसर्ग किया है। निसर्ग क्रिया का अर्थ है– पापादान आदि प्रवृत्ति के लिये अपनी सम्मति देना अथवा आलस्य वश प्रशस्त क्रियाओं को न करना।[190] श्लोकवार्तिक में भी ये दोनों अर्थ उपलब्ध हैं।[191] उसके दो विभाग हैं– जीव नैसृष्टिकी, अजीव नैसृष्टिकी।

जीव नैसृष्टिकी– राजा आदि की आज्ञा से यंत्र के माध्यम से जल का उत्पेक्षण अथवा गुरू के समीप शिष्य और पुत्र को छोड़ने के निमित्त से उत्पन्न क्रिया जीव नैसृष्टिकी है।[192]

अजीव नैसृष्टिकी– बाणादि फेंकने के निमित्त से होने वाली अथवा गुरू आदि को शुद्ध भक्त - पानादि का दान देने के निमित्त से होने वाली क्रिया अजीव नैसृष्टिकी है।

(2) वैदारिणी क्रिया (Divulging the Sins of Others)

क्रियाओं के चतुर्थ वर्ग में आज्ञापनिका और वैदारिणी दो क्रियाएं निर्दिष्ट है। किसी वस्तु को फाड़ने या विदारने से अथवा दूसरों के द्वारा की गई सावद्य आदि क्रियाओं का प्रकाशन करने के निमित्त से होने वाली क्रिया वैदारणिकी क्रिया कहलाती है। तत्त्वार्थ भाष्य तथा उसकी समस्त व्याख्याओं में विदारण क्रिया का अर्थ है– दूसरों द्वारा आचरित निंदनीय कर्म का प्रकाश।[193] वहां विदारण का अर्थ स्फोट किया है। इसका तात्पर्य है– गुप्त बात का प्रकाशन करना।[194] वैदारिणी क्रिया की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि वृतिकार के सामने उसकी निश्चित अर्थ– परम्परा नहीं रही है इसलिये उन्होंनें विदारण, विचारण और वितारण इन शब्दों से उसे व्याख्यायित किया है। किसी जीव-अजीव वस्तु का फाड़ना-विदारण करना, जीव-अजीव वैदारणिकी क्रिया है। किसी जीव (घोड़ा, गाय आदि), अजीव (मूर्ति, शंख आदि) वस्तु को बेचते हुए ठगने के अभिप्राय से उनमें अविद्यमान गुणों का वर्णन करना जीव-अजीव वैदारणिकी क्रिया है।[195]

(3) आज्ञाव्यापादिकी क्रिया (Arbitrary Interpretation of Scriptural Teachings)

'आणवणिया' शब्द के वृत्तिकार ने दो अर्थ किये है– आज्ञा देना और मंगवाना।[196] आदेश देने या वस्तु मंगवाने के निमित्त से जो क्रिया हो वह आज्ञापनिका, आनायनिका क्रिया होती है।

इसमें शब्द और अर्थ दोनों का भेद है। तत्त्वार्थ वार्तिक में इसके स्थान पर आज्ञाव्यापादिका क्रिया का उल्लेख है। इसका तात्पर्य है– चारित्र मोह के उदय से आवश्यक आदि क्रिया करने में असमर्थ होने पर शास्त्रीय आज्ञा का अन्यथा निरूपण करना।[197] स्थानांग वृत्तिकार ने जीव और अजीव की दृष्टि से इसके दो प्रकार बतलाये हैं– जीव आज्ञापनिका और अजीव आज्ञापनिका।

जीव आज्ञापनिका

जीव के आज्ञा करने अथवा लाने के निमित्त से होने वाली अर्थात् दूसरे द्वारा जीव को आज्ञा करने तथा लाने के निमित्त से होने वाली क्रिया जीव आज्ञापनिका क्रिया है। इसी प्रकार अजीव से सम्बन्धित अजीव आज्ञापनिका क्रिया है।

(4)अनाभोग प्रत्यया क्रिया-(Occupying Uninspected and Unswept Places and Leaving Things There)

''अनाभोग-अज्ञानं प्रत्ययो-निमित्तं यस्या सा तथा'', अर्थात् अज्ञान के निमित्त से होने वाली क्रिया अनाभोग प्रत्यया है। [198] दूसरे शब्दों में, अयतनापूर्वक गमन, प्रमार्जन, प्रतिलेखन आदि करने से होनी वाली क्रिया अनाभोग प्रत्यया है।

आगम सूत्रपाठ में इसके दो भेद निर्दिष्ट हैं– अनायुक्त आदानता, अनायुक्त प्रमार्जनता।

अनायुक्त आदानता– असावधानी से वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि उठाना।

अनायुक्त प्रमार्जनता– असावधानी से पात्र आदि का प्रमार्जन करना।

इनमें निक्षेप-उपकरण आदि रखने का अर्थ समाहित नहीं है। सूत्रकार को उसे आदान के द्वारा गृहीत करना विवक्षित है। तत्त्वार्थ सूत्र की व्याख्याओं में अप्रमार्जित और अदृष्टभूमि में शरीर, उपकरण आदि रखना अनाभोग प्रत्यया क्रिया है।[199]

(5)अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया (Disrespect for the Scriptural Teaching)

आलस्य या प्रमाद वश स्व शरीर से नहीं करने अथवा शास्त्रोक्त विधि - व्यवहारों को नहीं करने से जो क्रिया लगती है, वह अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया है। इसका आशय है– स्व या पर शरीर से निरपेक्ष होकर किया जानेवाला, क्षति पहुंचाने वाला कर्म।[200] तत्त्वार्थ सूत्र के व्याख्याकार का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार-शठता और आलस्य के कारण शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानों का अनादर करना।[201] जिस प्रकार कोई भी समझदार व्यक्ति अपना वस्त्र मलिन करना नहीं चाहता। किन्तु एक कालावधि के बाद स्वयं मलिन हो जाता है। इसी प्रकार अनैच्छिक जो क्रिया होती है, वह अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया है। इसके दो प्रकार हैं– स्व-शरीर अनवकांक्षा, पर-शरीर अनवकांक्षा।

स्व-शरीर अनवकांक्षा– अपने शरीर का नाश करने वाले कार्यों के निमित्त से होने वाली क्रिया स्व-शरीर अनवकांक्षा है।

पर-शरीर अनवकांक्षा– दूसरे के शरीर को नष्ट करने वाले कार्यों के निमित्त से जो क्रिया होती है, वह पर-शरीर अनवकांक्षा है।

पंचमक्रिया पंचक

(1) प्रेयस प्रत्यय क्रिया– माया और लोभ से होने वाली क्रिया प्रेयस प्रत्यया है।[202] माया और लोभ राग के लक्षण है। किसी जीव या अजीव वस्तु के प्रति स्नेहभाव राग है। कषाय मोहनीय कर्म के उदय या उदीरणा से राग भाव उत्पन्न होता है। नारक से लेकर उच्चकोटि के देव भी राग भाव से उत्पन्न इस क्रिया से संपृक्त है।

राग क्रिया जीव है। राग क्रिया यदि व्याघात न हो तो छः दिशाओं का और व्याघात होने से कदाचित् 3,4,5 दिशाओं का स्पर्श करती है। यह क्रिया आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं। यह क्रमपूर्वक की जाती है, अनुक्रम से नहीं।

नारक जीव राग-क्रिया सब द्रव्यों के विषय में करते है। यह क्रिया नियमतः छहों दिशाओं का स्पर्श करती है। एकेन्द्रिय को छोड़कर वैमानिक देव तक सभी दण्डकों में नारक की तरह ज्ञातव्य है। एकेन्द्रिय जीवों का सामान्य जीव के समान कथनीय है। राग-प्रत्ययिकी क्रिया करता हुआ जीव उसी प्रकार कर्म बंध करता है जैसे प्राणातिपात क्रिया करता हुआ जीव कर्म-बंध करता है।

(2) द्वेष प्रत्ययिकी क्रिया– क्रोध और मान द्वेष के लक्षण हैं।[203] इनके निमित्त से होने वाली क्रिया द्वेष प्रत्ययिकी है।

क्रोध प्रत्ययिकी– क्रोध के निमित्त से होने वाली क्रिया।

मान प्रत्ययिकी– जीव-अजीव वस्तु के प्रति राग-द्वेष-अहंभाव लाना द्वेष है। टीकाकारों ने सुगमता के कारण उनका अधिक विवेचन नहीं किया। अन्य सब राग प्रत्ययिकी क्रिया की तरह ज्ञातव्य हैं।

(3) प्रायोगिकी क्रिया– वीर्यान्तराय क्षयोपशम से आविर्भूत वीर्य के द्वारा होने वाले मन-वचन-काय रूप व्यापार से उत्पन्न क्रिया प्रायोगिकी है।[204]

प्रयोग क्रिया के तीन प्रकार हैं– मनप्रयोग क्रिया, वचन-प्रयोग क्रिया, काय-प्रयोग क्रिया।

मन प्रायोगिकी– ईर्ष्या, घृणा, अभिमान आदि मानसिक चंचलता से अर्थात् असत् विचार करने से जो क्रिया होती है, वह मन-प्रायोगिकी है।

वचन प्रायोगिकी– कटुवचन (हिंसात्मक वचन) का प्रयोग करने से होने वाली क्रिया।

काय प्रायोगिकी– गमनागमन की प्रवृत्ति से होने वाली क्रिया।

(4) सामुदानिकी क्रिया– अनेक लोग एक साथ, एक ही प्रकार की क्रिया करते हैं, उसे सामुदानिकी क्रिया कहा जाता है। उदाहरणार्थ– नाटक, सिनेमा आदि का अवलोकन, कम्पनी खोलना, मेले आदि में हजारों व्यक्तियों का एकत्रित होना या अन्य आरम्भ जन्य कार्य करना। सामुदानिकी क्रिया से उपार्जित कर्मों का उदय भी प्राय: एक साथ होता है। भूकंप, भूस्खलन, जल-प्लावन, अग्नि-दाह, मोटर, ट्रेन, प्लेन का एक्सीडेंट, प्लेग या महामारी आदि के निमित्त से अनेक व्यक्तियों का एक साथ मरण हो जाता है, यह सामुदानिकी क्रिया का फल है।[205] प्रयोग क्रिया द्वारा एक रूप में ग्रहण तथा कर्मों को प्रकृति-बंध रूपों में देशघाति और सर्वघाति रूप में ग्रहण करना समुदान क्रिया है। उसके तीन प्रकार हैं– (1) अनंतर समुदान क्रिया (2) परम्पर समुदान क्रिया (3) तदुभय समुदान क्रिया।

अनन्तर अर्थात् प्रथम समय की समुदान क्रिया अनन्तर समुदान क्रिया है। प्रथम समय को छोड़कर द्वितीयादि समय की समुदान क्रिया परम्पर समुदान क्रिया है। प्रथम

तथा अप्रथम दोनों समय में होनेवाली क्रिया तदुभय समुदान क्रिया है।[206] दूसरे शब्दों में,चालू काम को बंद करके कुछ समय के बाद पुन: प्रारंभ करना सान्तर कहलाता है। निरन्तर-अन्तर रहित कार्य करना है। कुछ व्यक्ति सान्तर क्रिया करते हैं, कुछ अनन्तर भी। ये सभी सामुदानिक क्रिया के प्रकार है।

ईर्यापथिकी क्रिया (Urges That Produce Instantaneous Inflow)

ईर्या और पथ इन दो शब्दों से निष्पन्न है ईर्यापथ शब्द। ईर्या का शाब्दिकी अर्थ है– गति यानी प्रवृत्ति। पथ शब्द का अर्थ है– हेतु। ईर्यापथिक क्रिया में केवल प्रवृत्ति योग या चंचलता ही कर्म बंध की हेतु है। इसमें कषाय का योग नहीं है। [207] कषाय संयुक्त आत्मा के साम्परायिक क्रिया होती है। भगवती के प्रथम शतक में ईर्यापथिकी का सम्बन्ध मात्र काययोग से माना है। उसी सूत्र के सातवें शतक में उसका सम्बन्ध अकषाय से है।

सिद्धसेन ने अकषाय के दो प्रकार किये हैं– वीतराग और सराग। वीतराग अकषाय के तीन प्रकार हैं– उपशान्तमोह, क्षीणमोह और केवली। कषाय की अनुदय अवस्था में संज्वलन कषाय वाला भी अकषायी होता है। वह सराग अकषायी है।[208] इसके समर्थन में उन्होंनें ओघनिर्युक्ति की एक गाथा उद्धृत की है। ओघनिर्युक्ति की वृत्ति में द्रोणाचार्य ने लिखा है– जो मुनि ज्ञानी है, अप्रमत्त है, उसके काययोग से कोई प्राणी मर जाता है तो भी उसे साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता, केवल ईर्यापथिक कर्म का बंध होता है।[209] भगवती में इसका संवादी प्रकरण है–

गौतम– भंते ! संवृत्त अनगार आयुक्त दशा (तन्मय होकर) में चलता है, खड़ा होता है, बैठता है, लेटता है, वस्त्र-पात्र, कंबल, पाद-प्रौञ्छन लेता है, रखता है। उसे ऐर्यापथिकी क्रिया होती है या सांपरायिकी क्रिया ?[210]

भगवान महावीर ने कहा -गौतम ! उसके ऐर्यापथिक बंध होता है, साम्परायिक नहीं क्योंकि जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न हो जाते हैं, उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। व्यवच्छिन्न नहीं होने से साम्परायिकी क्रिया होती है। अथवा शास्त्र के अनुसार चलने वाले के ऐर्यापथिकी और शास्त्र के विपरीत चलने वाले के साम्परायिकी क्रिया होती है।[211] वृत्तिकार के अनुसार उपशांत मोह, क्षीणमोह, और सयोगी केवली क्रमश: ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में नामकर्म के उदय के कारण से योग की शुभ प्रवृत्ति होती रहती है, उससे सात वेदनीय कर्म के दलिकों का बंध भी होता है किन्तु कषाय रहित होने से प्रकृति बंध और प्रदेश बंध ही होता है, स्थिति एवं अनुभाग बंध नहीं होता।

वृत्तिकार के इस अर्थ का आधार भगवती भाष्य का आगम पाठ है। आगमकार ने क्रोध, मान, माया, लोभ के लिये व्युच्छिन्न तथा अव्युच्छिन्न शब्द का प्रयोग किया है। यहां क्षीण शब्द का उल्लेख नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के अभिमत से व्युच्छिन्न शब्द विमर्शनीय है। व्युच्छिन्न का अर्थ क्षीण होना, यह संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में मोह उपशान्त होता है।

जयाचार्य ने व्युच्छिन्न का अर्थ उपशान्त होना किया है।[212] पतञ्जली ने क्लेश की चार अवस्थाएं बतलाई है -प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। क्लेश समय-समय पर विच्छिन्न होता रहता है। वह सदा लब्धवृत्ति अथवा उदित अवस्था में नहीं रहता।[213]

अभयदेवसूरि ने भी वोच्छिन्न का अर्थ 'अनुदित' किया है।[214(क)] इन व्युच्छिन्न और अव्युच्छिन्न पदों के आधार पर ओघनिर्युक्तिकार और सिद्धसेन का मत चिंतन मांगता है।

वस्तुत: गमन मार्ग से होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी है। उसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ केवल योग से होने वाली क्रिया किया गया है। भगवती वृत्ति की व्याख्या में इसे काययोग जन्य माना है[214(ख)] तथा भगवती वृति में इसे योग निमित्तक कहा है।[214(ग)] पहले वक्तव्य में काययोग निमित्तक, दूसरे में योग निमित्तक ऐर्यापथिकी क्रिया मानी गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऐर्यापथिकी का बंध काययोग से ही होता है क्योंकि वचनयोग एवं मनोयोग पर साधक का पूर्ण नियंत्रण होता है। काय योग पर उतना अनुशासन संभव नहीं। अत: जहां योग का उल्लेख किया वहां काययोग समझना चाहिये। वीतराग के तीनों योग हैं किन्तु प्रमुखता काययोग की परिलक्षित होती है।

भगवती में ऐर्यापथिकी का प्रयोग पन्द्रह स्थानों पर हुआ है। ईर्यापथ बंध का प्रयोग चार स्थानों पर है। वृत्तिकार ने ईर्यापथ का व्युत्पतिलभ्य अर्थ गमन-मार्ग किया है। किन्तु यह अर्थ उपलक्षण मात्र है। चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना आदि स्थूल क्रिया और उन्मेष-निमेष अथवा पलक झपकने जैसी सूक्ष्म क्रिया के साथ भी उसका सम्बन्ध है। इसलिये ईर्यापथ का अर्थ व्यापक संदर्भ में करना चाहिये। ईर्यापथ अर्थात् जीवन-व्यवहार के लिये होने वाली क्रिया। उससे जो कर्म बंध होता है, उसका नाम है ऐर्यापथिकी क्रिया।[215]

बौद्ध साहित्य में उल्लिखित कायानुपश्यना का स्वरूप ऐर्यापथिकी जैसा ही है।

बुद्ध ने कहा– भिक्षुओं ! भिक्षु जाते हुए 'जाता हूं' जानता है। बैठे हुए 'बैठा हूं' जानता है। सोए हुए 'सोता हूं' जानता है। जिस रूप में उसकी काया अवस्थित होती है, उसी रूप में वह उसे जानता है। उसी प्रकार काया के भीतरी भाग में कायानुपश्यी बनकर विहार करता है। काया में समुदय (उत्पत्ति) धर्म देखता है। काया में व्यय (विनाश) धर्म और काया समुदय-व्यय धर्म देखता हुआ विहरण करता है।[216] इस प्रकार जैनदर्शन में जिसे ईर्यापथ अथवा असाम्परायिक क्रिया कहा जाता है, बौद्ध उसे क्रिया चेतना कहते हैं।

ऐर्यापथिकी क्रिया में होने वाले कर्म-बंध की प्रक्रिया का निर्देश भगवती में है। इस क्रिया के प्रथम समय में कर्म का बंध और स्पर्श होता है। कर्म प्रायोग्य परमाणु-स्कंधों का कर्म रूप में परिणमन होना 'बद्ध-अवस्था' है। जीव प्रदेशों के साथ उनका स्पर्श होना स्पृष्ट अवस्था है। इन्हें क्रमशः बध्यमान और वेद्यमान अवस्था भी कहा जाता है। द्वितीय समय में बद्ध कर्म का वेदन होता है। तृतीय समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। सूत्रकार ने द्वितीय समय की अवस्था को 'उदीरिया वेइया' इन दो शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट किया है। इसका तात्पर्य है कि कर्म का उदय और वेदन ये दोनों अवस्थाएं अलग-अलग समय में होती है क्योंकि जिस समय बंध होता है, उस समय उदय नहीं होता। वृत्तिकार के अनुसार तीसरे समय में कर्म अकर्म हो जाता है फिर भी सूत्रकार ने अतीत और भविष्य की सन्निधि में एकता का उपचार कर चौथे समय में अकर्म होने की बात की है।[217]

कर्म की अनेक अवस्थाएं हैं। उनमें प्रथम अवस्था बंध और अन्तिम अवस्था उदय है। उदय काल में कर्म का वेदन होता है।[218] वेदन के बाद कर्म नो-कर्म बन जाता है। वेदना कर्म की होती है, निर्जरा अकर्म की होती है। फल-विपाक के बाद कर्म की फलदान शक्ति समाप्त हो जाती है, वह फिर कर्म नहीं रहता, नो-कर्म बन जाता है।[219] वेदना और निर्जरा का समय पृथक् होता है। जैसा कि गौतम– महावीर के संवाद से स्पष्ट होता है–

गौतम– भंते ! क्या वेदना और निर्जरा एक है ? महावीर– दोनों एक नहीं है। वेदना कर्म की होती है जबकि निर्जरा नो-कर्म की होती है। [220] यह निश्चय नय का अभिमत है। सूत्रकार ने जो चतुर्थ समय में अकर्म होने की बात कही है, वह व्यवहार नय की अपेक्षा से है । ऐर्यापथिक क्रिया आत्मसंवृत,[221] संवृत,[222] अवीचिपथ में स्थित संवृत[223] भावितात्मा अनगार[224] के होती है। काल की अपेक्षा ईर्यापथिक बंध द्वि-सामयिक है। जयाचार्य ने ऐसा ही माना है।[225] तत्त्वार्थ भाष्यकार ने एक समय स्वीकार किया है।

भगवती का निम्नोक्त संवाद उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है।[226]

गौतम– भंते ! केवली इस समय में जिन आकाश-प्रदेशों में हाथ, पाव, बाहूं को अवगाहित कर ठहरता है ? क्या वह भविष्य में भी उन्हीं आकाश-प्रदेशों में अवगाहित कर ठहर सकता है?

महावीर– गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। केवली में अनन्त शक्ति है। शक्ति की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है। शरीर से वीर्य की उत्पत्ति होती है। वीर्य से योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति या चंचलता) और योग की प्रवृत्ति काय, वचन, मनोवर्गणा के पुद्गलों द्वारा होती है। केवली भी उसी आकाश प्रदेश पर हाथ-पैर आदि नहीं रख सकता। हेराक्लाइटस ने प्रवाह के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, उन्होंने लिखा–'into the same river no man can enter twice, ever it flows in and flows out.' कोई भी आदमी दो बार उसी नदी में प्रवेश नहीं कर सकता, वह निरन्तर अंदर और बाहर बहती रहती है।[227] यह प्रतिक्षण परिवर्तित होने का सिद्धांत शारीरिक चंचलता के समकक्ष ही है। जैसे उबलते पानी में निरन्तर कम्पन होते रहते हैं। वैसे ही सयोगी केवली के शरीर का सूक्ष्म संचालन निरन्तर होता रहता है। [228] भगवती में ऐर्यापथिकी और सांपरायिकी की चर्चा अनेक कोणों से की गई है।[229] दोनों का भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त है। वहां ऐर्यापथिक के चार प्रकार और साम्परायिक क्रिया के दो प्रकार की चर्चा भी उपलब्ध है–

(i) केवल काययोग से होनेवाला कर्म-बंध।
(ii) अकषाय से होने वाला कर्म-बंध।
(iii) यथासूत्र विचरण करने वाले के होनेवाला कर्म-बंध।
(iv) संवृत्त और भावितात्मा के होने वाला कर्म-बंध।

साम्परायिक क्रिया के प्रकार

(i) कषाय से होने वाला कर्म - बंध।
(ii) उत्सूत्र विचरण करने से होने वाला कर्म-बंध।

ऐर्यापथिक क्रिया जीव के जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोनपूर्व कोटि काल पर्यन्त रहती है। सम्पराय का अर्थ है– संसार परिभ्रमण। जिस क्रिया से संसार का भ्रमण हो, वह साम्परायिकी है।[230] 'सम्पराया: कषाया:' कषायों के निमित्त से जो क्रिया हो, वह साम्परायिकी है।

भगवती में भावितात्मा और संवृत अनगार की चर्चा है किन्तु यदि संवृत्त अनगार वीतराग है तो आयुक्त विशेषण की क्या अपेक्षा है ? वीतराग अनायुक्त नहीं होते इसलिये प्रस्तुत प्रकरण में संवृत अनगार वीतराग का वाचक प्रतीत नहीं होता भगवती में ही निर्ग्रंथ के पांच प्रकारों में संवृत बकुश, असंवृत बकुश का उल्लेख मिलता है। बकुश निश्चय ही वीतराग नहीं है। अत: ऐर्यापथिक क्रिया के संदर्भ में आयुक्त संवृत अनगार शब्द वीतराग भिन्न अनगार का वाचक लगता है। इसी प्रकार भावितात्मा शब्द का प्रयोग भी ऐर्यापथिकी के संदर्भ में हुआ हो, संभव कम लगता है। महान् दार्शनिक आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में सिद्धसेन के अभिमत पर विमर्श हेतु दो शंका उपस्थित की है।[231] प्रमत्त अवस्था में चलने वाले अनगार के साम्परायिकी क्रिया होती है। कोई अनगार आयुक्त-अप्रमत्त अवस्था में चलता है, उसके भी साम्परायिक क्रिया होती है तो फिर गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर का तात्पर्य क्या है? आगम निर्दिष्ट विधि के अनुसार चलने वाले के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। आगम निर्दिष्ट विधि के प्रतिकूल चलने से साम्परायिक क्रिया होती है। क्या सभी सराग अनगार उत्सूत्र ही चलते हैं ?

आचार्य महाप्रज्ञ ने सिद्धसेन एवं द्रोणाचार्य के मत को विमर्शनीय मानकर भी अनायुक्त एवं यथासूत्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित किये। प्रकारान्तर से उनका अभिमत सिद्धसेन की अवधारणा के निकट लगता है, जो समीचीन भी है। संवृत अनगार के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, वे साधना कालीन प्रतीत होता है। वीतरागता साधना नहीं, सिद्धि है।

ऐर्यापथिकी अकषायोदय से उत्पन्न क्रिया है। साम्परायिकी कषायोदय का फल है इसलिये दोनों का एक साथ होना संभव नहीं है। वीतराग अवस्था से पूर्व ऐर्यापथिकी क्रिया का बंध नहीं होता इसलिये वह सादि है। अयोगी अवस्था में इसका बंध रुक जाता है इसलिये यह सपर्यवसित है, सान्त है।[232] ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों क्रियाओं में जीव का व्यापार निश्चित रूप से रहता है किन्तु कर्म-बंध की दो अवस्थाओं पर प्रकाश डालने के लिये जीव के व्यापार को गौण मानकर इन्हें अजीव क्रिया कहा गया है।[233] जिस प्रकार आश्रव के बीस भेदों में से अन्तिम 15 भेदों का एक योग आश्रव में समाहार होता है, उसी प्रकार ऐर्यापथिक के अतिरिक्त चौबीस क्रियाओं का सांपरायिक क्रिया में समावेश हो जाता है।

अन्य साहित्य में क्रिया-विचार

समाज में सामाजिक उपयोगिता के आधार पर अहिंसा का विकास होता है।

अध्यात्म समाज-निरपेक्ष भूमिका है। देह-मुक्ति उसका लक्ष्य है इसलिये इसमें अहिंसा प्राणी को न मारने तक ही सीमित नहीं रही अपितु अविरति और क्रिया के सिद्धांत तक पहुंच गई। हिंसा से विरति नहीं करने वाला हिंसा नहीं करने पर भी हिंसक है।[234] अविरति के कारण प्राणी को अतीत कालीन शरीर की अपेक्षा से भी हिंसा की क्रिया लगती है।[235] सर्वविरति के अभाव में प्रत्येक प्राणी का शरीर निरन्तर छह काय का अधिकरण बना रहता है। इस प्रकार अध्यात्म ऐकान्तिक निवृत्तिवादी पथ है।

पुराण में निर्दिष्ट क्रिया

जैन आगमों के अतिरिक्त जैन पुराण आदि में भी तीन प्रकार की क्रियाओं का प्रतिपादन मिलता है।[236] (1) गर्भान्वय क्रिया (2) दीक्षान्वय क्रिया (3) कर्त्रन्वय आदि पुराण के अड़तीसवें पर्व में इन क्रियाओं के प्रभेद इस प्रकार है -

(1) गर्भान्वय क्रियाएं

1. आधान	2. प्रीति	3. सुप्रीति
4. धृति	5. मोद	6. प्रियोद्भव
7. नामकर्म	8. बहिर्यान	9. निषद्या
10. प्राशन	11. व्युष्टि	12. केशवाप
13. लिपि संख्यान संग्रह	14. उपनीति	15. व्रतचर्या
16. व्रतावतरण	17. विवाह	18. वर्णलाभ
19. कुलचर्या	20. गृहीशिता	21. प्रशान्ति
22. गृहत्याग	23. दीक्षाद्य	24. जिनरूपता
25. मौनाध्ययन वृत्तत्व	26. तीर्थकृत	27. गुरुस्थानाभ्युगम
28. गणोपग्रहण	29. स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति	30. नि:संगत्वात्म भावना
31. योग निर्वाण संप्राप्ति	32. योग निर्वाण साधन	33. इन्द्रोपपाद
34. अभिषेक	35. विधिदान	36. सुखोदय
37. इन्द्रत्या	38. अवतार	39. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता
40. मंदरेन्द्राभिषेक	41. गुरुपूजोपलम्भन	42. यौवराज्य
43. स्वराज	44. चक्रलाभ	45. दिग्विजय
46. चक्राभिषेक	47. साम्राज्य	48. निष्क्रान्ति
49. योग सन्महं	50. आर्हन्त्य	51. तद्विहार
52. योगत्याग	53. अग्रनिर्वृत्ति	

इस प्रकार परमागम में गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त उपर्युक्त 53 क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है।

(2) दीक्षान्वय क्रियाएं

1 अवतार 2 वृत्तलाभ 3 स्थानलाभ 4 गणग्रह 5 पूजाराध्य 6 पुण्ययज्ञ 7 दृढचर्या और 8 उपयोगिता। इन आठ क्रियाओं के साथ उपनीति नामक चौदहवीं क्रिया से तिरपनवीं निर्वाण (अग्रनिर्वृत्ति) क्रिया तक की चालीस क्रियाएं दीक्षान्वय क्रियाएं कहलाती हैं।

(3) कर्त्रन्वय क्रियाएं

ये वे क्रियाएं हैं जो पुण्य करनेवाले लोगों को प्राप्त हो सकती है और जो समीचीन मार्ग की आराधना करने के फलस्वरूप होती हैं। 1. सज्जाति 2. सद्गृहित्व 3. पारिव्राज्य 4. सुरेन्द्रता 5. साम्राज्य 6. परमार्हन्त्य 7. परमनिर्वाण।

अन्य क्रियाएं

उपर्युक्त क्रियाओं के अलावा तीन प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख करना भी प्रसंगिक होगा। वे हैं– (1) मांत्रिक क्रिया (2) यांत्रिक क्रिया (3) तांत्रिक क्रिया।

(1) मांत्रिक क्रिया– अक्षरों की प्रभावक रचना विशेष का नाम मंत्र है। मंत्रों का स्पष्ट एवं लयबद्ध उच्चारण करने से साधक के चारों ओर कुछ विशिष्ट प्रकार की ध्वनि तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। किसी भी तरंग का उत्पन्न होना यह प्रमाणित करता है कि आकाशीय प्रकम्पनों में कुछ तीव्रता आई है। जिस वर्ण समूह का मनन करने से दु:ख मुक्ति होती है, वही मंत्र है। आध्यात्मिक दृष्टि से मंत्र का अर्थ है– मानव मन में उत्पन्न प्रेम का उद्रेक। साधना में मंत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। लय बद्ध साधना से मंत्र प्रभावी बनता है। इसका मनोग्रंथियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। चेतन मन के स्तर खुलने लगते हैं। ध्वनि तरंगें मन के संतुलन, रोग-निवारण तथा शक्ति के आकर्षण में बहुत अच्छा कार्य करती है। इसके विपरीत विक्षिप्त हो जाना, साधना के विमुख होना, नये रोगों का उद्भव– ये सब मंत्रोच्चारण की अशुद्धता और अस्पष्टता के परिणाम हैं।

दूसरा, मंत्र के साथ आस्था और श्रद्धा का भी होना आवश्यक है। जब व्यक्ति विलक्षण सामर्थ्य प्राप्ति के लिये किसी मंत्र का आस्था के साथ अनुष्ठान करता है तब उसके शरीर, इन्द्रियों और चित्त में अभिनव शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। पातञ्जल योग दर्शन में आठ सिद्धियों का निरूपण है।[237]

1. **अणिमा–** अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना।

2. **महिमा–** शरीर को बड़ा कर लेना।

3. **लघिमा–** शरीर को हल्का कर लेना।

4. **गरिमा–** शरीर को भारी बना लेना।

5. **प्राप्ति–** संकल्प मात्र से इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेना।

6. **प्राकाम्य–** अनायास पदार्थ सम्बन्धी इच्छा पूर्ति हो जाना।

7. **ईशिता–** पदार्थों को नाना रूपों में उत्पन्न करना।

8. **वशिता–** प्रत्येक वस्तु पर अपना आधिपत्य कर लेना।

विभिन्न स्वर, व्यंजन और शब्दों से निष्कासित ध्वनि से नाद उत्पन्न होता है। नाद का प्रभाव भी पृथक्-पृथक् होता है उससे एक वातावरण बनता है, शरीर, मन, मस्तिष्क तथा वाणी आदि प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि विविध कामनाओं एवं कार्यों के निमित्त से विभिन्न मंत्रों का सृजन हुआ है।

मनुष्य जब शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक या आदि भौतिक व्याधियों से गुजरता है, तब सहज ही उसका ध्यान तीन शब्दों पर जाता है– मंत्र-यंत्र-तंत्र। उनका विश्वास है कि इनमें से किसी एक या समुच्चय से बाधाओं का निरसन हो सकता है। हम स्वस्थ रह सकते हैं। तीनों में मंत्र शब्द बहुत प्रचलित है। भले यंत्र-तंत्र कम प्रचलित हो किन्तु तीनों एक दूसरे से सम्बन्धित ही है।

लगता है प्रारम्भ में तंत्र भी मंत्रों में ही समाहित थे। कालान्तर में जब मंत्र अध्यात्म शक्ति के प्रतीक बन गये तो तंत्र भौतिक क्रियाओं के समुच्चय के रूप में उनसे पृथक् हो गये। यह पृथक् करण सातवीं, आठवीं सदी में माना जाता है। तीनों अनन्य है, जहां मंत्र मानसिक क्रिया प्रधान है वहां यंत्र बीजाक्षरों एवं आकृतियों पर आधारित है। तंत्र भौतिक क्रिया प्रधान है। फलतः–

1. मंत्र– मनोभौतिक (मनःप्रधान शक्ति स्रोत)
2. तंत्र– भौतिक (भौतिक क्रिया प्रधान शक्ति स्रोत)[237अ]
3. यंत्र– मंत्र एवं तंत्र का अधिकरण है।

वेद, पुराण, तंत्र शास्त्र आदि में इस प्रकार के मंत्रों का बाहुल्य है। मारण, मोहन, वशीकरण, स्तंभन, उच्चाटन, आकर्षण, विद्वेषण आदि अलग-अलग मंत्र हैं।

मंत्र के लिंग के आधार पर तीन प्रकार किये गये हैं–

1. पुरुष मंत्र– जिस मंत्र के अन्त में 'फट् या वषट्' हो, वह पुरुष मंत्र कहलाता है।

2. स्त्री मंत्र– जिसके अन्त में 'वौषट् या स्वाहा' हो, वह स्त्रीमंत्र है।

3. नपुंसक मंत्र– जिसके अन्त में 'हुं या नमः' हो, वह नपुंसक मंत्र कहा जाता है।

अक्षरों की संख्या के अनुसार भी मंत्र कई प्रकार के होते हैं–

पिण्डमंत्र– जिसमें एक अक्षर हो, वह पिण्ड मंत्र है।

कर्तरीमंत्र– जिसमें दो अक्षर हो, वह कर्तरी मंत्र है।

बीज मंत्र– तीन से 9 अक्षरों तक के मंत्र बीज मंत्र है।

मंत्र– 10 से 20 अक्षर वाले मंत्र कहलाते हैं।

मालामंत्र– बीस से अधिक अक्षर हो तो माला मंत्र कहा जाता है।

मंत्र जप की विधि

1. मंत्र के प्रति अटूट आस्था हो।
2. साधना काल में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।
3. शारीरिक शुद्धि यानी, मन, वचन और कर्म से पवित्र रहें।
4. मंत्र जप के समय मेरूदण्ड सीधा रहे।
5. मन को एकाग्र रखें। चित्त वृत्तियों को इधर-उधर न जाने दें।
6. मंत्र जप में निरन्तरता होनी चाहिये। दीर्घ जप ही शरीर और चेतना के बीच नई हलचल पैदा करता है।
7. श्वास हमारे मन का दर्पण है। माला प्रारंभ करते समय देखें कि कौनसे नासाग्र से सांस आ रहा है। यदि दोनों नासाग्र खुले हैं तो बहुत ही उपयोगी है किन्तु यदि बायां स्वर चल रहा है तो तुरन्त माला शुरू कर देनी चाहिये।
8. माला को यत्र-तत्र नहीं रखना चाहिये। एक - दूसरे के बीच माला का आदान-प्रदान न हो। जिस माला से जाप करें उसे गले में न पहनें।
9. मंत्र जप कामना रहित होना चाहिये।
10. जप में दीवार का सहारा या पैर लम्बा कर न बैठें।
11. जप नियमित और निर्धारित संख्या में होना चाहिये। जैसे–

1. 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः' 6 महिने तक एक माला। लाभ-वचनसिद्धि की उपलब्धि होती है। बहुत चमत्कारिक मंत्र है।
2. 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लु अर्हं नमः' त्रिसमय एक-एक माला। लाभ– सर्व कामना पूर्ण होती है। यह सर्वकार्यसिद्धि मंत्र है।
3. 'ॐ ह्रीं नमः' लाभ– व्यक्तित्व निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह अनुभव सिद्ध मंत्र है।

जैन धर्म में मंत्रों के साथ-साथ यंत्रों का भी विकास हुआ है। यंत्र ज्यामितीय आकृतियों के आधार पर निर्मित किये जाते हैं। यंत्र में विविध मंत्र एवं संख्याएं एक निश्चित क्रम में लिखी हुई होती है मंत्र ध्वनि रूप होते हैं उनका जप किया है यंत्र आकृति रूप होते हैं उनका धारण या पूजन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में यन्त्रोपासना का विकास हुआ है और वह आजतक जीवित भी है। किन्तु लगभग नवीं-दसवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य में कहीं भी यंत्रों के निर्माण और उनकी उपासना के उल्लेख नहीं मिलते। बाद में 10वीं-11वीं शताब्दी से जैन ग्रंथों में यंत्र रचना और यंत्रोपासना के विधि-विधान परिलक्षित होने लगते हैं।

इससे यह भी फलित होता है कि यंत्रोपासना की पद्धति जैनों की अपनी मौलिक नहीं रही। उन्होंने उसे अन्य परम्पराओं के प्रभाव से ही अपने में विकसित किया। सम्भावना यही है कि हिन्दू और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव से जैनों में यंत्र रचना और यंत्रोपासना की पद्धति विकसित हुई हो, किन्तु यंत्रों की आकृतिगत समरूपता को छोड़कर जैन यन्त्रों की हिन्दू और बौद्ध यंत्रों से और कोई समरूपता नहीं है।

यंत्रों में लिखे जाने वाले नामों, पदों, बीजाक्षरों अथवा संख्याओं की योजना उन्होंनें अपने ढ़ंग से ही की है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यन्त्रों के प्रारूप जो जैनों ने अन्य परम्पराओं से गृहीत किये किन्तु उनकी विषय वस्तु और यन्त्र रचना विधि जैनों की अपनी मौलिक है।[237ब]

लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्र

आचार्यश्री कुन्थुसागरजी के लघुविद्यानुवाद नामक ग्रन्थ में अनेक यन्त्रों का विपुल मात्रा में संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ में विभिन्न यक्ष-यक्षियों एवं देवियों से सम्बन्धित मन्त्रों से गर्भित यन्त्रों के साथ-साथ मातृकापदों और संख्याओं के आधार

पर निर्मित यन्त्रों का भी एक बृहद् संग्रह है। यद्यपि जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश एवं लघुविद्यानुवाद दोनों ही ग्रन्थों की रचना दिगम्बर परम्परा में ही हुई है फिर भी लघुविद्यानुवाद में आचार्यश्री ने न केवल दिगम्बर परम्परा में प्रचलित यन्त्रों का संग्रह किया है अपितु उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित घण्टाकर्ण महावीर और उवसग्गहर स्तोत्र पर आधारित यन्त्र एवं अन्य ऐसे ही कुछ अन्य यन्त्रों का संग्रह किया है।

मात्र यही नीं, उनके इस ग्रन्थ में भैरव, सुग्रीव, हनुमान, गरुड़, शंकर, महादेव, शिव, तारा, चामुण्डा आदि हिन्दू परम्परा के अनेकों देवी-देवताओं द्वारा अधिष्ठित मंत्र और यन्त्र भी संगृहीत है। इसके साथ ही जहां तक मंगलम्, जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश और भैरवपद्मावतीकल्प में संगृहीत यन्त्रों का प्रश्न है, उनमें संख्या पर आधारित यन्त्रों का प्रायः अभाव ही है।

इनमें मात्र दो-तीन यन्त्र ही ऐसे हैं जिनमें संख्याओं का उल्लेख हुआ है, वहीं लघुविद्यानुवाद में संगृहीत यन्त्रों में दो सौ से अधिक यन्त्र संख्याओं पर आधारित हैं। मात्र इतना ही नहीं लघुविद्यानुवाद में सामान्य यन्त्रों एवं संख्या पर आधारित यन्त्रों का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए और उन्हें सिद्ध किस प्रकार से करना चाहिए, इसका भी विस्तार से उल्लेख हुआ है। जिन पाठकों की इसमें रुचि हो वे उन्हें देख सकते हैं।

यांत्रिक क्रिया

मंत्र शास्त्र के विकसित रूप ने यंत्र को जन्म दिया। यंत्र भी वस्तुत: संख्यामय मंत्र ही है किन्तु रचना की दृष्टि से नितान्त भिन्नता दिखती है। मंत्र-साधना, ध्वनि पर आधारित है और इसके अत्यधिक प्रभाव के लिये नि:संदेह यंत्र की रचना, प्राण-प्रतिष्ठा और आराधना की जाये तो वे साधक के लिये ही नहीं, साधारण दर्शक के लिये भी सिद्धिदायक, कल्याणकारी और परम हितकारी हो सकते हैं।

यंत्रों के भी अपने विधि-विधान हैं। उनका पालन करना अत्यावश्यक है। नियम - विधि से परिणति निश्चित है। अत: कार्य-सिद्धि, सुगमता और निश्चित परिणाम के लिये नियमों का महत्त्व सर्वोपरि है। थोड़ा सा प्रमाद भी साधना में असफलता के साथ अनिष्ट परिणाम भी ला देता है। किस विषय में कौनसा यंत्र किस रूप में लिखा जाता है। पहले उसकी अवगति कर लेना जरूरी है। जैसे–

कलह निवारक यंत्र

11	4	5
1	7	12
8	9	3

सम्मानकारी यंत्र

44	51	2	7
6	3	48	47
50	45	8	1
4	5	46	49

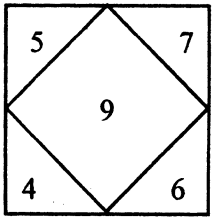

सर्व सिद्धि दायक

8	1	6
3	5	7
4	9	2

कार्य सिद्धि मंत्र

9	2	4	5
3	6	8	5
6	5	1	8
2	7	7	4

तांत्रिक क्रिया

तंत्र– यह मंत्र-शास्त्र का तीसरा आयाम है। तंत्र-साधना का प्रचलन यंत्र साधना के पश्चात् हुआ है। मंत्र-साधना को सरल एवं सुबोध बनाने के लिये चित्रात्मक रूप में यंत्रों के अभाव में केवल पदार्थ के आधार पर ही सिद्धि प्राप्त करने की पृष्ठभूमि में, तंत्र-साधना की प्रस्तुति हुई है। तंत्र शास्त्र का अभिमत है कि योगी को जब आठ सिद्धियां प्राप्त होती है तब उसे देहसिद्धि की भी उपलब्धि सहज हो जाती है। देहसिद्धि का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर आकर्षक, मोहक, रोगों से अनाक्रान्त और वज्र की तरह दृढ़ बन जाता है। देह-सिद्धि के दो प्रकार हैं– सापेक्ष देहसिद्धि और निरपेक्ष देहसिद्ध। सापेक्ष देहसिद्धि असम्यक् होती है और निरपेक्ष देहसिद्धि सम्यक् होती है। तंत्र में लौकिक और पारलौकिक सभी विषयों का समावेश है। व्यक्ति की श्रद्धा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ मंत्र-जप में विश्वास करते हैं तो कुछ यंत्र-साधना और तंत्र-साधना में। मांत्रिक क्रियाएं हों, यांत्रिक या तांत्रिक क्रियाएं उनके पीछे इष्टावाप्ति का लक्ष्य प्रमुख होता है।

सक्रियता - अक्रियता युग्म पद की मीमांसा

अनेक जीव एक साथ में उत्पन्न होते है। उसे राशि-युग्म कहते हैं। राशि के दो भेद होते हैं– युग्म और ओज। सम संख्या (2,4,6,8) को युग्म और विषम संख्या (1,3,5,7,9) को ओज कहा जाता है। ठाणं 14/36 टि. पृ. 515

युग्म के दो भेद हैं– कृतयुग्म और द्वापर युग्म

ओज के दो भेद - त्र्योज और कल्योज। इनकी व्याख्या इस प्रकार है–

1. कृतयुग्म– राशि में चार-चार घटाने पर शेष चार रहे, जैसे– 8,12, 16, 20 ...।
2. द्वापर युग्म– राशि में से चार घटाने पर शेष दो रहे, जैसे– 6, 10, 14, 18...।
3. त्र्योज युग्म– राशि में से चार-चार घटाने पर शेष तीन रहे, जैसे– 7,11, 15, 19 ...।
4. कल्योज– राशि में से चार-चार घटाने पर एक शेष रहे, जैसे– 5, 9, 13, 17, 21... ।

राशियुग्म एकेन्द्रिय जीव सक्रिय होते हैं अक्रिय नहीं। इसी प्रकार सलेशी, भवसिद्धिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय सभी सक्रिय होते है। नारकी

से वैमानिक तक इसी प्रकार ज्ञातव्य है। राशि युग्म संज्ञी पंचेन्द्रिय में बारह गुणस्थान तक के जीवों का ही समावेश है। राशि त्र्योज, द्वापर और कल्योज के सम्बन्ध में राशि युग्म - कृत युग्म की तरह समझना चाहिये। मात्र क्रिया की अपेक्षा नारक, तिर्यञ्च, देवगति के जीव नियमत: सक्रिय होते है। मनुष्य तेरहवें गुणस्थान तक सक्रिय, चौदहवें में अक्रिय हैं। पाप कर्म के बंधन की अपेक्षा सभी जीव सक्रिय हैं। मनुष्य 10 वें गुणस्थान तक सक्रिय है। ग्यारहवें से तेरहवें तक अक्रिय है। ऐर्यापथिक क्रिया की अपेक्षा 11-12-13 वें गुणस्थान तक सक्रिय है। परिस्पंदन क्रिया की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के अतिरिक्त सभी जीव सक्रिय है। क्रिया संपन्न जीव कर्म-बंधन से मुक्त नहीं हो सकता।

क्रिया और करण

स्थानांग में 'क्रियते येन तत्करणं' कहकर क्रिया के साधन को करण कहा है।[238] जितने प्रकार के करण हैं, उतने ही प्रकार क्रिया के है। जैन दर्शन में क्रिया के करण को कर्म-बंध का हेतु कहा है, उसी प्रकार गीता में भी करण को कर्म-संग्रह का कारण बतलाया है।[239] करण के दो प्रकार हैं– बाह्य और आभ्यान्तर।

बाह्य क्रिया श्रोत्रेन्द्रिय आदि से होती है। अन्तस्थ क्रिया बुद्धि के आधार पर होती है। इच्छा पूर्वक जो क्रिया की जाये, वह कर्म है।[240] प्राणी मात्र कर्म से आबद्ध है किन्तु जैसा कि कहा गया है–

'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय:।
सर्व भूतात्मभूतात्माकुर्वन्नपि न लिप्यते।।'

सम्यद्दर्शन प्राप्ति उपाय रूप योग से युक्त, विशुद्ध आत्मा, विजितात्मा, विजितदेह, जितेन्द्रिय– ऐसी आत्मा क्रिया करते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होता।[241] यह क्रिया ईर्यापथिक क्रिया के समकक्ष है। जैसे– जैसे कषाय क्षीण होते है, आत्मा शुद्ध होती है, अक्रिया की अवस्था आती है। आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध का कारण क्रिया है। अक्रिया में सम्बन्ध सेतु टूट जाता है। चौदहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण अक्रिया की स्थिति आ जाती है उनके कर्म उसी प्रकार क्षय हो जाते हैं जैसे अग्नि में डाले हुए सूखे तृण-मूलक और गरम तवे पर गिरे जल-बिन्दु।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन

वृत्ति का तात्पर्य है कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं। निवृत्ति का अर्थ है– योगजन्य क्रियाओं का अभाव। सामान्यत: क्षण मात्र के लिये भी ऐसी अवस्था नहीं

आती जब प्राणी की समस्त क्रियाओं का निरोध हो जाये। चौदहवें गुणस्थान के अतिरिक्त सभी गुणस्थानों में प्रवृत्ति-निवृति का संगम है। नैतिक विकास के लिये दोनों अपेक्षित हैं। जैसे कार के लिये गतिदायक यंत्र (एक्सीलेटर) और गति निरोधक यंत्र (ब्रेक) जरूरी है उसी प्रकार पूर्ण-निवृत्ति की और बढ़ने के लिये सत्क्रिया रूप प्रवृत्ति का भी अपना महत्त्व है। साधक संकल्प करता है–

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि ।
अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि ।
अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि ।
अण्णाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि ।
अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि ।
मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि ।
अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि ।
अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि ।

–अर्थात् असंयम, अब्रह्मचर्य, अकरणीय, अज्ञान, नास्तिकता, मिथ्यात्व, अबोधि और अमार्ग का प्रत्याख्यान करता हूं और संयम, ब्रह्मचर्य,करणीय, ज्ञान, आस्तिकता, सम्यक्त्व, बोधि और सुमार्ग को स्वीकार करता हूं।[242]

जैन दर्शन में निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति का विधान है। गीताकार प्रवृत्ति प्रधान निवृत्ति को महत्त्व देते हैं। बौद्ध दर्शन में दोनों का समान मूल्य है।

साधना के क्षेत्र में गृहस्थ-साधक की भूमिका विरताविरत की मानी है। उसमें आंशिक रूप से प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों हैं।[243]

निष्कर्ष

जैन दर्शन ने प्रवृत्ति रूप क्रिया को योग कहा है। जबकि यहां क्रिया का तात्पर्य– आत्मा की आन्तरिक चेतना में रहे हुए परिस्पन्दन हैं। आचार शास्त्र का प्रेरक तत्त्व है– सुख की प्राप्ति, दुःख की निवृत्ति। सम्पूर्ण जैनाचार कर्म-बंध एवं कर्म-मुक्ति के विचार पर अवलम्बित है। आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद– ये चारों वाद आचार शास्त्र के आधार हैं। इन सबका केन्द्रिय तत्त्व है– आत्मा। उसे जान लेने के बाद सम्पूर्ण लोक का ज्ञान होता है। लोक अर्थात् पौद्गलिक जगत्। आत्मा है, पुद्गल भी है किन्तु इनके बीच सम्बन्धकारक तत्त्व न हो तो ये एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकते। वह

सम्बन्ध-सेतु है– क्रिया। ईर्यापथिक क्रिया के अलावा सभी क्रियाएं कर्म-बंधन में निमित्त हैं।

क्रिया के अभाव में कर्म का बंधन नहीं होता। कहा गया है– 'अक्रिया योगनिरोध-लक्षणा गति, प्रकंपन अर्थात् योगनिरोध अक्रिया है।[238] शैलेशीकरण की अवस्था में एजनादि क्रियाएं बंद हो जाती हैं, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। कर्म के शोधन से अक्रिय की अवस्था प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् प्राणी क्षणभर में परिनिर्वाण को प्राप्त कर सर्व दु:खों का अन्त कर देता है। बंधन - मुक्ति की यह सूक्ष्म व्याख्या क्रिया-अक्रिया का विषय हैं।

संदर्भ सूचि

1. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ.319
2. अमरकोश; 3/3/56
3. (क) सूत्रकृतांग [2] अध्ययन [5] गाथा 19 टीका
   (ख) सूत्रकृतांग [2] अध्ययन [1] सूत्र 21, 19 टीका -क्रिया परिस्पंदात्मिका चेष्टा रूपा क्रियते क्रिया वा निर्व्यापार तया स्थिति रूपा क्रियते।
   (ग) वही, सूत्र [17]– क्रियां वा सदनुष्ठानात्मिकाम क्रियां वा असदनुष्ठानरूपाम्।
   (घ) वही, पृ. 336; एजनं कंपनं गमनं क्रियेत्यनर्थान्तंर।
4. वही, अध्ययन [1], सूत्र 17 टीका
5. (क) स्थानांग 2, सूत्र 60 टीका - करणं क्रिया क्रियत इति वा क्रिया।
   (ख) भगवती; 3/3/134 - करणं क्रिया-कर्म बंधनिबंधना चेष्टा इत्यर्थ:। क्रिया निष्पाद्यं कर्मोक्तम्।
   (ग) पण्णवणा पद; 22, सू.1567, टीका- करणं क्रिया-कर्म बंधनिबंधना चेष्टा इत्यर्थ:।
6. स्थानांग वृत्ति; पत्र 37
7. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5
8. ठाणांग; 2, पृ. 114
9. भगवती वृत्ति; 1/444
10. (क) भगवई भाष्य; 1/10/444 - 445 पृ.192
    (ख) ठाणांग सूत्र, 2/2-37 पृ. 144

11. स्थानांग; 2/2-37
12. तत्त्वार्थसूत्र; 6/6
13. आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध; 2/2/34

    अंगसुत्ताणि - भाग - 1, कालाइक्कंत - किरिया - पदं - से आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावइ -कुलेसु वा, परियावसहेसु वा, जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो ! कालाइक्कंत - किरिया वि भवइ।
14. वही; 2/2/35
15. वही; 2/2/36
16. वही; 2/2/37
17. वही; 2/2/38
18. वही; 2/2/40
19. वही; 2/2/41
20. वही; 2/2/42
21. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 336, इमेहिं बारसहिं किरिय-ठाणेहिं बुज्झति, मुच्चति तेरसमेणं।
22. भगवई; 1/80
23. ठाणांग; 2/2-37
24. तत्त्वार्थसूत्र; 6/6
25. सूत्रकृतांग चूर्णि; पृ. 336
26. ठाणांग; 5/111
27. सूत्रकृतांग श्रुतस्कंध द्वितीय 2/2/1 टिप्पण; पृ.137 से उद्धृत
28. वही; 2/2/3
29. वही; 2/2/4
30. वही; 2/2/7
31. मज्झिम निकाय, उपालि सुत्त

    मनोपुव्वंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।

    मनसा चे पदुट्ठेन वा करोति वा।

    ततो नं दुक्ख मन्वेति चक्कं व बहतो पदं।। (धम्मपद, प्रथम गाथा)
32. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन; पृ. 541

33. वही, पृ. 541
34. आचारांग; 1/1/5-7
35. वही; 2/2/3
36. उत्तराध्यन; 32/7
    (ख) अंगुत्तर निकाय; 3/331
37. जैन, बौद्ध गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा; 1, पृ. 482
38. पण्णवणा; 22/15-16
39. स्थानांग चूर्णि; पृ.303
40. वही; पृ.344
41. वृत्ति; पत्र - 51
42. पण्णवणा; 22 / 1579
43. सूत्रकृतांग; 2/2/21 टीका
44. सूत्रकृतांग; 2/2/12
45. वृत्ति पत्र; 24 - परिवंदन संस्तव:प्रशंसा।
46. आचारांग; 1/1/40
47. प्रश्नव्याकरण; 1/6
48. वही; 1/3
49. वही; 1/8
50. वही; 1/11-12
51. आचारांग सूत्र; 1/13 - अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे।
52. पण्णवणा; पद 22 सू.1568 पृ. 478
53. स्थानांग; 2/1/60 टीका, भ.ग.भा-2, 3/3/135, पण्णवणा 22/1568 ।
54. भगवती; 3/135 टीका
55. प्रज्ञापना पद, 22 सू.1568 पृ .478
56. तत्त्वार्थ सूत्र; वृत्ति 6/6
56 (अ) तत्त्वार्थ/6/6/6 ठाणं पृ. 195
57. पण्णवणा, पद 22 सू.1568
58. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

59. भगवती; 1/1/48

60. पण्णवणा; पद 22 सू.1568 टीका

सर्व विरति, अविरति, विरति-अविरति। उपरतो-देशत: सर्वतो वा सावद्य योगाद्विरत : नो परतोऽनुपरत: कुतश्चिदप्य निवृत्त इत्यर्थ:तस्य कायिकी अनुपरत कायिकी क्रियते वर्तते, इयं प्रति प्राणि निवर्तते, इयमविरतस्य वेदितव्या, न देश विरतस्य सर्व विरतस्य वा।

61. स्थानांग वृत्ति; पत्र, 38

62. भगवई; 16/1

63. पण्णवणा; पद. 22/1569 टीका

64. स्थानांग; 2/7

65. भगवई वृत्ति; 3/136

66. पण्णवणा; पद 22 सू.1569 टीका

67. भगवई; 3/135

68. पण्णवणा; पद 22 सू.1569 टीका

69. स्थानांग वृत्ति; पत्र 38, प्रद्वेषो-मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी।

70. (क) तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

(ख) वही; 6/5

71. गांधीवाणी पृ.37

72. भगवई.वृत्ति 3/137

73. (क) स्थानांग; 2/60 की टीका

परितापनं-ताडनादि दु:ख विशेष लक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी।

73. (ख) भगवई 3/3 टीका-पारितापनं - परिताप:-पीडाकरणम्, तत्र भवा, तेन वा निर्वृता, तदेव वा पारितापनिकी।

73. (ग) क्रियाकोश; पृ. 66

तप्पजाय विणासो, दुक्खपाओ य संकिलेसो य।
एस वहो जिण भणिओ, वज्जेयव्वो पयत्तेणं।।

74. पण्णवणा, पद; 22

75. पण्णवणा, पद; 22

76. भगवती भाष्य; 5/6/134 पृ.180-181

77. भगवती वृत्ति; 5/6 / 134
78. भगवती भाष्य खण्ड; 1 पृ. 164
79. वही, खण्ड; 2 7/6-7
80. वही खण्ड; 1, 1/370-371
81. वही; 1/8/371
82. पातञ्जल योग दर्शन, 2/12
83. भगवई वृत्ति; 1/372
83. (अ) भगवई भाष्य; 165
84. भगवई; 9/251-252
85. भगवती वृत्ति; 1/372
86. (क) भगवती वृत्ति; 1/372
    (ख) उद्धृत भगवती भाष्य 166
87. भगवती भाष्य; पृ.166
88. भगवती; 1/6/276 - 279
89. स्थानांग; 60 की टीका
90. (क) सूयगडो; -1, पृ.54
    (ख) इन्द्रियवादी चौपाई; ढाल 9.15
    (ग) सूयगडो; - 2/4/9-17
91. सूयगडो; 1 पृ. - 52
    चूर्णि; पृ. 37, कथं पुनरूपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च सञ्चिन्त्य जीवताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः।
92. वृत्ति; पत्र 39, सूयगडो 1 पृ.53
    परिज्ञोपचितादस्याय भेदःतत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण-व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति।
93. पण्णवणा, पद; 22
94. (क) भगवई भाष्य; 8/6 / 258-270 (अंगसुत्ताणि - 2)
94. (ख) क्रियाकोश पृ. 175
94 (ग) उद्धृत भगवती भाष्य पृ. 32

95. पण्णवणा; पद 22 सू.1622 टीका

96. भगवती वृत्ति; 1/33,
आरंभो-जीवोपघात: उपद्रवणमित्यर्थ: सामान्येनवाश्रवद्वार प्रवृत्ति:।

97. भगवती भाष्य; 1/33-34
"असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि।"
"अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि।"

98. आचारांग चूर्णि; पृ.190

99. स्थानांग, 2/60 टीका आरम्भणमारम्भ: तत्र भवा आरम्भिकी।

100. श्लोक वार्तिक; 6/5 पृ.445 गा.
छेदनादि क्रियासक्त चित्तत्वं स्वस्य यद्भवते।
परेण तत्कृतौ हर्ष सेहारम्भ क्रिया मता।।

101. आचारांग भाष्य; 1/6-7

102. आयारो; 1/11-12

103. स्थानांग वृत्ति पत्र; 38

104. चूर्णि; पृ.175

105. वृत्तिपत्र; 177

106. स्थानांगवृत्ति; पत्र 38

107. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

108. भगवई; 1/2/71 की टीका

109. भगवई, खण्ड; 2, 5/7/181-182
नेरइया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा ?
उदाहु - अणारंभा अपरिग्गहा
गोयमा ! नेरइया सारंभा, सपरिग्गहा, नो अणारंभा, अपरिग्गहा।

110. भगवती भाष्य, 5/182-190
सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति,
सचित्ताचित्त मीसयाइ, दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति।

111. स्थानांग; 3/94-96

112. भगवई वृत्ति; 5/187

112.अ. ठाणांग 2; 41-62 तक

113.स्थानांग वृत्ति; पत्र, 38

114.पण्णवणा,पद; 22/1624-माया-अनार्जवमुपलक्षणत्वात् क्रोधोदेरपि परिग्रहः, माया प्रत्यय: करणं यस्या: सा माया प्रत्यया।

115.तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5 - ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया।

116.स्थानांग; 2/17-18 की टीका

आयभावं वंकणता चेव त्ति आत्मभावस्या प्रशस्त वंकनता - वक्रीकरणं प्रशस्तत्वोपदर्शनता आत्मभाव वंकनता, वंकनानां च बहुत्व विवक्षायां भाव न विरुद्ध:सा च क्रिया व्यापारत्वात्।

117.वही

परभाव वंकणता चेव ति परभावस्य वंकनता वंचनता या कूटलेख करणादिभि: सा परभाव वंकनतेति, यतो वृद्ध व्याख्येयं, तं तं भावमायरइ जेण परो वंच्चिज्जिइ कूड लेहकरणई हिंति।

118.भगवई वृत्ति;1/71

119.ठाणं; 2/37

120.झीणी चर्चा; 6/9

121.ठाणं; 4/102-103

122.आप्टे; To Deny

123.वही; To Decline, rebuse, reject.

124.तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5 संयम घाति कर्मोदय वशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यान क्रिया।

125.सूत्रकृतांग भाग द्वितीय, 4/17

126.सूत्रकृतांग भाग द्वितीय, पृ. 675

127.भगवई; 7/27-28

128.भगवती वृत्ति; 7/28 ज्ञानाभावेन यथावद् परिपालनात् सुप्रत्याख्यानत्वा भाव :।

129.भगवती जोड़; 2/115/19-29

130.भगवती भाष्य; 7/2/27-33 पृ.341

कतिविहे णं भंते ! पच्चक्खाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते,

तं जहा - मूलगुण पच्चक्खाणे ये, उत्तर गुण पच्चक्खाणे य।

131. प्रवचन सार; 208,209

132. (क)रत्न करण्डक श्रावकाचार, 66

मद्य मांसमधु त्यागै, सहाणुव्रत पञ्चकम्।
अष्टौ मूल गुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमा:।।

(ख) भगवई खण्ड, द्वितीय, पृ. 342

133. ठाणं सूत्र; 10/101, पृ. 994 -996

134. सूत्रकृतांग निर्युक्ति; 1/14/129 - मूल गुणे पंचविहो, उत्तरगुण बारस विहो।

135. भगवती आराधना; 2081 सर्वार्थ सिद्धि; 7/21

136. तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य वृत्ति; 7/16

137. महापुराण; 10/165

138. भगवई; 7/35

139. वही; 7/36

जीवाणं भंते ! किं मूलगुण पच्चक्खाणी ?
उत्तरगुण पच्चक्खाणी ? अपच्चक्खाणी ?
गोयमा ! जीवा मूलगुण पच्चक्खाणी वि
उत्तर गुण पच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि।

140. भगवई खण्ड द्वितीय, 7/40

141. भगवती जोड; 2/102, 18/20

142. ठाणं; 10/93

143. भगवई; 1, 1/34-35

144. स्थानांग वृत्ति, पत्र; 38

145. तत्वार्थवार्तिक; 6/5

146. सर्वार्थसिद्धि टीका; 8/1/375

बारह अणुवेक्खा; गा. 48

राजवार्तिक; 8/28/514

147. मज्झिम निकाय; 2/5/5 पृ.400

148. ठाणं; 10/74

149. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन; भा. 2,पृ.40

150. अंगुतर निकाय; 1/10/12

151. गीता; 4/40

152. हिस्ट्री आफ फिलोसॉफी; पृ. 287

153. भगवती जोड़; 1/7/134-139

154. भगवई; 10/56

155. भगवई; 10/6

156. सूत्रकृतांग; 2/2/75

157. सूत्रकृतांग; 2/2/7, 23,71

158. पंचसंग्रह; पृ.105 गा. 74, भगवई श.1 पृ. 59 से उद्धृत

159. भगवई; 1/35

160. भगवती वृत्ति; 1/71

161. पण्णवणा, पद; 22

162. भगवती वृत्ति; 1/71

163. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य; पृ. 6/6

164. वही; 6/6

165. तत्त्वार्थ सूत्र; 6/7

166. भगवई भाष्य; 5/6/128-132

167. वही; 3/140

168. भगवई; 3/3/140-142

मंडिअ पुत्ता ! पुव्विं किरिया,
पच्छावेदणा णो पुव्विं वेदना, पच्छा किरिया।

169. वही;

अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?
हंता अत्थि।
कहण्णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?
मंडियापुत्ता ! पयाय पच्चया जोग निमित्तं च।

170. ठाणं; 4/92-95

171. तत्त्वार्थसूत्र; 8/1

172. पञ्चसंग्रह (दिगम्बर) चतुर्थ अधिकार शतक' गा;77 पृ.105

173. भगवती भाष्य; 141-142

174. वही, 1/145

175. वही; 1/143-146

176. स्थानांग वृत्ति, पत्र; 39

177. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

178. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि; 6/6

179. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि; 6/6 पृ.12

179. (अ) तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्ध, 6/6

180. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया।

181. स्थानांग; 2/60 की टीका

सामन्तोवणिवाइया चेव त्ति समन्तात् - सर्वत उपनिपातो - जनमीलकस्तस्मिन् भवा सामन्तोपनिपातिकी।

182. राजवार्तिक; 6/5 पृ. 510

183. श्लोकवार्तिक; 6/5 पृ.445

184. तत्त्वार्थसिद्धि, सू; 6 पृ. 12

185. सर्वार्थसिद्धि, सू; 6 पृ.322

186. स्थानांग वृत्ति, पत्र; 39

187. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

188. स्थानांग वृत्ति, पत्र; 39

189. तत्त्वार्थ वार्तिक; 6/5

स्व हस्त गृहीतेनैवाजीवेन जीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकी।

190. तत्त्वार्थ वार्तिक; 6/5

191. श्लोक वार्तिक; 6/5

192. स्थानांग; 2/60

राजादि समादेशाद्यदुदकस्य यन्त्रादिभिर्निसर्जनं सा जीव निसर्जनं सा जीवनैसृष्टिकी त्ति अथवा गुर्व्वादौ जीवं– शिष्यं पुत्रं वा निसृजतो ददत: एका।

193. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

194. स्थानांग वृत्ति, पत्र; 39

195. वही; 2/60 टीका

जीवमजीवं वा विदारयति स्फोटयतीति, अथवा जीवमजीवं वाऽऽमान भाषेषु विक्रीणति सति द्वैभाषिको विचारयति परियच्छावेइति भणितं होति, अथवा जीवं पुरुषं वितारयति प्रतारयति वञ्चयतीत्यर्थ असद्गुणैरेतादृश: तादृस्त्वमिति,पुरूषादिविप्रतारण बुद्ध्यैव भणत्येतादृशमेतदिति यत्सा जीव वेयारणिआऽजीव वेयारणिया वा।

196. वही, वृत्ति, पत्र 39

आज्ञापनस्य - आदेशनस्येयाज्ञापनमेव वेत्याज्ञापनी सैवाज्ञापनिका लज्जः आदेशनमेव वेति, आनायनं वा आनायनी।

197. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5 पृ. 510

198. स्थानांग वृत्ति; पत्र 40

199. तत्त्वार्थवार्तिक; 6/5

200. स्थानांग वृत्ति; पत्र; 39

201. तत्त्वार्थवार्तिक;

(क) शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधि कर्त्तव्यतानादारः

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 6/6 भाष्यानुसारिणी टीका

202. स्थानांग; 2/60,

रागो मायालोभ लक्षण:।

203. वही, द्वेष क्रोधमान लक्षन:इति।

204. स्थानांग सूत्र; 187 की टीका

वीर्यान्तराय क्षयोपशमाविर्भूत वीर्येणात्मना प्रयुज्यते-व्यापार्यत इति प्रयोगो-मनोवाक्काय लक्षणस्तस्य क्रिया-करणव्यापृतिरिति प्रयोग क्रिया, अथवा प्रयोगै: मन प्रभृतिभि: क्रियते वध्यत इति प्रयोग क्रिया।

205. वही; 2 /187 की टीका

समुदाणं त्ति प्रयोग क्रिययैकरूपतया गृहीतानां कर्म्मवर्गणानां समिति: सम्यक् प्रकृत्ति बंधादि भेदेन देश सर्वोपघातिरूपतया च आदानं स्वीकरणं समुदान निपातपात्तदेव क्रिया-कम्मेति समुदान क्रियेति।

206. वही; 2/187 की टीका

नास्त्यन्तरं - व्यवधानं यस्या:साऽनन्तरा सा चासौ समुदान क्रिया चेति विग्रहः, प्रथमसमयवर्तिनीत्यर्थः द्वितीयादी समयवर्तिनी तु परम्पर समुदान क्रियति, प्रथमाप्रथमसमयापेक्षया तु तदुभयासमुदान क्रियति।

207. भगवई; 1,1/444 टीका पृ. 193

''इरियावहियं' ति ईर्या–गमनं तद्विषयः पन्थाः– मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केवल काययोग प्रत्ययः कर्मबंध इत्यर्थ :।

208. तत्त्वार्थसूत्र,भाष्य वृत्ति; 6/5

(ख) ओघनिर्युक्ति,747

209. ओघनिर्युक्ति ; पृ. 499

210. भगवती भाष्य; 7/125

211. वही; 7/126

जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा भवंति, तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा अवोच्छिण्णा भवति, तस्स ण संपराइया किरिया कज्जइ।

212. भगवती जोड; 121/8

213. पातंजल योग दर्शन; 2/4

214. (क) भगवती वृत्ति; 6/292

(ख) वही; 1/444

(ग) वही; 3/144

215. भगवई; 3/148

216. दीर्घनिकाय पृ.191

217. भगवई भाष्य; 7/74-75

218. भगवती वृत्ति; 7/75 - उदय प्राप्तं कर्म वेदना धर्म धर्म्मिणोरभेद विवक्षणात्।

219. भगवती वृत्ति; 7/75, वेदित रसं कर्म नो कर्म।

220. भगवती; 3/148

221. वही; 7/125-126

222. भगवती; 10/13-14

223. भगवती; 18/156-160

224. उत्तराध्ययन; 26/72

225. झीणी चर्चा ढाल; 6/12-13
226. भगवई; 5/4/110
227. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन, पृ. 19
228. चूर्णि; पृ. 352
229. भगवती भाष्य; 1/444-445, 3/148, 6/29, 7/4-5, 20-21, 125-126, 8/302-314, 10/11-14, 18/159-160
230. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि टीका, 6/4/321 सम्परायः संसारः तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्।
231. भगवती भाष्य; 7/20-21
232. भगवती वृत्ति; खण्ड-2 6/29, पृ. 243
233. स्थानांग वृत्ति; पत्र 37
234. भगवती; 16/1
235. प्रज्ञापना; 22
236. आदिपुराण; 48/50-68
237. पातञ्जल योग दर्शन; 3/45
237. (अ) जैन धर्म और तांत्रिक पृ. 5
237. (ब) जैन धर्म और तांत्रिक साधना
237. (स) ठाणं; 4/364, टि.पृ. 515
238. ठाणांग; 2/60 टीका
239. गीता; 18/18
240. वही; 14/25
241. वही; 5/7
242. आवश्यक सूत्र, चतुर्थ आवश्यक
243. सूत्रकृतांग, 2/2/39
244. समवायांग - 1/18

तृतीय अध्याय
क्रिया और कर्म-सिद्धांत

क्रिया की मूल जड़ अध्यवसाय है। अनन्तर जड़ें लेश्या, भाव और संवेग हैं। अध्यवसाय को समझने के लिए आत्मा और उसके परिपार्श्व में क्रियाशील कर्मशरीर को समझना आवश्यक है। कर्म शरीर में भी कषाय के जगत् को समझना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में अध्यवसाय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेश्या और कर्म के साथ क्रिया के संबंध को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

क्रिया और अध्यवसाय

अध्यवसाय चेतना की सूक्ष्म परिणति का नाम है। यह प्राणी मात्र में पाया जाता है। सूक्ष्म रूप में जितने कर्म-संस्कार, वृत्तियां, वासनाएं, आवेग और आवेश हैं, वे सभी सूक्ष्म शरीर में अध्यवसाय के रूप में पाये जाते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में इसे अचेतन मन कहा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीव का शुद्ध स्वरूप चैतन्य है। उसके चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कार्मण शरीर है। चैतन्य के असंख्य स्पंदन कषाय वलय को भेद कर बाहर आते हैं। उनका एक स्वतंत्र तंत्र बन जाता है, वही अध्यवसाय तंत्र कहलाता है। अन्त: करण की प्रवृत्ति, हलचल, विचारों की लहरें भाव हैं।[1] इसे अभिप्राय भी कहते हैं। [2] समयसार में बुद्धि, अध्यवसाय, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम को एकार्थक माना है।[3] चित्त के सूक्ष्म संस्कारों की बार-बार स्फुरित होने वाली विचार तरंगों को भी अध्यवसाय कहते हैं। भावना भी अध्यवसाय है।[4] मन सभी प्राणियों में नहीं होता किन्तु अध्यवसाय प्राणी मात्र में होता है। सूक्ष्म जीवों में ज्ञान का साधन अध्यवसाय है। अध्यवसाय असंख्य हैं। 'असंखेज्जा अज्झवसाणठाणा' लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने ही अध्यवसाय हैं। वे निरन्तर क्रियाशील हैं।

अध्यवसाय शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। राग -द्वेष से संवलित अध्यवसाय अशुद्ध हैं, राग-द्वेष से रहित शुद्ध हैं। अध्यवसायों की शुद्धता - अशुद्धता का मूल हेतु कषायों की तीव्रता और मंदता है। अध्यवसाय जब तैजस शरीर के स्तर पर पहुंचते हैं तब लेश्या तंत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं वही आगे औदारिक शरीर में भाव, विचार और व्यवहार में अभिव्यक्त होता है। लेश्या का सम्बन्ध सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरों से है। अधोचित्रित यंत्र में इसका स्पष्ट दिग्दर्शन है–

इस प्रकार हमारी चेतना तीन स्तरों पर कार्य करती है–

(1) अध्यवसाय का स्तर- कार्मण शरीर के साथ क्रियाशील चैतन्य रश्मियां।

(2) लेश्या का स्तर - तैजस शरीर के स्तर पर क्रियाशील चैतन्य रश्मियां।

(3) भाव का स्तर- स्थूल शरीर के स्तर पर क्रियाशील चैतन्य रश्मियां।

अध्यवसाय एक सूक्ष्म तरंग है। तरंग सघन होकर भाव बनती है। दूसरे शब्दों में, जीव जब अपने प्रयत्न द्वारा औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक आदि विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति देता है, वह अभिव्यक्ति भाव कहलाती है। भावों की जनक लेश्या है। लेश्या सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के संबंध का माध्यम है। इसका कार्य अध्यवसाय रूपी सूक्ष्म स्पंदनों को भाव रूप में परिवर्तित कर क्रियातंत्र तक पहुंचाना है। इस प्रकार अध्यवसाय और लेश्या में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

क्रिया और लेश्या

जैन चिंतकों ने वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम पर गहरा चिंतन किया हैं। इस चिंतन का परिणाम - लेश्या का सिद्धांत है। जैन शास्त्रों में लेश्या की चर्चा अत्यन्त प्राचीन है। आज के मानस शास्त्रियों के लिये भी मननीय है। सर्वाधिक प्राचीन आगम आचारांग के यह प्रथम श्रुत स्कन्ध में प्रयुक्त 'अबहिलेस्से' शब्द लेश्या की प्राचीनता का साक्ष्य है। अबहिलेस्से का अर्थ हैं– मन संयम से बाहर न निकलें। सूत्रकृतांग में प्रयुक्त 'सुविसुद्धलेस्से' और औपपातिक में 'अपडिलेस्स' शब्द भी लेश्या सिद्धांत की प्राचीनता के साक्ष्य हैं।

लेश्या की चर्चा जैन साहित्य के किसी एक ग्रंथ या कृति में उपलब्ध नहीं होती। अनेक ग्रंथों में प्राप्त है। उत्तराध्ययन में ग्यारह तथा भगवती और प्रज्ञापना में पन्द्रह द्वारों के माध्यम से लेश्या का विवेचन किया गया है। वे द्वार हैं[5]–

1. परिणाम	6. अप्रशस्त	11. प्रदेश
2. वर्ण	7. संक्लिष्ट	12. वर्गणा
3. रस	8. उष्ण	13. अवगाहना
4. गंध	9. गति	14. स्थान
5. शुद्ध	10. परिमाण	15. अल्प बहुत्व

उत्तराध्ययन के 11 द्वारों में लेश्या की चर्चा है किन्तु उन द्वारों में नाम, लक्षण, स्थिति, आयु ये चार अलग हैं। [6] दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में नाम भेद से सोलह अनुयोगों के माध्यम से लेश्या का निरूपण किया हैं। वे अनुयोग हैं–

1. निर्देश	5. कर्म	9. संख्या	13. काल
2. वर्ण	6. लक्षण	10. साधना	14. अन्तर
3. परिणाम	7. गति	11. क्षेत्र	15. भाव
4. संक्रम	8. स्वामित्व	12. स्पर्शन	16. अल्प बहुत्व

गोम्मटसार में भी इस प्रकार का विवेचन देखने को मिलता है किन्तु उनमें कई द्वार ऐसे हैं, जिनका उल्लेख पूर्व ग्रंथों में नहीं है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या सिद्धांत का ई.पू. पांचवीं शताब्दी से ई. पू. दसवीं शताब्दी तक क्रमिक विकास हुआ है। 11-12 वीं शताब्दी के बाद यह विकास-क्रम प्रायः

अवरुद्ध सा हो गया। आधुनिक युग में मनोविज्ञान, रंग-विज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि ज्ञान की नई विधाओं के विकास के साथ जैन दर्शन का लेश्या सिद्धांत आचार्य महाप्रज्ञ जैसे मनीषियों के द्वारा पुनः प्रकाश में आ रहा है।

लेश्या एक पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव को प्रभावित करने वाले अनेक पुद्गल समूह हैं, उनमें एक समूह का नाम है– लेश्या। विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न परिभाषाएं उपलब्ध हैं। पंचसंग्रह [7] धवला [8] गोम्मटसार [9] आदि में इसे पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जीव जिसके द्वारा अपने को पुण्य - पाप से लिप्त करता है, वह लेश्या है।

तत्त्वार्थ वार्तिक [10] और पंचास्तिकाय [11] के अनुसार कषायोदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। स्थानांग की अभयदेवकृत वृत्ति [12] ध्यानशतक [13] आदि ग्रंथों के अनुसार, जिसके द्वारा प्राणी कर्म से संश्लिष्ट होता है, उसका नाम लेश्या है। मूलाराधना में शिवार्य के शब्दों में– लेश्या छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम हैं।[14]

उत्तराध्ययन की वृहत्वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा, छाया किया है। [15] लेश्या की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर मुख्य रूप से तीन तथ्य सामने आते हैं–

(1) योग परिणाम लेश्या – उत्तराध्ययन की टीका में यह मत उल्लिखित है। [16]

(2) कर्म वर्गणा निष्पन्न लेश्या – यह धारणा वादिवेताल सूरि की है। उत्तराध्ययन के टीकाकार शांतिसूरि भी इसके पक्षधर हैं।

(3) कर्म निस्यन्द लेश्या – यह मत हरिभद्र का है। [17]

योग परिणाम लेश्या

आचार्य हरिभद्र ने लेश्या और योग में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध माना है। दोनों में साहचर्य सम्बन्ध होने पर भी लेश्या योग-वर्गणा के अन्तर्गत नहीं हैं क्योंकि इनमें स्वरूपगत भिन्नता है। काययोग का सम्बन्ध शरीर की क्रिया से है, वचनयोग का वाणी से, मनोयोग का चिन्तन से, जबकि लेश्या का सम्बन्ध भावधारा से है। चिन्तन और भावधारा भिन्न है। कर्म शरीर का स्थूल परिणमन मन, वचन और काया की प्रवृत्ति

है तथा उसका सूक्ष्म परिणमन अध्यवसाय है। कर्म के उदय और विलय से योगों में परिवर्तन होता रहता हैं, वैसे ही लेश्या में भी परिवर्तन होता है। लेश्या और योग का अविनाभावी सम्बन्ध मानने पर दो विकल्प सामने आते हैं– क्या लेश्या को योग वर्गणा के पुद्गल माना जाये या योग निमित्त कर्म रूप ? यदि पुद्गल कर्म रूप है तो घाती कर्म है या अघाती कर्म ? लेश्या घाती कर्म नहीं हो सकती। कारण, घाती कर्म नष्ट होने पर भी लेश्या प्राणी में पाई जाती हैं। यदि अघाती कर्म मानें तो अघाती कर्मों की विद्यमानता में लेश्या का होना अनिवार्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ– चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती है जबकि अघाती कर्म हैं इसलिये योग वर्गणा के अन्तर्गत ही लेश्या को मानना उचित है। इस तथ्य की पुष्टि का आधार यह भी है कि केवली शुक्ललेश्या में रहकर ही अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्त में योग का निरोध करते हैं। योग-निरोध के बाद ही अयोगीत्व और अलेश्यत्व गुण प्रकट होते हैं। इसके अलावा लेश्या में कषायों की वृद्धि होती है। योग में कषाय बढ़ाने का सामर्थ्य है। लेश्या और योग दोनों जीवोदय निष्पन्न परिणाम हैं। लेश्या मोहकर्म का उदय, क्षय या क्षयोपशम जनित है वहां योग नामकर्म का उदय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम जनित है।[18]

लेश्या का अन्तिम चरण बाह्य जगत् व स्थूल शरीर पर योग रूप में होता है। बाहर से भीतर की यात्रा की दृष्टि से विचार करें तो योग की अन्तिम परिणति कर्म रूप में होती है। इसका मध्यवर्त्ती परिणाम लेश्या बनता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार– यह दोनों ही मध्यवर्ती कड़ी है।

योग प्रवृत्ति रूप है। उसके मुख्य घटक तत्त्व अविरति और कषाय हैं। कषाय से लेकर क्रियातंत्र तक की यात्रा में लेश्या एक कड़ी है। क्रियातंत्र के मुख्य घटक हैं– मन, वचन, काया। उनकी प्रवृत्ति से कर्म-बंधन होता है। प्रकृति, प्रदेशबंध में योग हेतुभूत हैं तो स्थिति और अनुभाग में निमित्त कषाय हैं। किन्तु कषाय, स्थिति और अनुभाग की तरतमता का निर्धारण लेश्या से होता है। लेश्या की कोई स्वतंत्र वर्गणा नहीं है अत: वह योग वर्गणा की अवान्तर वर्गणा मानी गई है।

कर्म वर्गणा निष्पन्न लेश्या

कुछ आचार्यों के अभिमत से लेश्या का संबंध कर्म वर्गणा से है। कर्ममुक्त आत्मा अलेशी होता है। अत: लेश्या का निर्माण कर्म-वर्गणा से होता है। लेश्या कर्म रूप होकर भी कर्म से अलग है।[19]

कर्मनिस्यन्द लेश्या

लेश्या कर्म का निर्झर रूप है। जैनाचार्यों ने लेश्या को कर्म निस्यन्द रूप में परिभाषित किया है। निर्झर निरन्तर गतिशील होता है। उसका स्रोत कभी सूखता नहीं। नये-नये रूपों में प्रवाहित होता रहता है। वैसे ही लेश्या का प्रवाह भी जीव में असंख्य रूपों में होता है। निस्यन्द का तात्पर्य बहते हुए कर्म-प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म की सत्ता है किन्तु लेश्या का अभाव है। प्रज्ञापनावृत्ति में इस मत की सुव्यवस्थित समालोचना मिलती है।

लेश्या रूप निर्झर के प्रकटीकरण की प्रणालियां स्थूल शरीर में अन्त: स्रावी ग्रन्थियों के रूप में है। इनके स्राव रक्त के साथ संचरण करते हुए नाड़ी तंत्र तक पहुंचते हैं। अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्राव नाड़ीतंत्र और मस्तिष्क के सहयोग से हमारे चिन्तन, वाणी, आचार, व्यवहार को संचालित एवं नियंत्रित करते हैं।

योग के दो प्रकार हैं– द्रव्य योग, भावयोग। द्रव्य योग पौद्गलिक है। भाव योग आत्म-परिणति है। योग की तरह लेश्या भी द्रव्य-भाव रूप है। इस दृष्टि से योग एवं लेश्या में समानता प्रतीत होती है। आचार्य मलयगिरि ने लेश्या को योग निमित्तज कहा है। यह कथन द्रव्य योग, द्रव्य लेश्या के आधार पर है, क्योंकि द्रव्य लेश्या की वर्गणा का सम्बन्ध तैजस शरीर की वर्गणा से है। किन्तु भाव लेश्या और योग का सम्बन्ध नहीं बनता।

लेश्या और अभिजातियों की मीमांसा

लेश्या से मिलती-जुलती मान्यताओं का वर्णन प्राचीन श्रमण-परम्परा में अभिजाति नाम से है। त्रिपिटकों में भी अभिजाति सम्बन्धी प्रकरण मिलते हैं। उनमें अधिक प्रामाणिक है– सामञ्जफल सुत्त। अभिजातियों का सम्बन्ध मूलत: आजीवकों से रहा है। डॉ. हर्मन जेकोबी के अनुसार– जैनों के लेश्या सिद्धांत और गोशालक द्वारा प्रतिपादित छ: प्रकार के मनुष्य के विचारों में काफी समानता है।

डॉ. ल्युमेन तथा हर्मन जेकोबी भी इससे सहमत हैं किन्तु अंगुत्तर निकाय से स्पष्ट है कि प्रस्तुत विभाजन गोशालक द्वारा नहीं अपितु पूरणकाश्यप के द्वारा प्रस्तुत किया गया था।[20] दीघनिकाय में छह तीर्थकरों का नामोल्लेख है। उनमें पूरणकाश्यप एक है।[21] जिन्होंनें रंगों के आधार पर छ: अभिजातियां निश्चित की थी। मनुष्यों का यह वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया। उसका उद्देश्य– निम्न जाति में समुत्पन्न व्यक्ति

भी शुक्लधर्म कर सकता है और उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्ण कर्म में संलग्न रह सकता है, इस तथ्य को उजागर करना था। धर्म और निर्वाण का जाति से अनुबंध नहीं है।

यहां ज्ञातव्य यह है कि अभिजाति की अवधारणा और लेश्या में कुछ अन्तर है। लेश्या का व्यक्ति से अनुबंध है। बुद्ध जन्मना अभिजाति में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंनें कर्मणा अभिजाति को महत्त्व दिया। कर्म (क्रिया) ही व्यक्तित्व की सही व्याख्या है। यद्यपि अभिजातियों के वर्गीकरण का आधार वर्ण रहा और लेश्या के वर्गीकरण का आधार भी वर्ण रहा।

इस दृष्टि से समानता होते हुए भी अभिजातियों की अपेक्षा लेश्या का सिद्धांत महाभारत की विचारधारा के अधिक निकट है। महाभारत का उद्धरण है कि– सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहा– प्राणियों के छह वर्ण हैं -1 कृष्ण 2 धूम्र 3 नील 4 रक्त 5 हारिद्र 6 शुक्ल। अधोगति कृष्ण वर्ण के होते हैं। नरक से निकलने वाले जीवों का वर्ण धूम्र होता है। मानव जाति का रंग नीला है। देवों का रंग रक्त है। विशिष्ट देवों का रंग हारिद्र (पीला) होता है। महान साधकों का वर्ण शुक्ल होता है।[22]

पातञ्जल योग-दर्शन में कर्म की दृष्टि से चार जातियां प्रतिपादित हैं– 1 कृष्ण 2 शुक्ल-कृष्ण 3 शुक्ल 4 अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमश : अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध, शुद्धतर हैं। तीन जातियां सभी में होती हैं। चौथी अशुक्ल-अकृष्ण योगी में पाई जाती है।[23] उपर्युक्त सभी समानताओं के रहते हुए भी लेश्या सिद्धांत की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। प्राचीन प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर यह कहना औचित्य पूर्ण होगा कि यह जैन दर्शन का अपना मौलिक संप्रत्यय है।

लेश्या के प्रकार

लेश्या के दो प्रकार हैं- द्रव्य लेश्या और भावलेश्या। द्रव्य लेश्या शरीर का रंग और आणविक आभा है। यह पौद्गलिक होती है। भाव लेश्या आत्मिक परिणाम है। इन दोनों में कार्य-कारण संबंध है।

(1) द्रव्य लेश्या– यह सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित संरचना है हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य यही बनती है। जैसे– पित्त की अधिकता से स्वभाव क्रोधी बन जाता है और फिर क्रोध के कारण पित्त की वृद्धि होती है। उसी प्रकार सूक्ष्म भौतिक संरचनाएं हमारे मनोभावों का निर्माण करती हैं और फिर उन मनोभावों से सूक्ष्म भौतिक संरचना में में अभिवृद्धि होती है।

(2) भाव लेश्या– यह आत्मा का सूक्ष्म स्पन्दन है जिसे अध्यवसाय या अन्तकरण की वृत्ति के रूप में पहचाना जाता है। पं. सुखलालजी के शब्दों में भाव लेश्या आत्मा का परिणाम है। भाव लेश्या एक प्रकार के मनोभाव है। मनोभाव की संरचना में तीन तत्त्वों का योग होता हैं– शरीर, वीर्यलब्धि और कषाय का उदय-विलय, जो संक्लेश और योग पर आधारित है। संक्लेश के तीन रूप हैं–

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
तीव्र	तीव्रतर	तीव्रतम
मन्द	मन्दतर	मन्दतम

इन आधारों पर भाव लेश्या के अनेक प्रकार बन जाते है।

भाव से विचार प्रभावित होते हैं। विचार और पुद्गल द्रव्य में गहरा सम्बन्ध है। प्रत्येक प्राणी के इर्द-गिर्द पुद्गलों का वलय है। उनमें वर्ण की प्रमुखता है। वर्ण का हमारे जीवन और चिन्तन पर प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी तत्त्वविदों ने माना है। मनोभावों को समझने के लिये जैन परम्परा में प्रसिद्ध सुन्दर रूपक को स्वीकार किया है। चित्र और स्पष्टीकरण निम्नानुसार है–

"The most interesting thing the picture depicts is six men standing by a mango tree. Their hearts of various kinds, corresponding to their respect for life. The black hearted man tries to fall the tree. The indigo, grey and red hearted are respectively contect with big bought, small branches and ting springs. The pink-hearted man merely plucks a single mango, but the man with the white heart or perfection waits in patience for the fruit to drop."

इस प्रतीकात्मक या चित्रात्मक शैली के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि– चिन्तन के छह स्तर है। उत्तराध्ययन आदि आगमों के अनुसार प्रथम व्यक्ति कृष्ण लेशी है क्योंकि उसमें क्रूरता और हिंसा के भाव तीव्र हैं। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छट्ठा व्यक्ति क्रमशः नीललेशी, कापोत लेशी, तेजो लेशी, पद्मलेशी और शुक्ल लेशी है। इनमें क्रमशः क्रूरता और हिंसा के भाव मन्द, मन्दतर है। फलतः भूख मिटाने के बारे में इनके विभिन्न चिन्तन इस बात को सूचित करते हैं कि लेश्या परिवर्तन के साथ विचार अथवा मनोभाव कैसे परिवर्तित होते है इसका सहज अनुमान इस चित्र से किया जा सकता हैं।

1.	जघन्य	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
2.	मध्यम	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
3.	उत्कृष्ट	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट

परिवर्तनशील उपर्युक्त मानसिक दशाओं का मन, वचन, कार्य से गुणन करने पर विकल्पों की वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए संक्लेश के नो प्रकारों– जैसे $9 \times 3 = 27$, $27 \times 3 = 81$, $81 \times 3 = 243$ इस प्रकार मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर प्रत्येक लेश्या के अनेक परिणमन हैं।

रंगविज्ञान और लेश्या

रंगों के आधार पर मनुष्य की जाति, गुण, स्वभाव, रुचि, आदर्श आदि की व्याख्या करने की परम्परा प्राचीन है। तांत्रिकों, मांत्रिकों, भौतिकवादियों, शरीर-शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों आदि के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि रंग चेतना के सभी स्तरों को प्रभावित करता है। वैज्ञानिकों ने रंगों का मानवीय प्रकृति के साथ संबंध स्पष्ट करते हुए बताया है कि– लाल, गुलाबी, बादामी, नारंगी रंगों से मानव की प्रकृति में ऊष्मा बढ़ती है। नीला, आसमानी शीतलता देता है। हरा, समशीतोष्ण है। सफेद रंग से

प्रकृति संतुलित रहती है।[24ख] चित्त और मन के लेखक आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार–

1. कृष्ण वर्ण — असंयम, हिंसा और क्रूरता को उत्पन्न करता है।
2. नीला वर्ण — ईर्ष्या, असहिष्णुता, रसलोलुपता और विषयों में आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।
3. कापोत वर्ण — मनुष्य में वक्रता,कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।
4. रक्त वर्ण — ऋजुता, विनम्रता, धर्म-प्रेम और पवित्र भावों का विकास करता है।
5. पीत वर्ण — मनुष्य में शांति, क्रोध- मान-माया- और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है।
6. श्वेत वर्ण — मनुष्य में गहरी शांति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।[25]

अमेरिकन सोसाइटी फॉर फोटोबायोलोजी के पूर्व अध्यक्ष केन्ड्रीक सी-स्मिथ भी लिखते हैं कि– मस्तिष्क में प्रविष्ट प्रकाश से जैविक प्रक्रिया चलती है जो मानसिक व्यवहार को प्रभावित करती है। प्रकाश की सघनता और तरंग दैर्घ्यता सृजनात्मक और भाव दशाओं के परिवर्तन में निमित्त हो सकती है

रंग की सही पहचान, सही परिणाम के लिये मनोवैज्ञानिकों ने अध्ययन, परीक्षण एवं प्रयोग करके निष्कर्ष रूप में रंगों से जुड़ी विशेषताओं का उल्लेख किया है–

रंग	विशेषता
बैंगनी	आध्यात्मिकता
चमकीला जामुनी	अन्त:प्रेरणा
चमकीला नीला	धार्मिक रुचि
चमकीला हरा	सामञ्जस्य, सहानुभूति
चमकीला पीला	बौद्धिकता
चमकीला नारंगी	ऊर्जा
चमकीला लाल	जीवतंता[26]

चित्त और मन के लेखक आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार–

1. लाल– स्नायु मंडल में स्फुर्ति।
2. नीला– स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय एवं स्वप्नदोष में लाभ। ठंडा, शान्तिदायक, संकोचक, कीटनाशक, दिमागी टॉनिक, पित्त नाशक।
3. पीला– मस्तिष्कीय शक्ति का विकास, कब्ज, प्लीहा, यकृत के रोगों का उपशमन।
4. हरा– ज्ञान-तंतुओं और स्नायु-मंडल सशक्त बनते हैं। सन्तुलक, गंदगी निष्कासक, रक्त शोधक, कब्ज नाशक, वात नाशक, अल्सर से राहत।
5. नारंगी– दमा और वातजन्य व्याधियों की चिकित्सा । गर्म, उत्तेजक, विस्तारक, शक्तिदायक, पाचक व कफनाशक।[26(क)]

रंग चेतना के सभी स्तरों पर प्रवेश कर भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव दिखाता है इसलिये ओसले (Ouseley) ने प्रत्येक रंग के सात पहलु माने हैं– 1. शक्ति 2. चेतना 3. चिकित्सा 4. प्रकाश 5. आपूर्ति 6. प्रेरणा 7. पूर्णता।

रंगों के भावात्मक पक्ष की रंग-मनोविज्ञान के साथ तुलना करें तो लेश्या का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्वयं सार्थक हो जाता है। रंग के माध्यम से विचारों, आदर्शों, संवेगों, क्रियाओं, और इन्द्रिय जनित उत्तेजनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार रंग के अध्येताओं ने रंगों का अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया है और उसके परिणामस्वरूप बनने वाले व्यक्तित्व के गुण-दोषों की मीमांसा की है।

लेश्या और तरंग-दैर्ध्य

रंग-चिकित्सा (कलर थेरेपी) का आविर्भाव रंगों का शारीरिक, मानसिक और भावात्मक स्तर पर होने वाले प्रभावों के आधार पर हुआ है। रंग के द्वारा मानव की भावात्मक और शारीरिक चिकित्सा में सफलता प्राप्त हुई है। पाश्चात्य देशों में इस विषय में काफी शोध की गई है जिसके परिणाम काफी आशाजनक रहे हैं।[27]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत चुम्बकीय तरंगें बहुत ही सूक्ष्म है जो सामान्यत: दृश्य नहीं है। त्रिपार्श्व के माध्यम से उनके सात वर्ण देखे गये हैं– बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। स्पेक्ट्रम से दिखाई देते सातों रंगों की अपनी तरंग दीर्घता है। रंग प्रकाश से भिन्न नहीं हैं। प्रकाश तरंग रूप में होता है और प्रकाश का रंग उसके तरंग दैर्ध्य पर आधारित है।

तरंग दैर्घ्य और कंपन की आवृत्ति विपरीत प्रमाण से सम्बन्धित है अर्थात् तरंग दैर्घ्य के बढ़ने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है। तरंग दैर्घ्य के घटने पर आवृत्ति बढ़ती है। लाल रंग की तरंग दैर्घ्य सबसे अधिक और बैंगनी रंग की तरंग दैर्घ्य सबसे कम है।

बैंगनी रंग के बाहर की विकिरणों को पराबैंगनी और लाल रंग के बाहर की विकिरणों को अवरक्त कहा जाता है। इस वर्गीकरण में वर्ण की प्रधानता है किन्तु जितनी विकिरणें है, उनके लक्षण, आवृत्ति और तरंग दैर्घ्य में अन्तर है। यहां यह ध्यातव्य है कि छह लेश्याओं के वर्ण और दृश्यमान वर्ण-पट के रंगों में समानता है। विज्ञान सम्मत रंगों और लेश्या के रंगों का संबंध निम्नानुसार समझा जा सकता है–[27(क)]

वर्णपट	लेश्या
पराबैंगनी से बैंगनी तक	कृष्ण लेश्या
नील	नील लेश्या
आकाशीय रंग	कापोत लेश्या
पीला	तेजो लेश्या
लाल	पद्म लेश्या
अवरक्त	शुक्ल लेश्या

प्रारंभिक तीन प्रकार के रंगों के विकिरण लघु तरंग वाले और पुनः पुनः आवृत्ति वाले होते है। वैसे ही कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएं तीव्र कर्म बंधन में सहयोगी बनती हैं। शेष रंगों की तरंगें लंबी और कम आवृत्ति वाली होती हैं। उसी प्रकार तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या तीव्र कर्म बंधन में कारण नहीं बनती। लेश्याओं के साथ विकिरणों की तुलना स्थूल रूप से ही संभव है। जहां लेश्या के लक्षणों में वर्ण की प्रमुखता है वहां विकिरणों में आवृत्ति और तरंग की लम्बाई मुख्य है। लेश्या सिद्धांत में रंगों के तरंग दैर्घ्य और आवृत्ति सम्बन्धी वैज्ञानिक सिद्धांत की झलक है। कषायों के तीव्र-मंद प्रकम्पनों के आधार पर लेश्या के द्वारा न्यूनाधिक मात्रा में कर्म बंधन होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक आभामण्डल में कहा– कृष्ण लेश्या में आवृत्ति ज्यादा, तरंग दैर्घ्य कम होता है। नील लेश्या में तरंग की लम्बाई बढ़ जाती है, आवृत्ति कम। कापोत में तरंग दैर्घ्य है, आवृत्ति कम। तेजो लेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो

जाता है। पद्म और शुक्ल में पहुंचते ही आवृत्ति कम हो जाती है। केवल तरंग दैर्घ्य रह जाता है। इसमें व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण घटित हो जाता है।[28]

व्यक्तित्व और लेश्या

लेश्याएं मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नहीं, बल्कि चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार हैं। मनोभाव और संकल्प आंतरिक तथ्य मात्र नहीं, वे क्रिया के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति चाहते हैं कि कौन व्यक्ति कैसा है ?

इसकी व्याख्या लेश्या के माध्यम से की जा सकती है। द्रव्य लेश्या का प्रतिबिम्ब है– बाह्य व्यक्तित्व और भाव लेश्या का प्रतिबिम्ब है– आन्तरिक व्यक्तित्व। चित्त की पर्यायें देश, काल परिस्थिति के साथ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। पर्यायों के इस वैविध्य या चित्त की विविध दशाओं का सही अंकन करने के लिये जैन दर्शन ने लेश्या का सिद्धांत प्रतिपादित किया है।

व्यक्तित्व संरचना में वंशानुक्रम, परिवेश, शरीर-रचना, नाड़ी-संस्थान, शरीर-रसायन आदि कई कारकों का योगदान होते हुए भी उपादान के रूप में लेश्या की अहं भूमिका रहती है। अशुभ लेश्या से शुभ लेश्या की ओर गति ही अच्छे व्यक्तित्व की पहचान हैं।

लेश्या और आभामण्डल

लेश्या या आभामण्डल व्यक्ति की मनोदशा, भावात्मक जगत् का प्रतिनिधि तत्त्व है। यह चेतना और शरीर दोनों की सह परिणति का परिणाम है। जीव और पुद्गल का संयोग सनातन है। आभामण्डल का सम्बन्ध तैजस् शरीर से है। आभामंडल तैजस् शरीर से निष्पन्न होता है। प्राणशक्ति का मूल स्रोत है– तैजस् शरीर। जैनागमों में आभामंडल शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं है किन्तु लेश्या शब्द का नंदीचूर्णि में जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, वह विज्ञान सम्मत आभामण्डल है।

इसी आगम में लेश्या शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में 'रस्सी' शब्द का उल्लेख है।[29] रस्सी यानी रश्मि। लेश्या का एक अर्थ है– विद्युत विकिरण। इस विकिरण का मूल स्रोत तैजस् शरीर है और तैजस् शरीर का प्रेरक है-अतिसूक्ष्म कार्मणशरीर। कर्म संस्कारों के अनुरूप तैजस् शरीर के विकिरण होते हैं, प्राणधारा का विकिरण होता है, वही आभामंडल का निर्माण करता है।

आभामंडल जड़ और चेतन सभी पदार्थों का होता है। दोनों में अन्तर यह है कि पदार्थ का आभामंडल स्थिर और निष्क्रिय होता है, जब कि प्राणी का शुभ-अशुभ भावों के अनुरूप रूपान्तरित होता रहता है। आभामंडल रंगात्मक है। आभामंडल में कृष्ण या श्वेत आदि जिस रंग की प्रधानता होती है, व्यक्ति का दृष्टिकोण, स्वभाव, व्यवहार उसी प्रकार का बन जाता है।

लेश्या और निक्षेप नय

निक्षेप नय के आधार पर लेश्या के चार प्रकार किये जा सकते हैं– नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव। द्रव्य लेश्या के पुन: दो प्रकार हैं -कर्म लेश्या और नो-कर्म लेश्या। कर्मलेश्या का तात्पर्य है– सकर्मा प्राणी में पाई जाने वाली लेश्या और नो-कर्म लेश्या का अर्थ है– अकर्मा (निर्जीव प्राणी) से निकलने वाली रश्मियां। जिस प्रकार सजीव प्राणी के शरीर से निरन्तर लेश्या विकीर्ण होती हैं वैसे ही निर्जीव पदार्थ से भी रश्मि मंडल निकलता है जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है। आभामण्डल का संबंध जड़ और चेतन दोनों से हैं। प्राचीन आचार्यों ने नो-कर्म लेश्या के रूप में चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, आभरण, आच्छादन, दर्पण, कांगिणी आदि को परिगणित किया है।[30] यहां सूर्य-चन्द्र आदि का तात्पर्य उनके विमानों से हैं, न कि सूर्य-चन्द्र देवता से है।

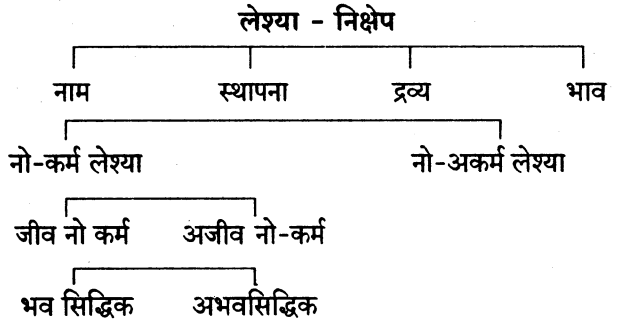

द्रव्य-लेश्या और भाव लेश्या का संबंध

आगम साहित्य में कहीं-कहीं द्रव्य लेश्या के अनुरूप भाव परिणति का, कहीं पर द्रव्य लेश्या के विपरीत भाव परिणति का प्रतिपादन है। प्रश्न है, किसे द्रव्य लेश्या कहें और किसे भाव लेश्या ?

जन्म से मृत्यु तक एक रूप में रहने वाली द्रव्य लेश्या है। नारक-देवों में लेश्या का

वर्णन द्रव्य लेश्या के आधार पर है। इसलिये तेरह सागर की आयु वाले किल्विषिक देव एकान्त शुक्ल लेशी हैं, वहीं एकान्त मिथ्यादृष्टि भी हैं। प्रज्ञापना में ताराओं को स्थिर लेशी माना है। मनुष्य और तिर्यञ्च में अस्थिर लेश्याएं है। पृथ्वीकाय में कृष्ण, नील, कापोत तीन अप्रशस्त लेश्याएं हैं।

प्रश्न होता है– ये द्रव्य लेश्या है या भावलेश्या ? क्योंकि स्फटिक, मणि, हीरा, मोती आदि रत्नों में श्वेत प्रभा होती है। यदि इनमें भाव लेश्या मानें और उसे अप्रशस्त माने तो प्रश्न होता है कि पृथ्वीकाय से निकलकर कितने ही जीव केवली बन जाते हैं। पृथ्वीकाय के उस जीव ने अप्रशस्त भाव लेश्या में केवली के आयुष्य का बंधन कैसे किया ?

भवनपति, वाणव्यंतर देव में चार लेश्याएं हैं– कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या। क्या कृष्ण लेश्या में आयु पूर्ण कर प्राणी असुरादि में पैदा हो सकता है ? यह चिन्तनीय प्रश्न है। द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या की स्पष्ट भेद रेखा आगमों में नहीं मिलती किन्तु इतना निश्चित है कि लेश्या का शुभ-अशुभ होना आत्म-परिणामों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर निर्भर करता है।

गति और लेश्या

गतियां चार हैं– नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्य गति, देवगति। अनादि संसार यात्रा के ये चार पड़ाव हैं। प्रश्न है कि इनमें जीव पैदा क्यों होता है ?, एक ही गति में पुनः पुनः उत्पन्न होता है या उत्क्रमण-अपक्रमण भी संभव है ? कारण की मीमांसा में मुख्य हेतु है– लेश्या। छह लेश्याओं के साथ गति की नियामकता नहीं है कि अमुक लेश्या वाला अमुक गति में ही जायेगा।

चारों गतियों में किसी एक गति का आयुष्य बंध सकता है। कुछ लेश्या का स्थान अवश्य नियामक है। जैसे कृष्ण लेश्या नरक का कारण है। ज्योतिष्क देवों में तेजो लेश्या ही होती है, क्योंकि वहां भावों की क्लिष्टता नहीं है। चारों गतियों में सभी लेश्याओं का अस्तित्व है।

अप्रशस्त और प्रशस्त लेश्याओं के आधार पर प्राणी की मानसिक दशा और आचरण का सुव्यवस्थित चित्रण उत्तराध्ययन के चौतीसवें अध्ययन में मिलता है।[31] वहां लेश्या के वर्ण गंध आदि गुणधर्मों पर विशेष प्रकाश डाला गया है जिसे निम्नांकित चार्ट से सरलता से समझा जा सकता है–

नाम	वर्ण	गंध	रस	स्पर्श
कृष्णलेश्या	काजल के समान	मृत गाय कलेवर	तुंबे से अनन्तगुण कटुक	करौत
नील लेश्या	चास पक्षी की पांख	मृत कुत्ता	त्रिकटु से अनन्त गुण तीखा	गाय की जीभ
कापोत	कबूतर की ग्रीवा के समान	मृत सर्प की गंध से अनन्त गुण अनिष्ट	कच्ची केरी से अनन्त गुण खट्टा	शाक का पत्ता से अन्त गुण ककर्श
तेजो	हिंगलु-सिंदूर के समान रक्त	सुंगधित द्रव्यों से अनन्त गुणा सुगंध	पक्के आम से अनन्त गुण खट्टा-मीठा	नवनीत
पद्म	हल्दी के समान पीला		मधु से अनन्त गुणा मिष्ट	नवनीत से अनन्तगुण सुकुमार
शुक्ल	कुन्दनपुष्प,शंख-पुष्प के समान सफेद		मिश्री से अनन्त गुणा मिष्ट	सिरीष के पुष्प

प्राचीन आचार्यों ने लेश्या सैद्धांतिक पक्ष पर अधिक प्रकाश डाला है। सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में लेश्या का कर्म के साथ गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है।

कर्म का उपार्जन क्रिया के अनुसार होता है। अप्रशस्त लेश्या से साम्परायिक क्रिया का बंधन होता है, प्रशस्त लेश्या में ईर्यापथिक का। लेश्या की प्रशस्तता-अप्रशस्तता, शुभता-अशुभता कषायों की तीव्रता-मंदता पर निर्भर है। किसी भी स्थिति के निर्माण में निमित्त और उपादान दोनों का योग होता है। लेश्या की शुभ-अशुभ अवधारणा के संदर्भ में पुण्य-पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा की तत्त्व मीमांसा समझनी अपेक्षित है।

रंग विज्ञान और लेश्या

वैदिक मान्यतानुसार सम्पूर्ण सृष्टि पंच तत्त्वों से बनी है। इन तत्त्वों का प्राणियों के मन और कर्म पर प्रभाव है। रंग विज्ञान के अनुसार तत्त्वों केअपने-अपने विशिष्ट रंग है। उनके अभिमत से मूल में प्राण तत्त्व एक है। अणुओं की न्युनाधिकता, कम्पन या वेग से उसके पांच विभाग किये गये हैं -

नाम	वेग	रंग	आकार	स्वाद
पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्ध चन्द्राकार	कसैला
तैजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चटपटा
वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ	अनेक बिन्दुगोल या आकार शून्य	कड़वा

क्रिया और पुण्य

''कर्मणा बध्यते जंतु : यह उक्ति, क्रिया से कर्म बंधन होता है, इस तथ्य की ओर संकेत करती है किन्तु यह कथन भी सापेक्ष ही है । जैन दृष्टि में सभी क्रियाएं बंधन की हेतु नहीं मानी गई है। साम्परायिक क्रियाएं ही कर्म बंधन की कोटि में आती है, ईर्यापथिक नहीं। कर्मों के आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहा है। पांच आश्रवों में योग (क्रिया) आश्रव का क्रिया से सीधा सम्बन्ध है। योग के तीन स्रोत हैं– मन, वचन

और काया। ये तीनों योग शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। शुभ परिणमन से होने वाला शुभयोग और अशुभ परिणमन से होने वाला अशुभयोग कहलाता है। तत्त्वार्थ सूत्र में शुभाशुभ योगाश्रव को पुण्य-पाप कहा गया है। शुभयोग से होने वाला बंधन पुण्यरूप और अशुभ से होने वाला बंधन पाप रूप होता है।

जैन तत्व दर्शन की भाषा में शुभकर्मों की उदयावस्था को पुण्य और अशुभ कर्मों की उदयावस्था को पाप कहा जाता है। सत् कर्म एवं असत् कर्म भी क्रमशः पुण्य और पाप के वाचक हैं, इसलिए पुण्य-पाप सत्क्रिया तथा असत्क्रिया के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं।

जीव का परिणमन दो तरह से होता है– मोह, राग -द्वेष आदि अशुभ भावों में अथवा ध्यानादि शुभकार्यों में। भावों के अनुरूप सूक्ष्म पुद्गलों का आत्मा के साथ अनुबंध होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म - प्रदेशों में प्रकम्पन होता है। इससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। शुभ-अशुभ पुद्गलों के आकर्षण के हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से द्विविध परमाणुओं का आकर्षण संभव नहीं है।

पुण्य का बंध शुभयोग से होता है। शुभयोग, शुभभाव, शुभ परिणाम आदि जीव के पर्याय हैं इसलिए एकार्थक हैं। पाप का बंध अशुभ योग से होता है। अशुभ योग, अशुभ भाव, अशुभ परिणाम आदि एकार्थक है। वे ही पुद्गल उदयकाल में सुख - दुख रूप फल देने के कारण पुण्य-पाप कहलाते हैं। आत्मप्रदेशों के साथ बंधे हुए कर्म - पुद्गल जब तक फल नहीं देते तब तक सुख -दुःख की अनुभूति नहीं होती। उदय काल में ही वे सुखद - दुखद संवेदन के निमित्त बनते हैं। कई आचार्य मंद कषाय से पुण्य बंध मानते हैं। [32]आचार्य भिक्षु इससे सहमत नहीं। उनके अभिमत से मंद कषाय पुण्याकर्षण का हेतु नहीं। कषाय की मंदता और अन्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से होने वाले शुभयोग के द्वारा नामकर्म के योग से पुण्य का आकर्षण होता है।

पुण्य- पाप दोनों बंधन

व्यवहार के धरातल पर पुण्य काम्य है, पाप अकाम्य। अध्यात्म की भूमिका पर दोनों हेय हैं। ये पौद्गलिक होने से आत्मोदय के बाधक हैं। दोनों बेड़ियां है। अंतर इतना ही है कि पुण्य सोने की बेड़ी है, पाप लोहे की बेड़ी है। इस प्रकार पुण्य - पाप दोनों ही बंधन रूप है।[33]

आचार्य पूज्यपाद की धारणा भिन्न है। वे पुण्य को आत्म - साधना में सहाय तत्त्व मानते हैं।[34] इसमें महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पुण्यार्जन की सारी क्रियाएं जब अनासक्त भाव से की जाती हैं तो वे बंध का कारण न होकर, कर्म क्षय की हेतु बन जाती हैं। आचारांग में आश्रव और परिश्रव इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक ही क्रिया आश्रव (बंधन) का कारण भी हो सकती है और परिश्रव-मुक्ति का कारण भी।

पुण्य की कामना अविहित

पुण्य की हेयता के विषय में जैन परम्परा में एक मत होते हुए भी उपादेयता को लेकर मतभेद है। आचार्य कुंदकुंद और आचार्य भिक्षु दोनों ने पुण्य को संसार वृद्धि का कारण माना है। अत: पुण्य हेय है।[35] सामान्यत: पुण्य को उपादेय माना जाता हैं। जिनभद्र गणी कहते है– परमार्थ दृष्टि में पुण्य-फल अशुभ कर्म का जनक होने के कारण दु:ख ही है। आचार्य भिक्षु और जिनभद्र गणी दोनों के विचारों का निष्कर्ष एक ही है। महर्षि पतञ्जली ने पातञ्जल योगदर्शन में पुण्य - पाप के समकक्ष ही क्लेश मूल की व्याख्या की है–[36क]

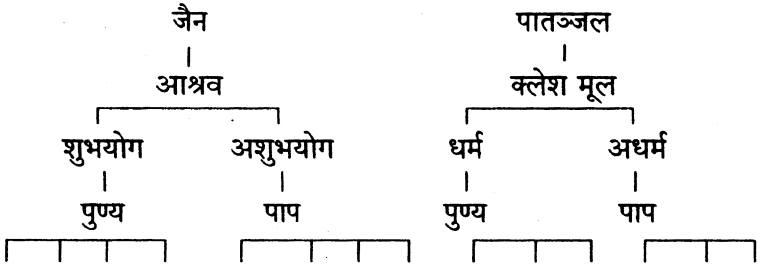

ये भेद वस्तुत: पाप बंध के हेतु हैं। अत: उपचार से प्राणातिपात आदि क्रियाओं को पाप कहा है। पाप के जनक है– राग-द्वेष है। मोह– जिसके राग-द्वेषादि होते हैं, उसके अशुभ परिणाम पाप के हेतु है। परमात्म प्रकाश में कहा है– यह जीव पापोदय से नरकगति और तिर्यञ्च गति को पाता है। पुण्योदय से देव होता है। पुण्य– पाप के मेल से मनुष्य बनता है। पुण्य - पाप दोनों के क्षय से मोक्ष प्राप्त करता है।[38(क)] गीता के अनुसार बुद्धिमान वह है जो सुकृत (पुण्य) दुष्कृत (पाप) दोनों का परित्याग करे। इन संदर्भों से सिद्ध हो जाता है कि अध्यात्म साधक के लिये पुण्य पाप दोनों त्याज्य है।

यद्यपि पुण्य बंधन सत्क्रिया से होता है फिर भी इसे अध्यात्म में काम्य नहीं माना गया है। निर्जरा का आनुषंगिक फल पुण्य है। तप: साधना आदि आत्म शुद्धि के लक्ष्य से की जाती है, न कि पुण्य की कामना से। आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को पाने में पुण्य साधकतम साधन नहीं है। आचार्य भिक्षु के अनुसार पुण्य की कामना करने का अर्थ है– भोगों की इच्छा करना और भोगेच्छा संसार का हेतु है।[38(ख)] निर्जरा से पुण्य नहीं होता, वह निर्जरा का सहचर है। निर्जरा होती है वहां पुण्य बंध होता है– यह भी अनिवार्यता नहीं हैं। 14वें गुणस्थान में निर्जरा के समय पुण्य बंध का अभाव है। पुण्य के साथ निर्जरा की व्याप्ति है। निर्जरा के साथ पुण्य की व्याप्ति नहीं हैं।

जहां भी प्रवृत्ति, क्रिया, स्पंदन या एजन है, वहां बंध अवश्य है। जैन आगम इस विषय में स्पष्ट है। इनमें पुण्य सम्बन्धी जितने भी उल्लेख हैं, वे या तो पुण्य को निर्जरा का सहभावी सिद्ध करते हैं या उसे सत्प्रवृत्ति जन्य मानते हैं। एक भी स्थल ऐसा नहीं प्राप्त होता है जहां निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति के अभाव में पुण्य निष्पन्न हुआ हो। [39]

कतिपय धार्मिक परम्पराएं पुण्य के लिये सत्क्रिया का समर्थन करती हैं। आचार्य भिक्षु ने आगमिक आधार पर इस मान्यता को स्वीकृति नहीं दी। उन्होंनें कहा– पुण्य के लिये धर्म करना अनुचित है। पुण्य पौद्गलिक है, जो उनकी इच्छा करते हैं, वे मूढ़ हैं। वे धर्म-कर्म की भिन्नता को नहीं जानते।

श्रीमज्जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु के विचारों का समर्थन करते हुए लिखा- पुण्य की इच्छा मत करो। वह खुजली रोग जैसा है जो प्रारंभ में प्रिय लगता है किन्तु उसका परिणाम हितकर नहीं होता है। चक्रवर्ती पद की प्राप्ति आदि पुण्य के फल हैं जो निश्चय दृष्टि से दु:ख रूप ही हैं।[40] योगेन्दु लिखते हैं– वे पुण्य किस काम के जो राज्य देकर जीव को दु:ख - परम्परा की ओर ढ़केल दे।

अत: आत्म-दर्शन की खोज में लीन व्यक्ति के लिये आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य की इच्छा करना वाञ्छनीय नहीं है।[41] वे आगे कहते हैं– हमारे पुण्य का बंध न हो क्योंकि पुण्य से धन मिलता है। धन से मद होता है, मद से मति- मोह और मति-मोह से पाप होता है।[42] यह क्रम उन्हीं पर लागू होता है जो पुण्य की कामना से धर्माचरण करते हैं। आत्म - शुद्धि की दृष्टि से धर्माराधना करनेवालों के भी पुण्य-बंध होता है किन्तु वह व्यक्ति को दिग्मूढ़ नहीं बनाता। वस्तुत: कर्म से कर्म का नाश नहीं होता। अकर्म से कर्म का नाश होता है।[43]

पुण्य - पाप का निर्णय दो आधार पर किया जाता है– कर्त्ता की मनोवृत्ति और कर्म का बाह्य स्वरूप। पं. सुखलालजी के अनुसार– पुण्य-पाप की कसौटी केवल ऊपरी क्रिया ही नहीं, कर्त्ता का आशय है।[44]

वस्तुत: जैन दृष्टि किसी भी विषय में एकांगी नहीं, अनेकान्तिक है। यह मनोवृत्ति को महत्त्व देती है, साथ-साथ लोक व्यवहार की उपेक्षा भी नहीं करती। द्रव्य और भाव दोनों का समान मूल्य है। वृत्ति शुभ हो, क्रिया अशुभ हो, यह संभव नहीं। कोई भी बंधन मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, अपितु उसके पीछे रहे हुए कषाय एंवं राग-द्वेष की वृत्ति के कारण होता है। क्रिया से कर्म का बंधन अवश्य होता है। बंधन की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया जाता है– ईर्यापथिक, साम्परायिक। ईर्यापथिक बंधन क्षणिक होता है जब कि साम्परायिक दीर्घकालिक होता है।

पुण्य स्वतंत्र या परतंत्र

जैन दृष्टि में धर्म और पुण्य पृथक् - पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये दोनों एक नहीं हो सकते। धर्म आत्मा की राग -द्वेष रहित शुभ परिणति है।[45] पुण्य शुभ कर्म पुद्गल हैं।[46] पुण्य अजीव की पर्याय है। [47] धर्म जीव की पर्याय है।[48] धर्म सत्क्रिया है, पुण्य उसका फ़ल है।[49] सत्प्रवृत्ति के बिना पुण्य नहीं होता, धर्म आत्म-मुक्ति का साधन है।[50] पुण्य बंधन का हेतु है।[51] योग सूत्र में भी पुण्य को धर्म का सहचारी माना गया है। धर्म और अधर्म क्लेश मूलक हैं। *क्लेशाशय का परिपाक होने पर उसके तीन फल हैं– जाति, आयु, भोग।* ये दो प्रकार के होते हैं– सुखद, दु:खद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद हैं। जिनका हेतु पाप है, वे दु:खद हैं।[52] इससे निष्कर्ष निकलता है कि महर्षि पतञ्जलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतंत्र उत्पत्ति नहीं मानी है।

पुण्य के प्रकार

जीव का शुभ-परिणाम भावपुण्य है। भाव पुण्य के निमित्त से पुद्गलों की कर्म वर्गणा विशेष के शुभ पुद्गल आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। ये द्रव्य पुण्य है।[53] स्थानांग में नौ प्रकार के पुण्य का विवेचन है। इसका फलित यह है,जिस निमित्त से पुण्य का बंधन होता है, वह पुण्य उस नाम से अभिहित किया गया। जैसे संयमी को शुद्ध अन्न देने से होने वाला शुभकर्म बंध अन्न पुण्य कहलाता है। वैसे ही पान पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ज्ञातव्य हैं।

स्थानांग के टीकाकार श्री अभयदेव ने अपनी टीका में नवविध पुण्य को बताने के लिये गाथा उद्धृत की है–

अन्नं पानं च वस्त्रं च आलय: शयनासनम्।
शुश्रूषा वंदनं तुष्टि : पुण्यं नवविधं स्मृतम्।।[53ख]

इसमें छह तो वे ही हैं जो मूल स्थानांग में उल्लिखित हैं किन्तु मन, वचन और काया के स्थान पर यहां आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य है। नवविध पुण्य की यह परम्परा आगमिक नहीं है।

दिगम्बर ग्रंथों में प्रतिग्रहण, उच्च स्थान, पाद प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, और एषणा शुद्धि इन नौ को पुण्य कहा है।[54(क)] इसका अर्थ यह नहीं कि पुण्य बंधन के हेतु इतने ही हैं। हेतु अनेक हैं, यहां कुछ का उल्लेख किया गया है। पुण्य के अनेक अवान्तर भेद भी हैं। प्रत्येक भेद की अपनी विशिष्ट प्रकृति है, वे स्वभावानुसार फल देते है। कर्मों का यह फल देना ही उनका भोग है। पुण्य कर्म अपने अवान्तर भेदों की विवक्षा से 42 प्रकार का है।[54(ख)]

बौद्ध आचार– दर्शन में भी पुण्य के दानात्मक स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में संयुक्त - निकाय में कहा गया है- अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन, एवं चादर के दानी पण्डित पुरूष में पुण्य की धाराएं आ गिरती हैं।[54(ग)]

पुण्य का हेतु

एकत्व की विवक्षा से प्रतिपादन करें तो कह सकते है, पुण्य बंधन का एक मात्र निमित्त है– सत्प्रवृत्ति, सदनुष्ठा क्रिया। कुछ परम्पराएं पुण्य का बंधन स्वतंत्र मानती हैं उनके अभिमत से मिथ्यात्वी के धर्म नहीं, पर पुण्य का बंधन होता है। तत्त्व चिन्तन की कसौटी पर यह मान्यता खरी नहीं उतरती। यद्यपि मिथ्यात्वी के संवर धर्म नहीं होता पर निर्जरा धर्म अवश्य होता है। वही उसकी आन्तरिक शुद्धि का निमित्त है अन्यथा मिथ्यात्वी के लिये सम्यक्त्वी बनना संभव ही नहीं होगा।

ईर्यापथिक क्रिया एकान्तत: पुण्य की क्रिया है। साम्परायिकी क्रिया का सम्बन्ध पुण्य-पाप दोनों से है। दसवें गुणस्थान तक साम्परायिकी क्रिया से पुण्य - पाप दोनों का बंधन होता है। आगे के गुणस्थानों में केवल पुण्य - बंध होता है क्योंकि वहां ईर्यापथिक क्रिया है। चौदहवां गुणस्थान अबंध का है।

प्रश्न होता है, साम्परायिकी क्रिया पाप है– यह प्रत्यक्ष है। आगम में अनेक स्थलों पर इसके साक्ष्य उपलब्ध हैं किन्तु वह पुण्य रूप भी है, इसका आधार क्या है ?

प्रज्ञापना के तेइसवें पद के अनुसार ईर्यापथिकी और साम्परायिकी– इन दोनों क्रियाओं का सातवेदनीय में समाहार होता है। उक्त न्याय से साम्परायिकी क्रिया पुण्य रूप भी है। दूसरा इस प्रश्न के उत्तर में जयाचार्य का कहना है कि भगवती शतक में साम्परायिकी क्रिया को पाप कहा है।[55] पहले से दसवें गुणस्थान तक अशुभयोग आश्रव है। यह साम्परायिकी क्रिया से होने वाला पाप का बंध है। शुभयोग से जो पुण्य - बंध होता है, उसे पुण्य-सम्पराय कहा जाता है। इस प्रकार साम्परायिकी क्रिया पुण्य और पाप दोनों हैं।

क्रिया और पाप

साधना के क्षेत्र में पुण्य बाधक तत्त्व है वैसे ही पाप भी। ये दोनों आत्मा के विजातीय तत्त्व हैं और इसलिए आत्मा की परतंत्रता के कारण हैं।

पाप की परिभाषा

जो आत्मा का पतन करे, जहां आत्मानंद का शोषण हो, आत्म-शक्तियों का ह्रास हो, वह पाप है। [56] सर्वार्थसिद्धि में कहा है– जो आत्मा को शुभ भावों से वंचित रखता है, अशुभफल देता है, वह पाप है। [57] अशुभ कर्मों के उदय को पाप कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, ये चार कर्म एकान्ततः अशुभ है। शेष चार कर्म शुभ - अशुभ दोनों हैं। अशुभ कर्मों की उदयावस्था पाप है। उपचार से पाप कर्म-बंधन के हेतु को भी पाप कहते हैं। वस्तुतः ये पाप स्थान है। पाप मुख्यतः अठारह हैं–

1.	प्राणातिपात	7.	मान	13.	अभ्याख्यान
2.	मृषावाद	8.	माया	14.	पैशुन्य
3.	अदत्तादान	9.	लोभ	15.	पर - परिवाद
4.	मैथुन	10.	राग	16.	रति - अरति
5.	परिग्रह	11.	द्वेष	17.	माया - मृषा
6.	क्रोध	12.	कलह	18.	मिथ्यादर्शन शल्य

जिसके उदय से आत्मा अशुभ क्रिया अथवा अशुभ प्रवृत्ति के लिए प्रेरित होती है, वह मोहनीय कर्म भी पाप कहलाता है। उदाहरण के लिए– जिस मोहोदय से

प्राणी हिंसा के लिये प्रेरित होता है, वह प्राणातिपात है। जिससे असत्य में प्रवृत्त होती है, वह मृषावाद पाप है।

पुण्य और धर्म भिन्न हैं, वैसे ही अधर्म और पाप भी भिन्न है। अधर्म असत् प्रवृत्तिरूप हैं, पाप उसके द्वारा आकृष्ट अशुभ कर्म पुद्गल हैं। अधर्म चेतना की वैभाविक अशुभ परिणति है और पाप कर्म-पुद्गलों की अशुभ परिणति है।

पुण्य-पाप का बंध एक साथ नहीं होता। सातवें गुणस्थान से अशुभयोग जनित पाप के बंधन का निरोध हो जाता है। दसवें गुणस्थान तक केवल नैरंतरिक पाप का बंध होता है। ग्यारहवें से लेकर आगे वह सूक्ष्म अध्यवसाय जनित नैरंतरिक पाप भी नहीं होता। बौद्ध दर्शन में कायिक, वाचिक, और मानसिक आधार पर दस प्रकार के पापों (अकुशल कर्म) का वर्णन है।[58]

कायिक– प्राणातिपात, अदत्तादान, कामेसु मिच्छाचार (काम भोग सम्बन्धी दुराचार)।

वाचिक– मृषावाद, पिसुनवाचा, फरुस वाचा (कठोर वचन) सम्प्रलाप (व्यर्थ-प्रलाप)।

मानसिक– अभिज्जा (लोभ), व्यापाद (मानसिक हिंसा), मिच्छादिट्ठी।

क्रिया और भाव

जीवन की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। चैतन्य धारा का मूल केन्द्र है– आत्मा। उसकी परिधि में अनेक तत्त्व सक्रिय हैं। उनमें एक है– भावतंत्र। भाव का सघन रूप है– क्रिया। विचारों के जनक भाव हैं। विचार क्रिया की प्रसव भूमि है। क्रिया स्थूल है। विचार उससे सूक्ष्म और भाव उससे भी सूक्ष्म है। क्रिया और विचार दोनों स्नायविक प्रेरणाएं है। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं, वह स्थूल शरीर से परे चेतना की प्रवृत्ति है। भाव के निर्माण की एक लम्बी प्रक्रिया है।

भाव का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ

'भू' धातु से भाव शब्द की निष्पत्ति दो रूपों में होती है।

1. भू + अच् भाव:, भवति इति भाव: जो होता है, वह भाव है।

2. भू + णिच् + अच् भाव:, भावयति इति भाव– जो भावना कराता है, वह भाव है।

परिणाम विशेष को भाव कहते हैं। इसका सम्बन्ध मनोयोग से है। अध्यवसाय, लेश्या एवं योग के समुच्चय को भी भाव कहा जाता है। अमनस्क जीवों के अध्यवसाय होता है किन्तु मनोयोग न होने से जो क्रिया होती है, वह भाव शून्य कहलाती है।

संसार में जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं।[59] अवशिष्ट सारे तत्त्व इन दो का ही विस्तार है। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। जीव का अस्तित्व निरपेक्ष है, उपाधिमुक्त है। उसकी विविधता में कर्म का उदय या विलय निमित्त बनता है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान-दर्शनात्मक है। सहज स्वरूप कर्म के कारण आवृत्त, विकृत और अवरुद्ध रहता है। कर्मोदय आत्मा के विकास को रोकता है। कर्म का विलय विकास का द्वार उद्घाटित करता है। उदय और विलय भाव में निरन्तर संघर्ष चलता है। व्यक्ति के बाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व के संचालक भाव के मुख्य प्रकार दो हैं– औदयिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव। विस्तार में भाव के पांच प्रकार हैं– 1.औदयिक 2. औपशमिक 3. क्षायिक 4. क्षयोपशमिक और 5. पारिणामिक। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में भावों की विशद व्याख्या की है।

औदयिक भाव

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुकूल कर्म का फल देना उदय कहलाता है। गति, जाति, लेश्या, परिणाम आदि औदयिक भाव हैं। मोह जनित औदयिकभाव बंध के कारण है। मोह की जब तक सत्ता रहती है, कर्म बंध होता रहता है। कृत कर्मों के अनुसार प्राणी नरक आदि गतियों में परिभ्रमण करता है। मोह की प्रबलता के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण असम्यक् रहता है, बुद्धि का संतुलन समाप्त हो जाता है, कषायों की प्रबलता रहती है। उसके आधार पर औदयिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

क्षायोपशमिक भाव

क्षयोपशम शब्द क्षय और उपशम से मिलकर बना है। औपशमिक भाव के अन्तर्गत उपशम और क्षयोपशम के अन्तर्गत उपशम की स्थिति में अन्तर है। उपशम में जहां विपाकोदय और प्रदेशोदय का अभाव होता है, वहां क्षयोपशम में उदय प्राप्त का क्षय तथा प्रदेशोदय का मंद विपाकोदय चलता रहता है। धवला में क्षयोपशम की व्याख्या इस प्रकार है– सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुण हीन होकर देशघाती स्पर्धक में रूपान्तरित हो उदय में आता है।

सर्वघाती स्पर्धक का अनन्तगुण हीन होना ही क्षय है तथा उनका देशघाती स्पर्धक के रूप में अवस्थिति उपशम है।

इस प्रकार क्षय एवं उपशम के योग से निष्पन्न जीवदशा क्षयोपशम भाव कहलाता है।[60] इस भूमिका पर प्राणी विकास की ओर अग्रसर होता है। इस भाव के प्रकटीकरण में अध्यवसायों की प्रशस्तता और लेश्या की विशुद्धि प्रमुख कारण होते हैं। हर व्यक्ति के पास योग्यता एवं क्रियात्मक शक्तियां है। योग्यता आत्मा का गुण है। क्रियात्मक शक्ति शरीर के योग से निष्पन्न होती है। कर्म शास्त्र की भाषा में इन्हें क्रमशः लब्धिवीर्य एवं करणवीर्य कहा जाता है।

लब्धिवीर्य न हो तो योग्यता का विकास नहीं होता और करणवीर्य के अभाव में कार्य-संपादन नहीं हो सकता। अन्तराय कर्म समाप्त होता है तब व्यक्ति में क्रियात्मक शक्ति प्रकट होती है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म ज्ञान-दर्शनात्मक शक्ति के अवरोधक हैं। मोह कर्म द्वारा आत्मिक आनंद और पवित्रता प्रभावित होती है। इन चारों कर्मों के कमजोर पड़ने पर ही व्यक्तित्व का विकास होता है । इसे क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कह सकते हैं। इन कर्मों के पूर्ण रूप से हटने पर समग्र व्यक्तित्व का विकास होता है । इसे क्षायिक व्यक्तित्व कह सकते हैं।

औपशमिक भाव

कुछ समय के लिये कर्म के उदय -प्रवाह का रुक जाना उपशम है। कर्म के विपाकोदय एवं प्रदेशोदय का सर्वथा अभाव उपशम अवस्था है। उपशम में मोहनीय कर्म का न सर्वथा क्षय होता है, न उदय। अपितु उपशम होता है। इसमें कर्म की सत्ता विद्यमान रहती है। इसके परिणामस्वरूप औपशमिक भाव निष्पन्न होता है।

क्षायिकभाव

आत्मा से कर्मों का सर्वथा अलग हो जाना क्षय है। इसमें अनन्त चतुष्टयादि आत्म-गुणों का प्रकटीकरण हो जाता है। क्षय की अवस्था विशेष रूप से बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है।

पारिणामिकभाव

उपर्युक्त अवस्थाओं के अलावा स्वाभाविक परिणमन से गुजरने की प्रक्रिया पारिणामिक भाव कहलाते हैं। यह जीव,अजीव सभी में समान रूप से पाया जाता हैं। पारिणामिक भाव कर्मों के उदय और विलय तक ही सीमित नहीं है अपितु यह स्वाभाविक परिणमन भी हैं। उदाहरणार्थ किसी जीव में मोक्ष प्राप्ति की अर्हता है, वह भव्य है, अर्हता

नहीं, वह अभव्य है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व इनका कर्मों के उदय - विलय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं। कर्मों का संचय किया जाता है, तोड़ा भी जाता है। जीवत्व आदि को न प्राप्त किया जा सकता है, न नष्ट किया जाता है। यह स्वाभाविक स्थिति है। औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक ये भी उसकी पर्यायें हैं। परिणमन एक शक्ति है, जो कर्म, उपाधि और स्वभाव के कारण इन भावों में अभिव्यक्त होती है।

यह अस्तित्व का घटक तत्त्व है। कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से निरपेक्ष आत्म - द्रव्य की परिणति को पारिणामिक भाव कहते है। चेतनत्व आदि भाव इसी प्रकार के हैं। पारिणामिक भाव द्रव्यमात्र में पाया जाता है। व्यापक अर्थ में किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक परिणमन ही पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव के मुख्यत: दो प्रकार हैं– जीव पारिणामिक और अजीव पारिणामिक।

प्रस्तुत प्रसंग जीव पारिणामिक भाव से संबंधित है। इस दृष्टि से जीव पारिणामिक भाव के तीन प्रकार हैं– जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। यद्यपि इन तीन के अलावा, अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व, असर्वगतत्व आदि भी पारिणामिक भाव के ही भेद हैं। जीव पारिणामिक भाव के प्रकारों के अन्तर्गत उनका उल्लेख नहीं करने का कारण यह है कि अस्तित्व आदि साधारण पारिणामिक भाव है। वे अजीव में भी पाये जाते हैं, केवल जीव से ही इनका संबंध नहीं है। जीव का स्वरूप असाधारण भावों से ही बतलाया जा सकता है, इसलिये यहां उन सबका निर्देश नहीं किया गया है।

संसारी या मुक्त, कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय इन पांच भावों में से किसी न किसी भाव में अवश्य होगें।

साधना के क्षेत्र में क्षयोपशम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान जीवन संचालन एवं निर्माण में क्षयोपशम का पूरा योगदान है। क्षयोपशम भाव व्यक्तित्व का निर्धारक तत्व है। व्यक्ति स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा क्षयोपशम को वृद्धिगत कर सकता है।

उपशम अल्पकालिक है। क्षयोपशम दीर्घकालीन एवं सतत आत्मा को विकास की दशा में गतिशील बनाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। संसार के सभी छोटे-बड़े प्राणियों में क्षयोपशम और उदय भाव निश्चित रूप से विद्यमान रहते हैं। निगोद जैसे अविकसित जीवों में भी ये पाये जाते हैं। नंदीसूत्र के अनुसार अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान जीव में नित्य विकसित रहता है। अन्यथा जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता।[61]

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिये भावों का अध्ययन अत्यावश्यक है। क्षयोपशम केवल चार घाती कर्मों का होता है, अघाती का नहीं। घाती कर्म आत्मा के मौलिक गुणों की घात करते हैं किन्तु सर्वथा नहीं इसलिये उनका क्षयोपशम हो सकता है। अघाती कर्मों का उदय तथा क्षय ही होता है, उपशम नहीं।

पातञ्जल आदि जैनेतर दर्शनों में भी भावों के समकक्ष क्लेशों का उल्लेख है। पातंजल योग में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश– इन पांच क्लेशों को मोह का परिणाम माना है। क्लेश– प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार इन चार रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।[62] प्रसुप्तावस्था की तुलना हम अबाधाकाल से कर सकते हैं। तनु की उपशम अथवा क्षयोपशम से और उदार की उदय के साथ तुलना की जा सकती है।[63]

साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा द्वारा अपने पुरुषार्थ से क्लेशों का क्षय करता है। अंत में असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है। समाधि प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न की क्षयोपशम तथा समाधि प्राप्त अवस्था की तुलना क्षायिक भाव से की जा सकती हैं।

कर्म शास्त्र में आवेग नियंत्रण की तीन पद्धतियां है– उपशम, क्षयोपशम और क्षय। मनोविज्ञान में उपशम को दमन कहा है। क्षयोपशम को मनोविज्ञान में मार्गान्तरीकरण या उदात्तीकरण कहा है। तीसरी क्षय या क्षयीकरण विलयन की प्रक्रिया है। इसमें आवेग सर्वथा समाप्त हो जाते हैं, निर्मूल हो जाते हैं।

भावों के प्रभेद

मोहकर्म का उदय आत्म-पतन का और उसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम आत्मोन्नति का हेतु है। कहा भी है–

'उजला न मेला कह्या जोग, मोह कर्म संजोग - विजोग।' [64]

मोह के साहचर्य से जीव की प्रवृत्ति अशुभ और अभाव से शुभ बनती है। भावों की प्रशस्तता अप्रशस्तता के आधार पर चार भंग होते हैं–

1. कर्दम उदक समान	मलिनतर
2. खञ्जन उदक समान	मलिन
3. बालुका उदक समान	निर्मल
4. शैल उदक समान	निर्मलतर

शुद्धता - अशुद्धता में गतिबंध की चर्चा महत्त्वपूर्ण है। पहले विकल्प का फल है नरकगति। क्रमश: दूसरे तीसरे का फल है– तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, चौथे विकल्प का अधिकारी स्वर्गगामी होता है। जीवन के हर पक्ष के साथ भाव का सम्बन्ध है। मानसिक भावों के आरोह– अवरोह में जिम्मेदार भावधारा है। इस संदर्भ में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की घटना उल्लेखनीय है।[65] राजर्षि ध्यानस्थ खड़े थे। नगर पर शत्रु सेना के आक्रमण की सूचना मिली। राजर्षि स्वयं को भूल गये। पुत्र और राज्य पर मूर्च्छा प्रगाढ़ बन गई। भाव के स्तर पर युद्ध करने लग गये। श्रेणिक की सवारी उधर से निकली। मुनि की एकाग्रता से प्रभावित हो उन्होंने महावीर से पूछा– इस समय राजर्षि आयुष्य पूर्ण करे तो कहां जायेगें। भगवान ने कहा– सातवीं नरक। श्रेणिक सुनकर स्तब्ध रह गया। कुछ समय के बाद महावीर ने कहा– राजर्षि अभी आयुष्य पूर्ण करे तो सर्वोच्च देवलोक में जायेगें। उनकी भावधारा बदल गई है। निषेधात्मक चिन्तन विधेयात्मक में रूपान्तरित हो गया है। प्रशस्त लेश्याओं में आरोहण करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। विशुद्धता का सम्बन्ध भाव विशुद्धि से है। भावों की शुद्धि ही अर्थपूर्ण है। जीवन की सारी प्रवृत्तियों, क्रियाओं का प्रेरक तत्त्व भाव ही है।

1. औदयिक भाव	(21)	4 गति, - नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव 4 कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ, 3 लिंग - स्त्री, पुरूष, नपुंसक मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व 6 लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल,
2. औपशमिक भाव	(2)	उपशम सम्यक्त्व, उपशम चारित्र
3. क्षायिक भाव	(9)	ज्ञान,दर्शन,दान, लाभ, भोग-उपभोग वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र।
4. क्षायोपशमिक भाव	(18)	4 ज्ञान, 3 अज्ञान, 3 दर्शन,5 लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र, संयमासंयम।
5. पारिणामिक भाव	(3)	जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व

कर्म - बंध प्रक्रिया और भाव

उपशम आदि चार भाव कर्म - बंध में निमित्त नहीं बनते। बंध का हेतु केवल औदयिक भाव है। यद्यपि बंधन में आठों कर्मों का योग रहता है किन्तु मोहकर्म की अहं भूमिका रहती है।

उपशम केवल मोहनीय का होता है, शेष कर्मों का नहीं। क्षय सभी कर्मों का होता है। क्षयोपशम घाति कर्मों का ही होता है। पारिणामिक भाव प्राणी मात्र में समान रूप से विद्यमान रहता है।

स्वामित्व और भाव

क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन तीन भावों के अधिकारी भव्य - अभव्य दोनों हैं। औपशमिक तथा क्षायिक केवल भव्य में पाये जाते हैं। केवल ज्ञान होने पर क्षायोपशमिक भाव ही क्षायिक भाव में विकसित हो जाता है। घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर उपशम या क्षयोपशम का अस्तित्व नहीं रहता। मुक्त दशा में औदयिक भाव की सत्ता समाप्त हो जाती है। वहां क्षायिक एवं पारिणामिक दो ही भाव रहते हैं।

काल - दृष्टि और भाव

काल की दृष्टि से भावों के चार विकल्प बनते हैं–

1. अनादि-निधन भाव– अभव्य का असिद्धत्व, धर्माधर्मादि की गति, स्थिति, अवगाहना, परिणमन हेतुत्व।
2. अनादि-सान्त भाव– भव्य जीव का असिद्धत्व, भव्यत्व, मिथ्यात्व, असंयम आदि।
3. सादि-अनन्त भाव– केवलज्ञान, केवल दर्शन आदि।
4. सादि-सान्त भाव– सम्यक्त्व से पतित हो पुन: मिथ्यात्व में चला जाना।

इन पांच भावों के अतिरिक्त आगम साहित्य में एक भाव और उपलब्ध है। वस्तुत: सान्निपातिक भाव स्वतंत्र होकर अनेक भावों के संयोग से निष्पन्न जीव दशा है।

इसके 26 विकल्प होते हैं–

दो के संयोग से	-	10 विकल्प
तीन के संयोग से	-	10 विकल्प
चार के संयोग से	-	5 विकल्प
पांच के संयोग से	-	1 विकल्प

भाव और संवेग

मनोविज्ञान में भाव और संवेग शब्द बहु चर्चित हैं। संवेग क्या हैं ? भाव क्या है ?

दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? प्रस्तुत प्रसंग में इन्हें समझना उपयोगी होगा। भाव सरल और प्राथमिक मानसिक प्रतिक्रिया हैं। जब कि संवेग जटिल प्रतिक्रिया है।

प्लेटों ने संवेग को सुख तथा दु:ख के रूप में माना था। अरस्तु ने संवेग को सुख प्राप्त करने तथा दु:ख दूर करने का साधन समझा। इस प्रकार अधिकांश प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने संवेग को हृदय से सम्बन्धित घटना मानने पर बल दिया। अत: 18 वीं शताब्दि तक के दार्शनिक संवेग को हृदय से संबंधित विषय मानते थे। आगे चलकर स्वचालित तंत्रिका तंत्र तथा अन्त: स्रावी ग्रंथियों को भी संवेग का आधार माना जाने लगा है। भाव का जगत् अव्यक्त हैं, सूक्ष्म हैं। संवेग प्रत्यक्ष है। लेश्या के स्पंदनों का जब चित्त के साथ संयोग होता है तब भाव तंत्र का निर्माण होता है। वस्तुत: भाव और संवेग का इतना संश्लेषण है कि इन्हें विभक्त करना आसान नहीं है।

संवेग मनुष्य को सुख - दु:ख की स्थिति में ले जाते हैं। भाव पीछे रह जाते हैं। भाव आत्मगत होते हैं। संवेदना के बिना भाव की अनुभूति नहीं होती। जैसे– हमने कोई संवाद सुना। यह सुनना संवेदना है। परन्तु संवाद सुनने के बाद जो सुख - दु:ख का अनुभव होता है, वह भाव है। यह मानसिक अवस्था है ।

हमारे मन के तीन पहलु हैं– ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) क्रियात्मक (Conative)। किसी भी मानसिक प्रक्रिया में तीनों में से कोई न कोई पक्ष जुड़ा हुआ होता है। भाव तीव्र बनता है तब संवेग की स्थिति समक्ष आती है। क्रोध, लोभ, भय, वासना, घृणा, माया आदि सवेग हैं। इनके मूल आशय हैं– राग-द्वेष। द्वेषाशय की उत्तेजना से क्रोध उभरता है। रागाशय की उत्तेजना से माया, लोभ, वासना, आदि उभरते हैं। राग -द्वेष अप्रत्यक्ष हैं।

संवेग हमारे व्यवहार के शक्तिशाली प्रेरक होते हैं। क्रोधादि संवेदनाएं औदयिक भाव हैं। प्रसन्नता, आनन्द, सुखैषणा क्षयोपशम भाव हैं। संवेग की स्थिति में स्वत: संचालित नाड़ितंत्र, वृहद्मस्तिष्क और हाईपोथेलेमस विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। संवेग की समाप्ति के बाद उनका प्रभाव कुछ समय के लिये चेतना पर बना रहता है। उस स्थिति में व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जो अनुभव करता है, उसे मनोविज्ञान की भाषा में मनोदशा कहा जाता है। मनोदशा का कालमान अधिक है तो भावों की तीव्रता कम हो जाती है। संवेग का कालमान कम होता है तब भावों की तीव्रता बढ़ जाती है। इन दोनों में परस्पर अन्तःक्रिया का संबंध है।

भाव, संवेग और स्वास्थ्य

स्वास्थ्य के साथ भाव और संवेग का क्या सम्बन्ध हैं ? यह चर्चनीय विषय है। भाव जब संवेग बनते हैं तब स्वास्थ्य प्रभावित होता है। संवेग और स्वास्थ्य का माध्यम है– शरीर। शरीर का मुख्य अंग है - मस्तिष्क। उसके दो विभाग हैं– (1) लिम्बिक सिस्टम और (2) हाईपोथेलेमस (Hypothalemus)। हाईपोथेलेमस संवेगों का उद्गम स्थल है। यहीं से संवेगों का संचालन एवं नियंत्रण होता है। जब -जब संवेग प्रबल होते हैं, शरीर की बाह्य एवं आन्तरिक व्यवस्था अस्त - व्यस्त हो जाती है। बाह्य परिवर्तनों में तीन मुख्य है– 1. मुखाकृति अभिव्यंजन (Facial Expression) 2. स्वराभिव्यंजन (Vocal Expression) 3. शारीरिक स्थिति (Bodily Posture)

आन्तरिक परिवर्तन निम्नानुसार हैं–

1. श्वास की गति में परिवर्तन (Changes in respiraton)
2. हृदय की गति में परिवर्तन (Changes in Heart beat)
3. रक्तचाप में परिवर्तन (Changes in blood pressure)
4. पाचन क्रिया में परिवर्तन (Changes in gestro intestinal or digestive function)
5. रक्त में रासायनिक परिवर्तन (Chemical changes in blood)
6. त्वक् प्रतिक्रियाओं तथा मानस-तरंगों में परिवर्तन (Changes in sychoga responses and brain waves)
7. ग्रंथियों की क्रियाओं में परिवर्तन[65ख] (Changes in the activities of the glands)

90 प्रतिशत बीमारियां भावात्मक होती हैं। स्थूल शरीर में प्रकट होने से पहले बीमारी भाव जगत् में उतरती है। वैज्ञानिक शोध से यह प्रमाणित भी हो चुका है। विज्ञान के अनुसार व्यक्ति का आभामंडल बीमारी की पूर्व सूचना दे देता है क्योंकि स्वास्थ्य का सम्बन्ध भावों से जुड़ा है और आभामंडल भावों का प्रतिनिधित्व करता है।

हम केवल बाहर रोग का कारण खोजते हैं, कीटाणु (germss) पर अधिक ध्यान देते हैं। भाव को गौण कर देते हैं, वस्तुत: व्यक्ति की प्रतिरोधात्मक शक्ति (Resistance Power or Immunity System) बाह्य तत्त्वों से अधिक भाव विशुद्धि,

लेश्या और अध्यवसायों की निर्मलता पर निर्भर है। भावों की विकृति रोग का हेतु है। उदग्र उत्कंठा, अत्यधिक लालसा थाइराइड को प्रभावित करती है। परिणाम स्वरूप थाइरोक्सिन की क्रिया बदल जाती है, चयापचय की क्रिया में अन्तर आ जाता है। उदासी, अवसाद, चिड़चिड़ापन, मानसिक तनाव आदि बीमारियों का मूल भावों का असंतुलन है। इसलिये शरीर और मन से परे भाव जगत को समझना भी जरूरी है। प्राचीन चिकित्सा पद्धति में आयुर्वेद का अभिमत इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। तदनुसार त्रिदोष से केवल शरीर और मन ही बीमार नहीं होता, भाव जगत् भी प्रभावित होता है। वायु का प्रकोप बढ़ने से भय अधिक सताता है। पित्त प्रकोप से क्रोध तथा कफ से तन्द्रा, आलस्य आदि बढ़ते हैं। मनोविज्ञान में किस भाव से कौनसी बिमारियां होती हैं– इसका विचार किया गया हैं।

उदाहरणार्थ

चिन्ता से	–	रक्त का गाढ़ा बनना, क्षय, कैंसर, हृदय रोग हार्टफैल, तथा मस्तिक विकृत और रक्त दूषित आदि रोग।
घृणा से	–	अल्सर, चर्मरोग, पाचनतंत्र की अस्त-व्यस्तता, जीवन से विरक्ति, अरूचि तथा गुर्दे विकृत एवं रक्त विषैला बनता है।
भावुकता से	–	स्नायुओं की दुर्बलता।
लोभ से	–	अपच, दस्त।
ईर्ष्या से	–	एसीडीटी, अल्सर, तथा यकृत और तिल्ली प्रभावित।
अहंकार से	–	पीठ दर्द, साइटिका, संधिवात।
निराशा से	–	मन्दाग्नि।
संकीर्णता से	–	कोष्ठबद्धता आदि।
क्रोध से	–	तनाव, अपच, अम्लपित्त, रक्तचाप, शरीर का कंपन।
भय से	–	हृदय की धड़कन बढ़ना, घबराहट, मुंह सूखना, अनिद्रा, भूख्र का बंद होना इत्यादि।[66(ग)]

आज Psychosometic Deseases शब्द अधिक प्रचलित है जिसका अर्थ है– मनोकायिक बीमारी। ये वे बीमारियां हैं जो भावात्मक असंतुलन से उत्पन्न होती हैं। मेडीकल साइंस की दृष्टि से भावात्मक असंतुलन के कारण अन्त: स्रावी ग्रंथियों के स्राव बदल जाते हैं। जैसे भय की प्रबलता से एड्रीनल ग्लैण्ड सक्रिय हो जाती

है, उसे अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है। अतिरिक्त स्राव रक्त के साथ मिलकर नये रोगों को उत्पन्न करता है।

हमारा जीवन प्रवृत्ति बहुल है, जहां प्रवृत्ति होती है। वहां आवेग होता है। आवेगों के शोधन, परिवर्तन आदि की प्रक्रिया पर मानस-शास्त्र से विचार हुआ है। जैन कर्म-शास्त्र में भी आवेश-परिशोधन की विस्तृत प्रक्रिया उपलब्ध है।

आज के मनोविज्ञान मन की हर समस्या पर अध्ययन कर रहे है। कर्म शास्त्रियों ने इस पर पहले से ही चिन्तन कर लिया था।

कर्मशास्त्र के संदर्भ में मनोविज्ञान को पढ़ा जाये तो अनेक गुत्थियां सुलझ सकती है। क्रिया और कर्म का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

क्रिया और कर्म में सम्बन्ध

क्रिया और कर्म में कारण-कार्य (Casual Relationship) संबंध है। क्रिया की प्रतिक्रिया ही कर्म है। प्रत्येक कार्य के पीछे कारण अवश्यंभावी है। कारण ही कार्य का नियामक है। क्रिया कारण है, कर्म कार्य है। क्रिया के अभाव में कर्म संभव नहीं। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिक्रिया का दूसरा नाम कर्म है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में– कर्म क्रिया का उपजीवी है।[66(क)] क्रियाकोश की भूमिका में उपाध्याय मुनि ने भी यही लिखा है– क्रिया कर्म की जननी है। तर्कशास्त्र के आधार पर दोनों में अन्वय-व्यतिरेक संबंध है।

दार्शनिक ग्रंथों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कर्म शब्द अनेक अर्थों का संवाहक है। मुख्यत: उसके दो अर्थ हैं– (1) प्रवृत्ति या क्रिया (2) प्रवृत्तिजनित कर्म प्रायोग्य पुद्गलों का संश्लेषण। जैन दर्शन दूसरे अर्थ में कर्म की चर्चा पर बल देता है। आचार्य तुलसी ने कर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है– आत्मा की सत् एवं असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहा है।[66(ख)] अन्य दर्शनों में कर्म को प्रवृत्त्यात्मक माना गया हैं। वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रंथों तक में यज्ञ - याग, नित्य - नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म कहा है।[67] पौराणिक ग्रंथों में भी कर्म का तात्पर्य धार्मिक क्रिया है।[68] यत् क्रियते तत् कर्म[69] इस व्युत्पत्ति से किसी कार्य या व्यापार का नाम कर्म है।

वैयाकरणों ने कर्म कारक के अर्थ में 'कर्म शब्द का प्रयोग किया है।[70] न्यायदर्शन में कर्म से तात्पर्य चलनात्मक क्रिया है। वहां उत्क्षेपणा, अवक्षेपणा, आकुंचन, प्रसारण,

और गमन– इस प्रकार कर्म के पांच प्रकार बतलाएं हैं। गीता में भी कर्म को प्रवृतिरूप में स्वीकार किया है– वहां मनुष्य जो भी करता है या करने का आग्रह रखता है– वे सभी प्रवृत्तियां कर्म के अंतर्गत समाविष्ट की है।

बौद्ध दर्शन में चेतना को ही कर्म कहा है। चेतना के द्वारा व्यक्ति काया से, मन से, वाणी से कर्म करता है। इस प्रकार कर्म के समुत्थान या कारक को ही कर्म कहा गया है। आगे चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म की चर्चा भी मिलती है। चेतना कर्म से मतलब मानसिक कर्म, चेतयित्वा कर्म से वाचिक एवं कायिक कर्म है।[71]

जैनदर्शन में क्रिया का पर्यायवाची कर्म न होकर योग है। किन्तु विवक्षा भेद से प्रत्येक क्रिया कर्म है चाहे फिर वह मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक। जैन दर्शन में कर्म के हेतु, क्रिया और कर्म विपाक सभी को कर्म कहा है।

राजवार्तिक में 'कर्म शब्द कर्ता, कर्म और भाव तीनों रूपों में विवक्षानुसार परिग्रहीत है। कारणभूत परिणामों की विवक्षा में कर्तृधर्म का आरोप करने पर वही परिणाम स्वयं द्रव्य-भाव रूप कुशल कर्मों को करता है अत: वही कर्म है। आत्मा की प्रधानता में वही कर्ता होता है और वही कार्य कारण भी होता है। जिनके द्वारा किया जाएं वह कर्म हैं। साध्य-साधन भाव की विवक्षा न होने पर स्वरूप मात्र का कथन करने से क्रिया को भी कर्म कहते हैं। इस प्रकार अन्य कारकों की भी उपपत्ति की जा सकती है।[72] कर्म सिद्धांत जैन- दर्शन का प्राण-तत्त्व है। उसके बिना जागतिक विचित्रता और अध्यात्म की व्याख्या नहीं की जा सकती।

क्रिया और कर्म एकार्थक भी है और भिन्नार्थक भी। कर्म शब्द जब क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब क्रिया और कर्म एकार्थक हो जाते हैं। किन्तु कर्म-सिद्धांत के अन्तर्गत जब कर्म को सूक्ष्म भौतिक तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया जाता है तब वह क्रिया से भिन्न हो जाता है। भिन्न होते हुए भी क्रिया के अभाव में कर्मबंधन की संभावना नहीं होने से क्रिया कर्म की जनक सिद्ध होती है।

कर्म सिद्धांत में भी कर्म को भावकर्म और द्रव्यकर्म में विभक्त करके भावकर्म के अभाव में द्रव्य कर्म की संभावना को अस्वीकार करके उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि की गई है। इसके अलावा क्रिया की भिन्नता के कारण कर्म-प्रकृत्तियां भी भिन्न - भिन्न हो जाती हैं। इन सभी संदर्भों में क्रिया और कर्म के अन्योन्य संबंध को समझना अत्यावश्यक है।

क्रिया और कर्म की स्वीकृति का मूलाधार आत्मा और जड़ - जगत् के स्वतंत्र

अस्तित्त्व का स्वीकार है। न केवल अस्तित्व का स्वीकार अपितु वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, इस तथ्य की स्वीकृति भी है। यही कारण है कि भारतीय आस्तिक दर्शनों ने एक ऐसे तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किया है जैन-दर्शन उसी तत्त्व को कर्म की संज्ञा देता हैं। अन्य दर्शन उसे माया, अविद्या[73], प्रकृति[74], अपूर्व[75], अदृष्ट[76], वासना[77], कर्माशय[78], दैव, भाग्य, संस्कार आदि रूपों में स्वीकार करते हैं। इनमें नामभेद होने पर भी तात्पर्यार्थ में कोई अन्तर नजर नहीं आता हैं। वैदिक दर्शनों में कर्म - सिद्धांत की व्याख्या इतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी जैन एवं बौद्ध दर्शन में।

आत्मा और कर्म की पारस्परिक प्रभावकता

भारत में दो प्रकार की विचारधाराएं है– अद्वैतवादी और द्वैतवादी। अद्वैतवादी के समक्ष जड़ -चेतन के संबंध की कोई समस्या नहीं है। यह समस्या उन विचार धाराओं के लिए हैं जो द्वैतवादी हैं। पाश्चात्य जगत् में भी यह समस्या देकार्त के समय से प्रारंभ होती है क्योंकि उन्होंनें सर्वप्रथम जड़ और चेतन की स्वतंत्र सत्ता मानी थी। उसने इसका समाधान पारस्परिक प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया। देकार्त के विरोध में स्पिनोजा ने प्रश्न खड़ा किया कि जब जड़ और चेतन दोनों स्वतंत्र हैं तो उनमें परस्पर प्रतिक्रिया कैसे संभव हो सकती है ? उसने प्रतिक्रियावाद के स्थान पर समानांतरवाद का सिद्धांत दिया। लाइबनीत्ज ने पूर्व-स्थापित सामञ्जस्यवाद की अवधारणा प्रस्तुत की।

भारतीय चिंतन में प्राचीनकाल से ही आत्मा और जड़ की स्वतंत्र सत्ता मान्य रही है। इसी कारण प्रारंभ से ही यह प्रश्न उठता रहा है कि आत्मा अमूर्त है, कर्म मूर्त है। फिर इनका संबंध कैसे ? सांख्य दर्शन में पुरूष और प्रकृति को यद्यपि भिन्न माना है फिर भी दोनों के संबंध स्पष्ट नहीं है क्योंकि उनमें पुरुष को कूटस्थ नित्य माना गया है।

जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी हैं। मदिरा, क्लोरोफार्म आदि का चेतना पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तब मूर्त कर्म के चेतना पर प्रभाव में हमें संदेह क्यों ? दूसरा उन्होंनें आत्मा को एकान्तत: मूर्त और निष्क्रिय नहीं माना है। कर्म के संबंध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। स्वरूपत: अमूर्त होते हुए भी कर्मबद्ध होने से सशरीरी है। मूर्त को मूर्त प्रभावित कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव तर्क सिद्ध है।

निष्कर्ष यह है कि सर्वथा अमूर्त आत्मा पर कर्म-सिद्धांत लागू नहीं होता। शरीर भौतिक है, आत्मा अभौतिक। दोनों में पारस्परिक संबंध है। जब तक आत्मा शरीर से

मुक्त नहीं हो जाती तब तक बाह्य परिस्थितियों और वातावरण से अप्रभावित नहीं रह सकती।

संबंध का हेतु क्रिया

दूसरा अहं प्रश्न यह है कि आत्मा चेतन है, कर्म जड़। आत्मा अविनश्वर है, कर्म नश्वर। दोनों विरोधी स्वभाव वाले हैं। व्यवहार जगत में दो विरोधी साथ नहीं रह सकते। फिर इनका संयोग कैसे हुआ ? कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो सेतु का कार्य करता है? आचारांग में इस प्रश्न का उत्तर क्रियावाद की स्वीकृति के आधार पर दिया गया है। आत्मा में राग-द्वेष और मोह के स्पन्दन हैं। उन प्रकम्पनों के द्वारा कर्म पुद्गल आकृष्ट होकर आत्मा के साथ संबंध स्थापित करते हैं। कर्म पुद्गलों के प्रभाव से आत्मा में राग-द्वेषादि उत्पन्न या वृद्धिगत होते हैं। इस प्रकार क्रिया से कर्म और कर्म से क्रिया का चक्र अनवरत गतिशील रहता है।

आत्मा और कर्म वर्गणाओं का संबंध स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि आत्मा अनादिकाल से बंधनग्रस्त है तो जो बंधन अनादि है वह अनंत भी होना चाहिए। ऐसी स्थिति में मुक्ति की संभावना निर्मूल हो जाती है। कर्मबंध और रागादि भाव का चक्र अनादिकाल से चल रहा है तो अनन्त काल तक चलता रहेगा।

इस समस्या के समाधान में भी अनेकांत दृष्टि का अवलम्बन लिया है। उसके अनुसार जैन दार्शनिकों ने अनादि की अनंतता के साथ कोई व्याप्ति नहीं है। अनादि होते हुए भी सांतता की उपलब्धि होती है। दूसरा जीव और कर्म का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है। व्यक्ति विशेष की अपेक्षा से सादि सांत ही है। प्रत्येक कर्म की अपनी अवधि है, निश्चित काल- मर्यादा है। यदि नवीन कर्मस्रोत को रोक दिया जाएं तो कर्मफल और बंध की परंपरा स्वत: समाप्त हो जाती है।

कर्म वर्गणाएं समस्त लोक में व्याप्त हैं। मुक्ति-क्षेत्र में भी उनका अस्तित्व है। इस स्थिति में प्रश्न स्वाभाविक है कि कर्म वर्गणा मुक्त आत्माओं को प्रभावित किए बिना कैसे रहती है ? इस संदर्भ में जैनाचार्यों का अभिमत है कि कर्म-पुद्गल उसी आत्मा को प्रभावित करते हैं जो राग-द्वेष से युक्त है। कीचड़ में लोहा जंग खाता है, स्वर्ण नहीं। मुक्त आत्माओं में राग द्वेषादि क्रिया का अभाव है अत: उन्हें कर्म वर्गणा के पुद्गल प्रभावित करने में सक्षम नहीं हैं।

संबंध कब से ?

उपर्युक्त चर्चा के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि आत्मा और कर्म का संबंध कब से है? इस संबंध का निश्चित समय कौन -सा है ? वस्तुत: काल अनंत है। अनंत की व्याख्या अनंत शब्दों के बिना संभव नहीं है। कुछ लोग कर्म-प्रवाह की आदि मानते हैं किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है। अनेक प्रश्न इसके साथ उत्पन्न होते हैं। यदि कर्म की आदि है तो कर्म प्रवाह से पूर्व जीव शुद्ध था या अशुद्ध ? शुद्ध था तो कर्म से लिप्त क्यों हुआ? लिप्त होने का कारण क्या था ? शुद्ध आत्मा संसार में कैसे रहा ? यदि कहें कि कर्म आत्मा से पूर्व था तो प्रश्न होगा कि उसका कर्त्ता कौन था ? कर्त्ता के अभाव में कर्म का अस्तित्व टिक नहीं सकता। इन प्रश्नों के समाधान मुश्किल है अत: जैन दृष्टि से आत्मा और कर्म के संबंध को अपश्चानुपूर्वी स्वीकार करना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है। मुर्गी और अंडे में प्रथम कौन? इस तरह के प्रश्नों की आदि का गणित किसी के पास नहीं। उसी प्रकार कर्म और आत्मा का संबंध भी अनादि मानना ही न्यायोचित है।

कर्म के प्रकार

जीव अपनी भिन्न-भिन्न क्रियाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म- परमाणुओं को ग्रहण करता है। आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति सम्पन्न है। उसके इन स्वाभाविक गुणों के अवारक, अवरोधक, विकारक तथा शुभाशुभ संयोजक कर्मों के आठ विभाग किये गये– 1. ज्ञानावरणीय कर्म 2. दर्शनावरणीय कर्म 3. वेदनीय कर्म 4. मोहनीय कर्म 5. आयुष्य कर्म 6. नाम कर्म 7. गोत्र कर्म 8. अन्तराय कर्म।

1. ज्ञानावरणीय कर्म– ज्ञान और विवेक शक्ति को आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरण है। जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को आवृत्त कर देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आत्मा की ज्ञानात्मक या दर्शनात्मक चेतना शक्ति को प्रभावित करते हैं, उसे अवरूद्ध करते हैं। ज्ञानावरण के पांच प्रकार हैं।

1. मति ज्ञानावरण– ऐन्द्रिक एवं मानसिक ज्ञानात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कर्म पुद्गल।

2. श्रुत ज्ञानावरण– बौद्धिक तथा आगम - ज्ञानात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कर्म पुद्गल।

3. अवधि ज्ञानावरण– सूक्ष्म मूर्त्त पदार्थों को जानने वाली अतीन्द्रिय ज्ञानात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कर्म पुद्गल।

4. मन: पर्यव ज्ञानावरण– दूसरों के विचारों या मनोभावों को जानने की अतीन्द्रिय ज्ञानात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कर्म पुद्गल।

5. केवल ज्ञानावरण– मूर्त्त, अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थों का समग्रता से बोध करने वाली अतीन्द्रिय ज्ञानात्मक क्षमता को प्रभावित करने वाले कर्म पुद्गल।

विस्तार की दृष्टि से कहीं-कहीं ज्ञानावरणीय कर्म के दस भेद भी उपलब्ध होते हैं–

(1) श्रवण शक्ति का अभाव।

(2) श्रवण से उपलब्ध ज्ञान की अनुपलब्धि।

(3) दृष्टि-शक्ति का अभाव ।

(4) दृश्य ज्ञान की अनुपलब्धि।

(5) गंध ग्रहण शक्ति का अभाव।

(6) गंध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

(7) स्वाद ग्रहण शक्ति का अभाव।

(8) स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

(9) स्पर्श-क्षमता का अभाव।

(10) स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।

ज्ञानावरण कर्म की हेतुभूत क्रियाएं स्थूलरूप में छ: प्रकार की हैं–

(1) ज्ञान-प्रत्यनीकता – ज्ञान या ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना।

(2) ज्ञान-निह्नव– ज्ञान अथवा ज्ञानदाता का अपलपन करना यानी ज्ञानी को कहना कि वह ज्ञानी या विषय का मर्मज्ञ नहीं है।

(3) ज्ञानान्तराय– ज्ञान प्राप्त करने में अन्तराय डालना।

(4) ज्ञान-प्रद्वेष– ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना।

(5) ज्ञान-विसंवाद– ज्ञान या ज्ञानी के वचनों में विसंवाद यानी विरोध दिखाना।

(6) ज्ञान-आशातना– ज्ञान अथवा ज्ञानी की आशातना करना।

2. दर्शनावरणीय

स्व-संवेदन को दर्शन कहते हैं। दर्शन शक्ति में बाधक कर्म - पुद्गल दर्शनावरणीय कर्म कहलाते हैं। ज्ञान से पूर्व होने वाला वस्तु तत्त्व का निर्विकल्प बोध - दर्शन कहलाता है। उसका आवारक दर्शनावरण कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म - बंध की हेतुभूत क्रियाएं ज्ञानावरण कर्म के समान ही हैं। अन्तर इतना ही है कि उनमें ज्ञान के स्थान पर दर्शन शब्द का प्रयोग होता है। दर्शनावरण के नौ प्रकार हैं–

1. चक्षु दर्शनावरण– नेत्र शक्ति का अवरोध।
2. अचक्षु दर्शनावरण– नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की अनुभव शक्ति का अवरोध।
3. अवधि दर्शनावरण– अतीन्द्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा।
4. केवल दर्शनावरण– परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि में व्यवधान।
5. निद्रा– सामान्य निद्रा (सहज जागृत होने वाली निद्रा)
6. निद्रा-निद्रा– गहरी निद्रा, नींद से जागना कठिन।
7. प्रचला – बैठे-बैठे आने वाली निद्रा।
8. प्रचला-प्रचला– चलते-फिरते आने वाली निद्रा।
9. स्त्यानर्द्धि– जिस निद्रा में बड़े-बड़े बल साध्य कार्य हो जाते हैं।

3. वेदनीय

अनुकूल - प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख रूप में जिसका अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म है। यद्यपि वेदन सभी कर्मों का होता है किन्तु सुख - दुःख का वेदन इसी कर्म से होता है। इसके दो प्रकार हैं - सातवेदनीय, असातवेदनीय। ।

सातवेदनीय कर्म– जिसके परिणाम स्वरूप सुख की संवेदना होती है। भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है। अर्थात् जो शारीरिक और मानसिक सुख का हेतु है वही सातवेदनीय कर्म कहलाता है। नवपदार्थ ज्ञानसार में सातवेदनीय कर्म बंध की हेतुभूत दस क्रियाएं उल्लेखित है–[79]

- पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना।
- वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना।

- द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना।
- पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना।
- किसी भी प्राणी को किसी प्रकार से दुःख न देना।
- किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो ऐसा कार्य न करना।
- किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनाना।
- किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना।
- किसी भी प्राणी को नहीं मारना।
- किसी भी प्राणी को प्रताड़ित नहीं कराना।

कर्म ग्रंथ में सातवेदनीय कर्म के बंधन का कारण गुरूभक्ति, क्षमा, करूणा, व्रतपालन, योग-साधना, कषाय-विजय, दान और दृढ़श्रद्धा माना गया है।[80] तत्त्वार्थ सूत्रकार का भी यही दृष्टिकोण है।[81]

असात वेदनीय कर्म– इस कर्म के परिणाम स्वरूप विषय की प्रतिकूलता एवं शारीरिक-मानसिक दुःख प्राप्त होता है। वेदनीय कर्म के हेतुभूत क्रियाएं बारह प्रकार की हैं, जैसे–

(1) प्राण, भूत-जीव सत्व को दुःख देना।

(2) दीन बनाना।

(3) शरीर को हानि पहुंचाने वाला शोक पैदा करना।

(4) रुलाना।

(5) लाठी आदि से प्रहार करना।

(6) परितापित करना।

ये छह क्रियाएं मंदता और तीव्रता के आधार पर बारह प्रकार की हो जाती हैं। इससे विपरीत सात वेदनीय कर्म बन्ध की हेतुभूत क्रियाएं हैं।

4. मोहनीय कर्म

आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म पुद्गल मोहनीय कर्म कहलाते हैं। मदिरा सेवन से जैसे विवेक शक्ति लुप्त हो जाती है वैसे ही जिन कर्म -पुद्गलों से आत्मा की सत्-

असत् निर्णायक शक्ति कुंठित हो जाती है उन्हें मोहनीय कर्म कहा जाता है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं– दर्शन-मोह और चारित्र मोह। [82] दर्शन मोह के पुन: तीन प्रकार हैं– सम्यक्त्व - मोहनीय, मिथ्यात्व - मोहनीय और मिश्रमोहनीय। [83] चारित्र मोहनीय के कषाय मोहनीय और नो कषाय मोहनीय दो विभाग हैं [84] कषाय मोहनीय के मूलत: चार प्रकार हैं– क्रोध, मान, माया और लोभ। प्रत्येक के पुन: चार - चार प्रकार हैं। [85] इस प्रकार कुल 16 प्रकार हो जाते हैं।

नो कषाय क्रोधादि कषायों के उत्तेजक हैं। उनके उपजीवी हैं। कषायों के सहचर होने से इन्हें नो कषाय कहा जाता है। नो कषाय के 9 प्रकार हैं– 1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. भय, 5. शोक, 6. जुगुप्सा, 7. स्त्रीवेद, 8. पुरूषवेद, 9.नपुंसकवेद।

संक्षेप में मोहनीय कर्म के भेद - प्रभेद निम्नानुसार हैं–

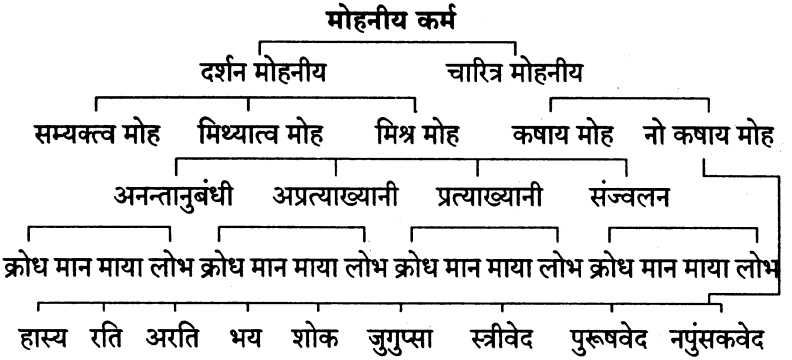

5. आयुष्य

यह जीव को किसी जन्म विशेष में नियत समय तक बनाये रखता है। घड़ी में मर्यादित काल के लिये चाबी भरी रहती है। मर्यादा पूर्ण होने पर घड़ी की गति बंद हो जाती है। उसी प्रकार मनुष्य, तिर्यञ्च आदि योनियों में नियतकाल तक जीव की अवस्थिति रहती है। वह अवधि पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाती है और नया जन्म होता है। आयुष्य कर्म के कारण ही जन्म - मरण का चक्र चलता रहता है। यह कर्म कारागार, कैद या खोड़े के समान है। जिस प्रकार खोड़े में दिया गया व्यक्ति नियत समय से पहले कारागार से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार इस आयुकर्म के कारण जीव निश्चित समय तक एक शरीर से बंधा रहता हैं।

आयुकर्म को भोगने के हेतुभूत चार क्रियाएं

1. नरकायु- नरक गति में टिके रहने के निमित्त कर्म - पुद्गल की क्रियाएं।
2. तिर्यञ्चायु - तिर्यञ्च गति में टिके रहने के निमित्त कर्म - पुद्गल की क्रियाएं।
3. मनुष्यायु - मनुष्य गति में टिके रहने के निमित्त कर्म - पुद्गल की क्रियाएं।
4. देवायु - देव- गति में टिके रहने के निमित्त कर्म - पुद्गल की क्रियाएं।

आयु बंध की हेतुभूत क्रियाओं का विवेचन चतुर्थ अध्याय में द्रष्टव्य है।

6. नामकर्म

जीवन यापन के लिए काम में आने वाली विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म - पुद्गल को नामकर्म कहते हैं।[86] इस कर्म की तुलना चित्रकार से की जाती है। चित्रकार अपनी कल्पना से नाना प्रकार के चित्र बनाता है वैसे ही नाम कर्म नारक, तिर्यञ्च, मानव और देव योनि के अनुकूल शरीर अंगोपांग, इन्द्रिय, यश - अपयश आदि की प्राप्ति का हेतु है।[87] नाम कर्म के दो प्रकार हैं - (1) शुभ नामकर्म और (2) अशुभ नामकर्म।[88] इनके उत्तर भेद बयांलीस हैं। उनका विवेचन निम्नानुसार हैं -

1. गतिनाम– जन्म सम्बन्धी विविधता का निमित्त कर्म।
   (i) नरक गतिनाम (ii) तिर्यञ्च गति - नाम
   (iii) मनुष्य गति - नाम (iv) देवगति - नाम
2. जाति नाम कर्म– इन्द्रिय रचना के निमित्त कर्म पुद्गल। इसके पांच उपभेद हैं-
   (i) एकेन्द्रिय जातिनाम (ii) द्वीन्द्रिय जातिनाम
   (iii) त्रीन्द्रिय जातिनाम (iv) चतुरिन्द्रिय जातिनाम
   (v) पंचेन्द्रिय जातिनाम
3. शरीर नाम– औदारिक आदि शरीर का निर्माण करने वाला कर्म
   (i) औदारिक शरीर - नाम (ii) वैक्रिय शरीर - नाम
   (iii) आहारक शरीर - नाम (iv) तैजस शरीर - नाम
   (v) कार्मण शरीर - नाम
4. शरीर-अंगोपांग नाम– शरीर के अंग-प्रत्यंगों के निमित्तभूत कर्म-पुद्गल।
   (i) औदारिक शरीर अंगोपांग नाम
   (ii) वैक्रिय शरीर अंगोपांग नाम
   (iii) आहारक शरीर अंगोपांग नाम

तैजस और कार्मण शरीर के अवयव नहीं होते।

5. शरीर बंधन नाम– कर्म-पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतु-भूत कर्म -

(i) औदारिक शरीर बंधन-नाम (ii) वैक्रिय शरीर बंधन-नाम
(iii) आहारक शरीर बंधन-नाम (iv) तैजस शरीर बंधन-नाम
(v) कार्मण शरीर बंधन-नाम

कर्म-ग्रंथ में शरीर बंधन-नाम कर्म के 15 भेद– ये निम्न लिखित हैं–

(1) औदारिक-औदारिक बंधन नाम
(2) औदारिक-तैजस बंधन नाम
(3) औदारिक-कार्मण बंधन नाम
(4) वैक्रिय-वैक्रिय बंधन नाम
(5) वैक्रिय-तैजस बंधन नाम
(6) वैक्रिय-कार्मण बंधन नाम
(7) आहारक-आहारक बंधन नाम
(8) आहारक-तैजस बंधन नाम
(9) आहारक-कार्मण बंधन नाम
(10) औदारिक-तैजस कार्मण नाम
(11) वैक्रिय-तैजस कार्मण नाम
(12) आहारक-तैजस कार्मण नाम
(13) तैजस-तैजस कार्मण बंधन नाम
(14) तैजस-कार्मण बंधन नाम
(15) कार्मण-कार्मण बंधन नाम

औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीर परस्पर विरोधी है। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

6. शरीर संघातन नाम-कर्म– शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(1) औदारिक शरीर संघातन-नाम
(2) वैक्रिय शरीर संघातन-नाम

(3) आहारक शरीर संघातन-नाम

(4) तैजस शरीर संघातन-नाम

(5) कार्मण शरीर संघातन-नाम

7. संहनन नाम कर्म–इसके उदय से हड्डियों की व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता हैं।

(1) वज्रऋषभ नाराच संहनन-नाम

(2) ऋषभ - नाराच संहनन-नाम

(3) नाराच संहनन-नाम (4) अर्ध नाराच संहनन-नाम

(5) सेवार्त संहनन-नाम (6) कीलिका संहनन-नाम

8. संस्थान नाम-कर्म– इसके उदय का प्रभाव शरीर की आकृति - रचना पर पड़ता है, इसके हेतुभूत कर्म पुद्गल इस प्रकार हैं

(1) समचतुरस्र संस्थान (2) न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान

(3) सादि संस्थान (4) वामन संस्थान

(5) कुब्ज संस्थान (6) हुंडक संस्थान

9. वर्ण नाम कर्म– इस कर्म के उदय से शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता हैं।

(1) कृष्ण वर्ण नाम-काला (2) हारिद्र वर्णनाम-पीला

(3) नील वर्ण नाम-नीला (4) श्वेत वर्णनाम-सफेद

(5) लोहित वर्णनाम-लाल

10. गंध नाम कर्म– इस कर्म के उदय से शरीर के गंध पर प्रभाव पड़ता हैं।

(1) सुरभि गंध-नाम (2) दुरभि गंध-नाम

11. रस नाम-कर्म– इस कर्म के उदय से शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।

(1) तिक्त रस-तीखा (2) कटु रस-कड़वा

(3) कषाय रस-कसैला (4) अम्ल रस-खट्टा

(5) मधुर रस-मीठा

12. स्पर्श नाम-कर्म– इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता हैं।

(1) कर्कश स्पर्श– कठोर (2) मृदु स्पर्श– कोमल

(3) गुरू स्पर्श– भारी (4) लघु स्पर्श– हल्का

(5) स्निग्ध स्पर्श– चिकना (6) रूक्ष स्पर्श– रूखा

(7) शीत स्पर्श– ठंडा (8) उष्ण स्पर्श– गरम

13. अगुरू-लघु नाम-कर्म– इसके उदय से शरीर न सम्भल सके, वैसा भारी भी नहीं, और हवा में उड़ जाये, वैसा हल्का भी नहीं होता।

14. उपाघात नाम-कर्म– इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है, आत्म-हत्या करता हैं।

15. पराघात नाम-कर्म– इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता हैं।

16. आनुपूर्वी नाम-कर्म– विश्रेणी-स्थित जन्म - स्थान का हेतुभूत कर्म -

(i) नरक आनुपूर्वी नाम (iii) तिर्यंञ्च आनुपूर्वी नाम

(ii) मनुष्य आनुपूर्वी नाम (iv) देव आनुपूर्वी नाम

17. उच्छ्वास नाम कर्म– इसके उदय से जीव श्वास - उच्छ्वास लेता हैं।

18. आतपनाम– इस कर्म के उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता हैं।[89]

19. उद्योत नाम-कर्म– इसके उदय से शरीर से शीत प्रकाश निकलता हैं[90]

20. विहायोगति नाम कर्म– इसके उदय से जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता हैं।

(i) प्रशस्त विहायोगति - अच्छी चाल

(ii) अप्रशस्त विहायोगति - खराब चाल

21. त्रस नाम कर्म– इसके उदय से जीव (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं

22. स्थावर नाम कर्म– इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छापूर्वक गति नहीं करने वाले) होते हैं।

23. सूक्ष्म नाम कर्म– इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय)शरीर मिलता हैं।

24. बादर नाम-कर्म– इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता हैं।

25. पर्याप्त नाम कर्म– इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।

26. अपर्याप्त नाम कर्म– इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते।

27. साधारण शरीर नाम कर्म– इसके उदय से जीवों को एक शरीर मिलता हैं।
28. प्रत्येक शरीर नाम कर्म– इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतंत्र शरीर मिलता हैं।
29. स्थिर नाम– इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं
30. अस्थिर नाम– इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।
31. शुभ नाम– इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।
32. अशुभ नाम– इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।
33. सुभग नाम– इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना व सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगते हैं।
34. दुर्भग नाम– इसके उदय से उपकारक व सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।
35. सुस्वर नाम– इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता हैं।
36. दुःस्वर नाम– इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता हैं।
37. आदेय नाम– इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण न होते हुए भी मान्य होता हैं।
38. अनादेय नाम– इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी अमान्य होता हैं।
39. यश कीर्ति नाम– यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म पुद्गल।
40. अयश कीर्ति नाम– अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म - पुद्गल।
41. निर्माण नाम– अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म पुद्गल।
42. तीर्थंकर नाम– तीर्थंकर - पद की प्राप्ति का निमित्तभूत कर्म।

तीर्थंकरत्व - पद की प्राप्ति के हेतुभूत अरिहन्त की आराधना, सिद्ध की आराधना आदि बीस कारण हैं। प्रज्ञापना[91] व गोम्मटसार[92] में नाम कर्म के 93 भेदों का कथन किया गया है और कर्म - विपाक में बंधन नाम कर्म के पन्द्रह भेद मानकर नाम कर्म की हेतुभूत 103 क्रियाएं निर्दिष्ट हैं।[93]

जैनागमों के अनुसार शुभ नामकर्म बन्ध की हेतुभूत क्रियाएं चार हैं।

1. कायिक ऋजुता– दूसरों को ठगने वाली शारीरिक चेष्टा न करना।
2. भाव ऋजुता– दूसरों को ठगनेवाली मानसिक चेष्टा न करना।
3. भाषा ऋजुता– दूसरों को ठगनेवाली वाचिक चेष्टा न करना।

4. अविसंवादन योग– कथनी और करनी में विसंवादन न करना।

अशुभ नाम कर्म के बंधन की हेतुभूत क्रियाएं और उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाली प्रतिकूलताएं शुभ - नाम कर्म की हेतुभूत क्रिया और परिणाम से प्राप्त होने वाली अनुकूलताएं।

7. गोत्रकर्म

जिस कर्म के परिणाम स्वरूप जीव की उत्पत्ति उच्च, नीच, पूज्य - अपूज्य गोत्र, कुल, वंश आदि में हो, वह गोत्र कर्म हैं। [94] आचार्य उमास्वाति के शब्दों में - उच्चगोत्र कर्म देश, गति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य इत्यादि विषयक उत्कर्ष का सम्पादक है। इसके विपरीत परिधि, नट, व्याध, दास आदि का निवर्तक हैं। [95] इस कर्म को कुम्हार की उपमा दी जाती है। कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें लोग कलश मानकर अक्षत, चंदन आदि से अर्चा करते हैं। कुछ मदिरा आदि रखने में प्रयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जीव जिस कर्म से श्लाघ्य एवं अश्लाघ्य कुल में उत्पन्न होता है, वह गोत्र कर्म है। [96] गोत्र कर्म बंध की हेतुभूत क्रियाएं 8 प्रकार की है -1. जाति 2. कुल 3. बल 4. रूप 5. तप 6. श्रुत (ज्ञान) 7. लाभ और 8. ऐश्वर्य। इस कर्म के दो प्रकार हैं– उच्चगोत्र, नीचगोत्र [97]।

1. उच्च गोत्र कर्म– इस कर्म के उदय से प्राणी प्रतिष्ठित कुल में जन्म ग्रहण करता है।
2. नीच गोत्र कर्म– इस कर्म के परिणाम स्वरूप प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एवं असंस्कारी कुल आदि में होता है। [98] उच्च एवं नीच गोत्र कर्म के आठ-आठ प्रकार हैं [99]

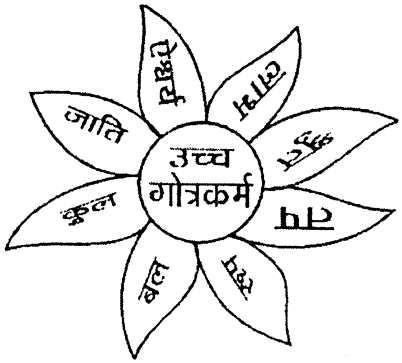

(i) जाति गोत्र– मातृ पक्षीय विशिष्टता के सद्भाव अभाव का हेतुभूत कर्म।

(ii) कुल गोत्र– पितृपक्षीय विशिष्टता के हेतुभूत कर्म सद्भाव अभाव का हेतुभूत कर्म।

(iii) बल गोत्र– बल की विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

(iv) रूप गोत्र– रूप विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

(v) तप गोत्र– तप विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

(vi) श्रुत गोत्र– श्रुत विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

(vii) लाभ गोत्र– लाभ विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

(viii) ऐश्वर्य गोत्र– ऐश्वर्य विशिष्टता या अविशिष्टता-विहीनता का हेतुभूत कर्म।

नाम और गोत्र कर्म का संबंध शारीरिक और मानसिक रचना एवं उनकी विशिष्टता से है। शरीर का शुभत्व-अशुभत्व, उच्च और निम्नता मानसिक सुख-दुःख का भी कारण बनता है।

प्रश्न हो सकता है– नाम कर्म से शुभ-अशुभ शरीर की प्राप्ति होती है। गोत्र कर्म से उच्चता नीचता मिलती है। शुभ और उच्च शरीर, अशुभ और नीच शरीर में अन्तर क्या है ? समाधान यह है कि नाम कर्म का सम्बन्ध उन शारीरिक गुणों से हैं जो जिनका सम्बन्ध कुल, वंश विशेष से नहीं जबकि गोत्र कर्म का सम्बन्ध उन शारीरिक गुणों से है जो कुल, वंश से सम्बन्धित हैं और वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं।

8. अन्तरायकर्म

जिस कर्म के उदय से वीर्य या शक्ति प्राप्त होती है वह अन्तराय कर्म कहलाता है। अथवा लेन-देन तथा एक - अनेक बार उपभोग और सामर्थ्य प्राप्त करने में जो कर्म अवरोध उपस्थित करता है, वह अन्तराय कर्म है।[100]

अन्तराय कर्म भंडारी के समान है। राजा का आदेश प्राप्त होने पर भी भंडारी की इच्छा के बिना दान प्राप्त नहीं होता। वैसे ही अन्तराय कर्म दानादि में बाधा उपस्थित करता है।[101] अन्तराय कर्म के पांच प्रकार हैं।

(i) दानान्तराय कर्म– दान के लिए अनुकूल सामग्री हो, उत्तम पात्र भी हो, सब कुछ सुविधा होने पर भी इस कर्म के फलस्वरूप जीव दान नहीं दे सकता।

(ii) लाभ अन्तराय कर्म– इस कर्म के उदय से उदार दाता की उपस्थिति, देय वस्तु, याचना में कुशल होने पर भी दान का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् सारी अनुकूलताओं के रहने पर भी जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है, वह लाभान्तराय कर्म है।

(iii) भोग अन्तराय कर्म– जिस वस्तु का एक बार ही भोग संभव है, वह भोग कहलाती है। जैसे अशन, पान,खाद्य, पेय पदार्थ, फल - फूल आदि। इस कर्म के उदय से भोग्य पदार्थ को सामने होने पर तथा त्याग प्रत्याख्यान के अभाव में तीव्र इच्छा होने पर भी भोग नहीं सकता। उदाहरण के लिए– शुगर की बीमारी में मिठाई आदि नहीं खा सकते। पेट की खराबी के कारण सरस भोजन तैयार होने पर भी खाना संभव नहीं हो पाता।

(iv) उपभोग अन्तराय कर्म– जिस वस्तु का बार-बार भोग संभव हो वह उपभोग कहलाती है। जैसे ; मकान, वस्त्र, आभूषण आदि। उपभोग सामग्री उपलब्ध होने पर भी इस कर्म के उदय से भोगे नहीं जा सकते।

(v) वीर्य अन्तराय कर्म– समर्थ हो, रोग रहित युवा हो, फिर भी इस कर्म के उदय से सामर्थ्य प्रकट नहीं कर सकता तथा इसके प्रभाव से जीव के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम एवं पुरूषार्थ क्षीण हो जाते हैं।

उक्त पांच भेदों के अतिरिक्त ठाणांग सूत्र में अन्तराय कर्म के दो नये प्रकारों का उल्लेख मिलता है–[102]

(i) प्रत्युत्पन्न विनाशित अन्तराय कर्म– जिसके उदय से प्राप्त वस्तु का विनाश हो जाता है अर्थात् इसका कार्य है, वर्तमान में प्राप्त वस्तु को विनष्ट करना, उपहृत करना।

(ii) पिधत्ते आगामि पथ - भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का अवरोधक। अन्तराय कर्म के सम्बन्ध में एक अवधारणा यह भी प्रचलित है कि किसी भी वस्तु की उपलब्धि में बाह्य विघ्नों का उपस्थित होना।

प्रश्न हो सकता है कि क्या अन्तराय कर्म का सम्बन्ध बाह्य-पदार्थों की अप्राप्ति से है ?

समाधान दिया गया कर्म ग्रंथ की टीका में अन्तराय का अर्थ विघ्न किया है। जिससे दानादि लब्धियां विनष्ट होती है उसे विघ्न कहते हैं। लब्धि का अर्थ सामर्थ्य है।

दान, लाभ आदि शक्तियों का ह्रास जिससे हो, वह अन्तराय कर्म है। वस्तुतः बाह्य वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति का कर्म से सीधा सम्बन्ध नहीं हैं। कर्म का उदय-क्षयोपशम होने पर भी बाह्य वस्तु की उपलब्धि-अनुपलब्धि अनिवार्य नहीं है। ये परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता में हेतु बनते है। वस्तुतः इनका संबंध आन्तरिक शक्तियों के हनन या प्रकटीकरण से हैं। अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति 30 कोटाकोटी सागरोपम की हैं।[103]

उपर्युक्त कर्म-बंधन की हेतुभूत क्रियाओं की संक्षिप्त झलक निम्नांकित चित्रों द्वारा भी सरलता से समझी जा सकती है–

आठ कर्म (1)

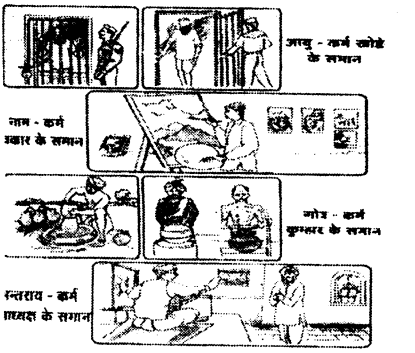

आठ कर्म (2)

आठ कर्मों के कथन, क्रम निर्धारण आदि, श्वेताम्बर आगम ग्रंथ, पंच - संग्रह की टीका, कर्म-विपाक की टीका, जय सोमसूरिकृत टब्बा, जीवविजयकृत बालावबोध आदि में उपलब्ध हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों में जो अनुक्रम है, सर्वत्र एक सा है, कहीं भी व्युत्क्रम नहीं देखा जाता।

कर्मों की क्रम व्यवस्था

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप है। दोनों में ज्ञान की प्रधानता है। कारण, किसी भी लब्धि या मोक्ष की प्राप्ति ज्ञानोपयोग में ही होती है। अत: ज्ञान का आवरण भूत कर्म ज्ञानावरण है। दर्शन की प्रवृत्ति ज्ञान के अनन्तर होती है इसलिये दूसरे नंबर पर दर्शनावरण कर्म है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण के तीव्र उदय या क्षयोपशम से जीव को सुख-दु:ख की अनुभूति होती है, जिसे वेदनीय कर्म कहा गया है। सुख-दु:खानुभूति के साथ राग-द्वेष की परिणति अवश्यंभावी है, अत: वेदनीय के पश्चात् मोहकर्म का उल्लेख है। मोहग्रस्त जीव आरंभ-परिग्रह आदि अनुष्ठानों से शुभाशुभ आयुष्य कर्म का बंधन करता है। इसलिये मोहनीय के पश्चात् आयुष्य का क्रम रखा गया है। आयु भोग के साथ गति और जाति की प्राप्ति जुड़ी हुई है। अत: आयुष्य के पश्चात् नाम और गोत्र का उल्लेख मिलता है।

उच्च गोत्र में दानान्तराय आदि का क्षयोपशम तथा नीच गोत्र में उदय रहता है। इस आशय की स्पष्टता के लिये गोत्र के बाद अन्तराय का स्थान है।

इसके साथ ही एक प्रश्न यह भी उठता है कि अन्तराय कर्म घाति है फिर भी अघाति कर्म के पश्चात् क्यों रखा गया है ?

समाधान यह है कि अन्तराय कर्म घाती अवश्य है, किन्तु घाती कर्मों की तरह आत्मा के गुणों की सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघाती कर्मों के निमित्त से होता है, इससे विपरीत वेदनीय कर्म अघाती होते हुए भी उसका स्थान घाती कर्मों के बीच में है। इसका कारण यह है कि वह घाती कर्म की तरह मोहनीय कर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है। इस प्रकार आठ कर्मों के क्रम निर्धारण के पीछे कुछ निश्चित कारण रहे हैं। कर्म के संक्षेप में दो प्रकार हैं– घाती और अघाती।

घाती कर्म- जो कर्म आत्मा के साथ संपृक्त होकर उसके स्वाभाविक गुणों को हानि पहुंचाते हैं, उन्हें घाती कर्म कहते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं।[104]

अघाती कर्म- आत्मा के मूल गुणों को हानि नहीं पहुंचाने वाले किन्तु शुभाशुभ का संयोग कराने वाले वेदनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य– ये चार अघाती कर्म हैं। आत्मा की स्वाभाविक दशा में विकृति उत्पन्न करना, उसके निजी गुणों की घात करना, घाती कर्मों का कार्य है। घाती कर्मों में प्रमुख मोहनीय कर्म है। कर्म बंध का मूलबीज यही एक कर्म है। अघाती कर्म घाती कर्म के सहयोगी हैं। अत: मोह के पराभूत होने पर शेष कर्मों का भी मूलोच्छेद हो जाता है।

अघाती कर्म दग्ध बीज के समान है जिनमें नया उत्पादन करने की क्षमता नहीं हैं। समय - परिपाक के साथ अपना फल देकर अलग हो जाते हैं। ये आत्म - गुणों के बाधक नहीं है। घाती कर्म की 45 प्रकृतियां भी दो भागों में विभक्त हो जाती है। देशघाती और सर्वघाती। सर्वघाती कर्म प्रकृति जहां आत्म- गुणों को समग्रता से आवृत या प्रभावित करती हैं वहां देशघाती उसके एकांश को।

अनन्तानुबंधी कषाय, सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानी,कषाय - देशवर्ती चारित्र, प्रत्याख्यानी कषाय - सर्वव्रती चारित्र, तथा 5 प्रकार की निद्रा, आत्मा की सहज सत्यानुभूति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन ये बीस प्रकार की प्रकृतियां सर्वघाती हैं। शेष ज्ञानावरण की 4, दर्शनावरण की 3, मोहनीय की 13, अन्तराय की पांच, 4 + 3 + 13 + 5 = 25 कर्म प्रकृतियां देश घाती हैं। सर्वघाती आत्मगुणों के विकास की अवरोधक हैं किन्तु अस्तित्व का विनाश नहीं करती। अस्तित्व का नाश हो जाये तो आत्मा और जड़ का भेद समाप्त हो जायेगा। यही कारण है कि कर्मों के द्वारा ज्ञानादि गुणों के आवृत्त होने पर भी उनका न्यूनतम विकास तो सभी जीवों में रहता ही है।

निष्कर्ष

कर्म सिद्धांत अतीत की क्रियाओं का लेखा जोखा प्रस्तुत करने के साथ - साथ वर्तमान की क्रियाओं की दिशा का निर्धारण करता है। इसके साथ ही भविष्यकालीन क्रियाओं के लिए भी दिशासूचक यन्त्र का कार्य करता है। व्यक्ति वार्तमानिक दु:खद जीवन की हेतुभूत क्रियाओं के प्रति सावधान बनता है और भविष्य को सुखद और शांतिपूर्ण बनाने के लिए संकल्पित होता है। इस प्रकार कर्म सिद्धांत की आचार और व्यवहार के निर्धारण में अहम् भूमिका रहती है। कर्म सिद्धांत के आधार पर ही व्यक्ति में नैतिक-निष्ठा जागृत हो सकती है। स्पष्ट है कि कर्म - सिद्धांत के अनुसार वार्तमानिक मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म अतीतकालीन कर्मों से प्रभावित होते हैं और अनागत को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले के अभिमत

से भी– अतीतकाल वर्तमान व्यक्तित्व का एवं वर्तमान भविष्य के व्यक्तित्व का घटक है।[105] कोई भी अच्छा-बुरा कर्म निष्फल नहीं होता। जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार पुण्य कर्म वे शुभ परमाणु हैं जो शुभ प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और अपने विपाक के अवसर पर शुभ-अध्यवसाय, शुभ विचारों एवं क्रियाओं के प्रेरक होते हैं तथा,शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अनुकूलताएं प्रदान करते हैं।

वैज्ञानिक जगत् में तथ्यों, घटनाओं की व्याख्या में जो स्थान-कार्य-कारण सिद्धांत का है वही स्थान आचार एवं व्यक्तित्व की व्याख्या में कर्मों का है। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार कर्म सिद्धांत का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भांति पर्याप्त कारण के बिना कुछ घटित नहीं हो सकता। आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। जैनागम भगवती में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा स्वकृत सुख-दुःख का भोग करता है। परकृत सुख-दुःख का भोग नहीं करता।[106]

कर्म सूक्ष्म तत्त्व है। सूक्ष्म तत्त्व को समझने के लिए लेश्या, कषाय और अध्यवसाय को समझना भी आवश्यक है। अध्यवसाय कर्म बंध का कारण है इसलिए मन, वचन, क्रिया शून्य असंज्ञी जीवों के भी कर्म बंधन होता रहता है। लेश्या अध्यवसाय का हेतु है।

कषाय कर्मों का संश्लेषक है। इस संश्लेषक के कारण ही कर्म बंध की दो अवस्थाएं बनती हैं।[107] सकषाय अवस्था में साम्परायिक और निष्कषाय अवस्था में ईर्यापथिक का बंध होता है। लेश्या और योग का भी अविनाभावी सम्बन्ध है। योग का निरोध होने पर लेश्या की परिसमाप्ति हो जाती है। लेश्या जब अशुभ से शुभ बनती है तो कर्म से अकर्म की ओर प्रस्थान होता है।

संदर्भ सूची

1. सूत्रकृतांग, श्रु.1, अ.15 की टीका - भावो अन्तःकरणस्य प्रवृत्तिविशेषः।
2. भावश्चित्ताभिप्रायः
3. आचारांग, श्रु.1, अ.8/6 की टीका
4. समयसार, 271
5. प्रज्ञापना, 17/4/1 उवांग सुत्ताणि खण्ड ; 2 पृ. 221
6. उत्तराध्ययन; 34/2
7. प्राकृत पंच संग्रह ;1-142

8. धवला, पु 1; पृ. 150
9. गोम्मटसार, जीवकाण्ड 481
10. तत्त्वार्थवार्तिक ; 2/6/8
11. पंचास्तिकाय जयसेनाचार्य कृत वृत्ति ; 140
12. स्थानांग अभयदेवकृत वृत्ति; 51 पृ. 31
13. ध्यान-शतक हरिभद्रीयावृत्ति; 14
14. मूलाराधना ; 7/1907
15. उत्तराध्ययन, वृहद् वृत्ति पत्र; 650
16. वही, 650
17. वही, 651
18. अनुयोगद्वार, सूत्र 127 पृ. 111
19. उत्तराध्ययन 34 टीका ; 650
20. अंगुत्तर निकाय; 6-6-3 भाग 3 पृ. 93
21. दीर्घनिकाय; 1/2 पृ. 19-20
22. महाभारत, शांतिपर्व ; 280/34/47
23. पातंजल योगसूत्र ; 4/7 - कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्
24. (क) उद्धृत श्रवणबेलगोला चित्रावली में
24. (ख) चित्त और मन पृ. 50
25. चित्त और मन, पृ. 52
25. (क) चित्त और मन पृ., 50
26. S.G.J. Ouseley, Colour Meditation, page 23
26. (क) चित्त और मन, पृ. 50
27. चिन्तन के विविध आयाम में ; पृ.36 - 49
27. (क) चिन्तन के विविध आयाम में ; पृ.36 - 49
28. आभामण्डल; पृ. 57-58
29. नंदी चूर्णि; गाथा - 4
30. उत्तराध्यन निर्युक्ति; गा. 34/ 535-38 पृ. 650
31. उत्तराध्ययन; 34/ 27,28,29,30,31,32
32. नवपदार्थ पुण्य ढ़ाल से उद्धृत

33. उत्तराध्ययन; 21/24
34. सर्वार्थसिध्दि ; 6/3 की टीका
35. समयसार; 3.146
36. (क) पातंजल योग, 2/13
36. (ख) पातंजल योग, 2/14 तेह्लादपरितापफला:पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।।
37. पातंजल योग, 2/14
38. (क) परमात्म प्रकाश 2.63, नवपदार्थ; पृ. 248
38. (ख) नवपदार्थ पुण्यढ़ाल; 52/59
39. नवतत्वः आधुनिक संदर्भ; पृ.18
40. विशेषावश्यक भाष्य; गा. 2005
41. परमात्म प्रकाश वृत्ति; 57/58
42. परमात्म प्रकाश; 2/60
43. सूत्रकृतांग; 1/12/15 न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकुम्मणा कम्म खवेंति धीरा।
44. दर्शन और चिन्तन; खण्ड 2 पृ. 226
45. कुन्दकुन्दाचार्य, उद्धृत नवपदार्थ, पृ. 153
46. प्रशमरति प्रकरण ;गाथा, 219
47. सूत्रकृतांग वृत्ति; 2/5
48. स्थानांग वृत्ति; 9
49. भगवती वृत्ति; 1/7
50. सूत्रकृतांग वृत्ति; 1/6
51. समयसार; 3/146-147
52. पातंजल योग; 2/13 सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा।
53. (क) पंचास्तिकाय; 2/108
53. (ख) नवपदार्थ, पुण्यपदार्थ ढाल 2, पृ. 201
54. (क) सागर धर्मामृत; 5/45
54. (ख) पंचसंग्रह प्राकृत, 453-455
54. (ग) जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 334
55. भगवती शतक; 7/1/2
56. अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड 5 ; पृ.876
57. द्रव्य-संग्रह; 38

58. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1 पृ .480
59. ठाणं; 2/1
60. धवला; 7/2, 1/49,91/7
61. नंदी सूत्र; 71
62. दर्शन; 2/4 - अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।
63. Studies in Jain Philosophy, Page 259-260
64. नवपदार्थ, आश्रव पदार्थ ढ़ाल (1) गा. 69
65. (क) त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्रम् पर्व ; सर्ग - 9
65. (ख) ठाणांग, पृ. 1000
65. (ग) चित्त और मन, 97
66. (क) आचारांग भाष्य, पृ. 25
66. (ख) जैन सिद्धांत दीपिका; 4,1 -आत्मन: सदसत्प्रवृत्याऽकृष्टस्ततप्रायोग्यपुद्गला: कर्म:।
67. भारतीय दर्शन; पृ 12
68. जैन धर्म दर्शन; पृ. 442
69. षट्खण्डागम,भाग; 6. पृ.18
70. अष्टाध्यायी; 1/4/49, कर्तृरीप्सिततमं कर्म।
71. बौद्ध-दर्शन व अन्य भारतीय दर्शन; पृ. 463
72. तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 6/1/7/504/26, उद्धृत -कर्म विज्ञान
73. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य; 2/1/14
74. सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्व-कौमुदी
75. शाबर भाष्य; 2/1/5
76. न्याय भाष्य; 1/1/2, न्यायसूत्र; 1/1/7,4/1/3.9, न्याय मंजरी; पृ.471
77. अभिधर्मकोष; परिच्छेद,4
78. न्याय मंजरी; पृ.472
79. नव पदार्थ ज्ञानसार; 237
80. कर्मग्रंथ; 1/55
81. न्याय तत्त्वार्थ; 6/13
82. (क) स्थानांग; 2/427 (ख) उत्तराध्ययन; 33/8
83. उत्तराध्ययन; 33/9, (ख) प्रज्ञापना; 23/2
84. कर्मग्रंथ भाग; 1/16

85. उत्तराध्ययन; 33/11
86. प्रज्ञापना ; 23/1/288 टीका
87. स्थानांग ; 2/4/105 टीका, (ख) नवतत्त्व प्रकरणम् ; 74
88. उत्तराध्ययन; 33/13
89. प्रस्तुत कर्म का उदय सूर्य - मण्डल के एकेन्द्रिय जीवों में होता हैं। उनका शरीर शीत होता है पर प्रकाश उष्ण होता हैं।
90. देव के उत्तर वैक्रिय शरीर में से, व लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर से तथा चांद, नक्षत्र, तारागणों से निकलने वाला शीत प्रकाश।
91. प्रज्ञापना; 23/2/293
92. गोम्मटसार; (कर्म काण्ड) 22
93. कर्म विपाक; पृ. 58,105
94. प्रज्ञापना; 23/1/288 टीका
95. तत्त्वार्थ सूत्र; 8/13 भाष्य
96. ठाणं; 2/4/105 टीका
97. उत्तराध्ययन; 33/14 - गोयं कम्मं तु दुविहं, उच्चं नियं च आहियं।
98. उत्तराध्ययन; 33/14 उच्चं अट्ठविहं होई एवं नीयं पि आहियं।
99. प्रज्ञापना ; 23/1/292, 29/2/293
100. पंचाध्यायी; 2/1007
101. ठाणं; 2/4/105 टीका, (ख) उत्तराध्ययन; 33/15
दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमन्तरायं, समासेण वियाहियं॥
102. स्थानांग; 2/431
103. उत्तराध्ययन; 33/19
104. गोम्मटसार ; (कर्म काण्ड) 9
105. एथीकल स्टडीज; पृ. 53
106. भगवती; 1/2/54
107. तत्त्वार्थ सूत्र; 6/5

चतुर्थ अध्याय
क्रिया और पुनर्जन्म

क्रिया और पुनर्जन्म का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को जानने के लिये क्रियावाद का विकास हुआ। जैन दर्शन के आधार स्तंभ आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद आदि है। आत्मा का अस्तित्व है, वह क्रिया करती है और उससे कर्म बंध होता है। कर्म है तो उसका फल भी है। फलभोग के लिए जन्म भी अनिवार्य है।

जन्म से पूर्व भी जीवन था मृत्यु के बाद भी वह रहेगा। वर्तमान जीवन उसकी मध्यवर्ती कड़ी है। जिसका मध्य है, उसका पूर्वापर भी निश्चित ही होगा। आचारांग में कहा है– **'जस्स नत्थि पुरा-पच्छा, मज्झ तस्स कओ सिया।'**[1(क)] आचारांग भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म इन दोनों का अस्तित्व होने पर ही वर्तमान जन्म का अस्तित्व हो सकता है। यह पूर्वापर श्रृंखला ही पुनर्जन्म का सिद्धांत है।

भारतीय दर्शन का अध्ययन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त शेष सभी दर्शनों ने कर्मवाद की तरह पुनर्जन्म को भी स्वीकार किया है। भारतीय चिंतन में आत्मा को केन्द्र में रखकर दो प्रकार की विचारधाराएं विकसित हुई। एक वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मान्य करती है। दूसरी वह, जो आत्मा के अस्तित्व को वर्तमानकालिक या क्षणिक ही मानती है। इन्हें क्रमशः क्रियावादी और अक्रियावादी के नाम से अभिहित किया जाता है।

क्रियावादियों ने आत्मा के अस्तित्व को प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयास किया तथा पुनर्जन्म की उसी संदर्भ में प्रस्तुति दी है। सर्व सम्मत तथ्य यह है कि शुभाशुभ कृत कर्मों का फल प्रत्येक प्राणी को भोगना पडता है।[1(ख)]

कुछ कर्मों के फल *वर्तमान-जीवन सापेक्ष हैं तो कुछ कर्मों के फल-भोग के लिये*

नया जन्म लेना पड़ता है, यही तथ्य पुनर्जन्म का मूलाधार है।[2] पूर्व पर्याय में जो आत्मा है, वही उत्तर पर्याय में होती है।[3] आत्मा का विनाश नहीं होता, केवल रूपान्तर होता है, यही पुनर्जन्म है। आचारांग निर्युक्ति में 'लोक' शब्द का अर्थ 'भव' पूर्व जन्म के संदर्भ में भी लिया है। आत्मा का अस्तित्व है, वह लोक में भव-भ्रमण कर रही है, क्योंकि अतीत के जन्मों में क्रिया द्वारा कर्म बन्ध क्रिया था। क्रिया द्वारा, पुरुषार्थ द्वारा कर्मों को तोड़ा जा सकता है। क्रियावाद वस्तुतः बन्धन-मुक्ति का पुरुषार्थ है।

जैनदर्शन में पुनर्जन्म

तर्क होता है, एक ओर आत्मा को अजन्मा, अविनाशी, नित्य कहा है दूसरी ओर जन्म-मरण धर्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह विसंगति क्यों ? यदि आत्मा वस्तुतः अविनाशी है तो ऐसी स्थिति में पुनर्जन्म का आधार क्या होगा ? इसका समाधान यह है कि पुनर्जन्म का कारण कर्म है। कर्म-भोग के लिये पुनर्जन्म है। कर्मशब्द में गर्भित अन्तर्रहस्य को समझने के लिये दृश्यमान जागतिक व्यवस्था पर भी दृष्टिपात करना अपेक्षित है। हमारा दृश्य जगत् परस्पर विरोधी धर्मवाले पदार्थों के पारस्परिक संयोग का परिणाम है। एक तत्त्व वह है जिसमें ज्ञान हैं, इच्छाएं हैं, सुख-दुःख की अनुभूति है। दूसरा तत्त्व वह भी है जो इन सब गुणों से रहित है। प्रथम सचेतन (जीव) और दूसरा अचेतन(अजीव) कहलाता है। दोनों का शुद्ध रूप अप्रत्यक्ष है। दृश्यमान जगत् में जीव संश्लिष्ट या विश्लिष्ट अजीव तथा अजीव संश्लिष्ट जीव का ही प्रत्यक्ष होता है। यही कारण है कि जैनदृष्टि में दृश्य जगत् शुद्ध द्रव्य न होकर दो द्रव्यों का विकार हैं।

सचेतन-अचेतन दोनों पदार्थ सक्रिय हैं। उनमें अपनी-अपनी क्रिया होती रहती हैं। दोनों का अपना स्वभाव है। समान गुण-धर्मवाले के संयोग से विकार पैदा नहीं होता। विकार वहां होता है जहां विजातीय सम्बन्ध स्थापित होता है। पारस्परिक क्रिया के फलस्वरूप अचेतन में विकार उत्पन्न होता है किन्तु वह अपनी ओर से प्रतिक्रिया नहीं करता। सचेतन तत्त्व की विशेषता है कि वह विजातीय द्रव्य के संयोग से प्रतिक्रिया करता है। निष्कर्षतः सचेतन के लिये अचेतन विजातीय हैं।

अचेतन संयोग और तज्जन्य विकार रूप कार्य को दार्शनिक भाषा में 'कर्म कहा जाता है। राग -द्वेष से युक्त संसारी जीव में प्रतिसमय परिस्पंदनात्मक क्रिया होती रहती है, उससे अचेतन द्रव्य आकर्षित होकर आत्मा के साथ संश्लिष्ट हो जाता है और एक निश्चित अवधि के पश्चात् अपना फल देता है। उसके कारण अच्छी -बुरी योनियों में

जीव उत्पन्न होता है। यदि कर्म नहीं होते तो जैविक सृष्टि में विविधता भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

कुछ और भी ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान पुनर्जन्म की स्वीकृति के बिना संभव नहीं है। माता-पिता के आचार -विचार, व्यवहार, पारिवारिक वातावरण समान होने पर भी व्यक्तियों में अन्तर कैसे ? उनकी भिन्नता का कारण क्या है ?

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का कारण आनुवांशिकता तथा परिवेश माना जाता है ये दोनों व्यक्ति के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण कारक हैं। पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक आदि परिस्थितियां सभी परिवेश के अन्तर्गत आ जाती हैं। आनुवंशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीन्स का एक समुच्चय है। व्यक्ति की मानसिक तथा शारीरिक क्षमताएं उसी में सन्निहित हैं किन्तु उन्हें भी मूल कारण नहीं माना जा सकता। कोई आनुवांशिकता भी व्यक्ति के पूर्व कर्मों से अप्रभावित नहीं है। ज्ञातव्य है कि प्रत्येक जीन में 60 लाख आदेश अंकित होते हैं। प्रश्न होता है कि इन आदेशों में कौनसा सक्रिय होगा और कौनसा निष्क्रिय होगा। ये आदेश कहां से आएं ? मनोविज्ञान के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। कर्मशास्त्र में इसका समाधान खोजा सकता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार ये आदेश कर्म शरीर के संवादी केन्द्र कहे जा सकते हैं। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार सारे आदेश और निर्देश कर्म शरीर से प्राप्त होते हैं।

जो शक्ति, प्रतिभा, विलक्षणता भगवान महावीर और भगवान बुद्ध में थी वह न तो वर्तमान जीवन का परिणाम है, न वातावरण और परिस्थिति का योगदान। यह पूर्व जन्म के संचित संस्कारों का फलित है।

क्रिया की प्रतिक्रिया, ध्वनि की प्रतिध्वनि, बिम्ब का प्रतिबिम्ब निश्चित देखा जाता है। कर्म का कर्ता स्वयं व्यक्ति है, परिणाम प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होता हैं।

पूर्वजन्म की स्मृति पुनर्जन्म का ठोस आधार हैं। जैनागमों में उल्लेख है - पूर्व भव के स्मरण से नारक जीवों का वैर दृढ़तर हो जाता है।[4]

भगवान महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति, आदि में मिलता है। कल्पसूत्र की टीकाओं में सत्ताईस भवों का विवेचन है। पार्श्वनाथ के दस भवों की विवेचना त्रिषष्टि श्लाका पुरूष चरित्र, कल्पसूत्र की टीका आदि में मिलता है।

भगवान पार्श्व के साथ कमठासुर की वैर परम्परा कई जन्मों तक बनी रही है।[5] उत्तराध्ययन सूत्र का नमि प्रव्रज्या,[6] चित्तसंभूतीय[7] मृगापुत्र[8] इक्षुकारीय[9] आदि घटनाएं पुनर्जन्म के अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

पुनर्जन्म स्मृति के कारण

पूर्वजन्म या पुनर्जन्म में जिनका विश्वास नहीं है, उनके विशेष रूप से दो तर्क हैं -

1. यदि पूर्व भव है तो स्मृति क्यों नहीं ?
2. आत्मा की गति-आगति दिखाई क्यों नहीं देती ?

इस संदर्भ में विचारणीय तथ्य यह है कि - भूतकाल की स्मृति नहीं होने मात्र से पूर्व जन्म का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दैनन्दिन की घटनाएं भी जब विस्मृत हो जाती हैं तो पूर्व जन्म की घटनाओं का याद रहना अनिवार्य नहीं है। उनकी विस्मृति स्वाभाविक है। स्मृति का हेतुभूत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भी सबका समान नहीं होता।

आत्मा के प्रत्यक्ष न होने के दो कारण हैं– 1. आत्मा अमूर्त्त है 2. आत्मा सूक्ष्म है। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र - गण अदृश्य हो जाते हैं किन्तु इससे उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही हमारे जानने की क्षमता की कमी के कारण किसी सत् पदार्थ का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।

शरीर शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु बदल जाते हैं, नये अवयव बन जाते हैं। इस आमूलचूल परिवर्तन में भी आत्मा का विनाश नहीं होता तब मृत्यु के बाद अस्तित्व कैसे समाप्त हो सकता है?

आत्मा की गति-आगति नहीं दीखती। किन्तु नहीं दीखने मात्र से वस्तु का अभाव नहीं हो जाता। परिवर्तन पदार्थ का धर्म है। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्व जन्म और उत्तर जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं।

आचारांग भाष्य में पूर्वजन्म की स्मृति के चार कारणों का निर्देश है - 1. मोहनीय कर्म का उपशम 2. अध्यवसान शुद्धि 3. ईहापोह 4. मार्गणा - गवेषणा। कुछ व्यक्तियों को जन्म-जात पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती किन्तु निमित्त मिलने पर जागृत हो जाती है। सुश्रुत संहिता में भी कहा है– शास्त्राभ्यास के द्वारा भावित अंत: करण वाले मनुष्य को पूर्व जन्म की स्मृति हो जाती है–

'य भावित : पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सच्च भूयिष्ठा : पूर्वजातिस्मरा नरा :।[10(क)]

आज वैज्ञानिक जगत् में चर्चित प्रोटोप्लाज्मा की अवधारणा से आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म– ये दोनों सिद्धांत अधिक पुष्ट होते हैं। प्रोटोप्लाज्मा की उपलब्धि के कारण परामनोवैज्ञानिकों को भी आत्मा की अमरता के विषय में सोचने के लिये विवश होना पड़ा।

जैनेतर धर्म दर्शनों में पुनर्जन्मवाद

पाश्चात्य दार्शनिकों में स्पिनोजा, रूसो, हेगल, इमर्सन, शैनिंग, पाइथेगोरस, सुकरात, प्लेटो, प्लूटार्क, प्लाटीनस आदि के विचारों से भी पुनर्जन्म की पुष्टि होती हैं।

सांख्य दर्शनानुसार पुरूष (आत्मा) अपने शुभाशुभ कर्मों के फल स्वरूप अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है।[10(ख)] शुभाशुभ कर्मों के संवाहक-सूक्ष्म या लिंग शरीर का निर्माण-पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं, बुद्धि और अहंकार से होता है।[11]

सूक्ष्म शरीर आत्मा का लिंग है, जो संसारी प्राणी का सहचारी है। यही पुनर्जन्म का आधार है। लिंग-शरीर के निमित्त से पुरूष का प्रकृति के साथ संयोग होता है और यहीं से जन्म-मरण का चक्र प्रारंभ हो जाता है। सांख्य दर्शन में आत्मा को व्यापक माना गया है। अत: उसका स्थान परिवर्तन नहीं हो सकता। एक प्रश्न उठता है फिर पुनर्जन्म कैसे ? इस शंका के निरसन के लिये उन्हें सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को मानना पड़ा।

न्याय - वैशेषिकों में आत्मा (पुरूष) का पुनर्जन्म नहीं होता बल्कि लिंग - शरीर का ही पुनर्जन्म होता है। आत्मा के मुक्त होने पर वह अलग हो जाता है। वैशेषिक दर्शन ने इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाया है कि इच्छा और द्वेष पूर्वक की जाने वाली क्रिया अपना फल देती है। क्रिया क्षणिक है, जन्मान्तर में उसका फल कैसे प्राप्त होता है ? इसका समाधान अदृष्ट की कल्पना से किया है, जो एक प्रकार से कर्म तत्त्व ही है।

कर्म और पुनर्जन्म के संदर्भ में महर्षि पतंजलि का कहना है कि कर्म और भोग में सैकड़ों, हजारों जातियों, देशिक दूरी और करोड़ों कल्पों का अन्तर रह जाता है। किन्तु इससे उनके आनंतर्य में कुछ बाधा नहीं आती। उनका सामंजस्य बना रहता है। [12]

योग दर्शन के अनुसार जब तक क्लेश रूप जड़ विद्यमान है तब तक कर्माशय के

विपाक के फलस्वरूप जाति, आयु और भोग होता है। क्लेश जड़ है। इससे कर्माशय का वृक्ष बढ़ता है। जाति, आयु आदि उसके फल हैं। फल तब तक ही लगते हैं जब तक क्लेश रूपी जड़ विद्यमान है।[13] मनुष्य, पशु, देव, आदि के रूप में उत्पन्न होना जाति कहलाती है। लम्बे समय तक जीवात्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध का नाम आयु है। इन्द्रियों के विषय-रस, रूपादि का सेवन भोग है।

सामान्यत: बौद्ध दर्शन अनात्मवादी दर्शन कहलाता है किन्तु पालि त्रिपिटक के अनुसार बुद्ध ने भी कर्म को पुनर्जन्म का कारण माना है।[14] उनके अभिमत से कुशल कर्म सुगति और अकुशल कर्म दुर्गति का हेतु है।[15] प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत, जिसे भवचक्र कहा जाता है, पुनर्जन्म की संपूर्ण व्याख्या करता है। उसके अनुसार अविद्या एवं संस्कार पुनर्जन्म के मूल हैं। अविद्या का अर्थ अज्ञान या मिथ्याज्ञान है। अविद्या संस्कार की जनक है। संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप उत्पन्न होता है। नाम-रूप से षडायतन (5 इन्द्रिय, मन)। षडायतन स्पर्श का कारण है, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से लालसा का आविर्भाव होता है जो भव चक्र का उपादान है।

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों ने अनेक युक्तियों द्वारा पुनर्जन्म को सिद्ध किया है। वेद[16] उपनिषद[17] स्मृति[18] गीता[19] और जैन साहित्य में वर्णित पुनर्जन्म की घटनाओं से इस सिद्धांत का समर्थन होता है।[20]

क्रिया, कर्म और पुनर्जन्म का सूक्ष्म और गहरा चिन्तन जैन दर्शन की विशिष्टता का परिचायक है। जीवन की समस्त समस्याओं के विश्लेषण में कर्म तत्त्व की प्रधानता को नजरअन्दाज न करना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। जैन दृष्टि से पुनर्जन्म का मूल आधार है– कर्म शरीर। कर्म शरीर का मूल है– कषाय। कषाय से उसका अभिसिंचन होता है। परिणामस्वरूप पुनर्जन्म की श्रृंखला बढ़ती जाती है। जैनागमों में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तथा वृक्षों का भी पुनर्जन्म माना गया है। वृक्ष का जीव मृत्यु के अनन्तर मनुष्य भी बन सकता है। इस प्रसंग में भगवती का संवाद विशेष मननीय है।[21]

देहधारी जीव अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार ही फल पाता है।[22] जैसे - टी.वी. और हाई फ्रिक्वेन्सी वाली विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का सम्बन्ध है। टी.वी. सेट में आई हुई अनेक प्रकार की ट्यून्स, ट्रान्सफोर्मर चित्र और ध्वनि को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। उसी प्रकार शरीर भी आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम है। शरीर और आत्मा का आधार तथा आधेय संबध है। शरीर में चेतना शक्ति टी.वी. सेट में रही हुई

फ्रिक्वेन्सी वाली विद्युत तरंग की तरह काम करती है। शरीर का रूपान्तरण होने पर भी ज्ञान, अनुभूति, स्मृति आदि के रूप में तरंगें विद्यमान रहती हैं। टी.वी. सेट से टी.वी. की तरंगें भिन्न है, यह स्पष्ट है वैसे ही शरीर से चैतन्य भिन्न है।

सभी आस्तिक दर्शन इस बात से सहमत हैं कि पुराने संस्कार जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। समय समय पर वे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त होते हैं। वर्तमान में मानव जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करता है, उसका परिणाम इस जन्म में, अगले जन्म में या किसी भी जन्म में अवश्य मिलता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है– जन्म जात शिशु का हंसना, रोना आदि प्रवृत्तियां।[23]

आक्सीजन प्राण पोषक तत्त्व है, हाईड्रोजन प्राणनाशक ये दोनों विरोधी हैं किन्तु उनके संयोग से जल जैसे जीवनोपयोगी तत्त्व का निर्माण होता है। उसी प्रकार आत्मा और शरीर विरोधी है फिर भी इनका संयोग जन्म-मृत्यु की परम्परा को आगे बढ़ाता है।[24]

प्रवृत्ति और परिणाम को अलग नहीं किया जा सकता। जो परिणाम दृश्य है उनके पीछे कोई-न-कोई प्रवृत्ति होती है। आज की प्रवृत्ति अतीत का परिणाम है। उसी प्रकार वर्तमान की प्रवृत्ति का परिणाम है– भविष्य। वर्तमान अतीत से जुड़ा है इसलिये वह परिणाम भी है। वह कार्य और कारण दोनों है। वर्तमान का जितना महत्त्व है उतना ही अतीत का भी है।

पुनर्जन्म तब तक होता है जब तक क्रिया रूपी कारण और उसके परिणाम रूपी कर्म की सत्ता है। उसकी सत्ता समाप्त होने पर जन्म-मरण का चक्र भी रूक जाता है। जन्म और मृत्यु से साक्षात् करने का तत्त्वदर्शी पुरूषों ने अभ्यास किया। उन्होंनें पाया जन्म-मृत्यु का प्रवाह चिरन्तन है। अनुभूति के बाद भगवान महावीर ने कहा - कुछ मनुष्यों को पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान होता है, कुछ को नहीं। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का यह प्रश्न क्रियावादी, आत्मवादी के लिये ही नहीं, अपितु प्रत्येक चिंतनशील मनुष्य के लिये महत्त्वपूर्ण है।

पुनर्जन्म के साधक प्रमाण

भारतीय चिन्तकों ने अनेक युक्तियों से पुनर्जन्म को सिद्ध किया है–

स्मृति– यह पुनर्जन्म की सिद्धि का एक बड़ा साक्ष्य है। तत्काल उत्पन्न शिशु में हर्ष, भय, स्तनपान आदि क्रिया देखी जाती है। उसने इस जन्म में हर्षादि की अनुभूति

नहीं की। ये सब क्रियाएं पूर्वाभ्यास का ही परिणाम है।[25] जिस प्रकार एक युवक का शरीर शिशु की उत्तरवर्ती अवस्था है। उसी प्रकार शिशु का शरीर पूर्वजन्म की उत्तरवर्ती अवस्था है।[26] यदि इसे स्वीकार न किया जाये तो पूर्वजन्म में भुक्त और अनुभूत का स्मरण न होने से सद्य:जात शिशु में भयादि प्रवृत्तियां संभव नहीं है। इससे सिद्ध है कि पुनर्जन्म की सत्ता है।

राग-द्वेष की प्रवृत्ति– प्राणियों में सांसारिक विषयों के प्रति राग - द्वेषात्मक प्रवृत्ति का होना भी पुनर्जन्म की सिद्धि का सूचक है।

जीवन स्तर– विभिन्न जीवों का शरीर, रूप, आयु आदि समान नहीं होते और न ही उनके भोगादि के सुख -साधन ही समान होते हैं। सबका जीवन स्तर भिन्न-भिन्न होता है। जीवों में व्याप्त विषमता किसी अदृश्य कारण की ओर संकेत करती है।[27] वह दृश्य कारण पूर्वकृत कर्म है जिसे भोगने के लिये दूसरा जन्म लेना पड़ता है।

आत्मा का नित्यत्व– भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना है। मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।[28]आत्मा नित्य होने से स्पष्ट है कि वह कर्मानुसार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करती है। दूसरे शरीर का धारण ही पुनर्जन्म है।

प्रत्यभिज्ञान– प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। इसमें अहसास होता है कि मैं वही हूं या अमुक वस्तु वही है।[29] इससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है। जैन दर्शन के अनुसार देवों के वर्गीकरण में एक प्रकार के देव व्यन्तर कहलाते हैं। जिनमें यक्ष, राक्षस, भूतादि आते हैं। व्यंतर देव प्राय: यह कहते हुए सुने जाते हैं कि ' मैं वही हूं, जो पहले अमुक था।[30] यदि पुनर्जन्म नहीं है तो उन्हें इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं हो सकता।

पूर्वभव-स्मरण– नारक जीवों के दु:खों का वर्णन करते हुए पूज्यपाद ने कहा– पूर्वभव के स्मरण से उनका वैर दृढ़तर हो जाता है। जिससे वे कुत्ते, गीदड़ की तरह एक दूसरे का घात करने लगते हैं।[31]

इन हेतुओं के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियों द्वारा पुनर्जन्म को प्रमाणित किया जाता है। परामनोविज्ञान में भी इस प्रकार के तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। कर्मवाद और पुनर्जन्म प्रक्रिया के ज्ञान से जीव को नैतिक बनने की प्रेरणा ही नहीं मिलती बल्कि वह शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील भी बन जाता है।

क्रिया और कर्मफल विचार

कर्म और उसके फल (विपाक) की परम्परा से यह संसार-चक्र निरन्तर गतिशील है। कर्म-सिद्धांत की मुख्य रूप से तीन मान्यताएं हैं–

1. प्रत्येक क्रिया का अपना परिणाम होता है।
2. उस परिणाम की अनुभूति वही व्यक्ति करता है जिसने कर्म किया है।
3. कर्म और उसके फल की प्रक्रिया अनादिकालीन है।

कर्म फल का आधार : प्राकृतिक नियम

व्यवहार जगत् में क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य देखी जाती हैं। दीवार पर गेंद को जितनी शक्ति से फेंकते है उतनी ही शक्ति से वह लौट आती है। गेंद फेंकना क्रिया है। लौट आना प्रतिक्रिया है। पहाड़ या किसी गुम्बज पर खड़े होकर आवाज करते हैं, प्रतिध्वनि के रूप में वह पुन: लौट जाती है। आवाज देना क्रिया है, प्रतिध्वनि प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया के समय और स्वरूप में अन्तर हो सकता है किन्तु यह निश्चित है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कर्म क्रिया है। कर्मफल, प्रतिक्रिया है। प्राकृतिक नियमों की तरह कर्म और कर्मफल की व्यवस्था भी निश्चित है।

कृत कर्म का एक बार नहीं अनेक बार भी भोग किया जा सकता है। उसका कारण बंधन के हेतुभूत भावों की तीव्रता है।

कालोदायी अणगार भगवान महावीर से पूछते हैं - भंते ! जीवों के किए हुए पाप कर्मों का परिपाक क्या पापकारी होता है ? भगवान ने कहा– हां, होता है।

कालोदायी– कैसे होता है ?

भगवान महावीर– कालोदायी ! जैसे कोई पुरूष मनोज्ञ स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह आपातभद्र है किन्तु परिणाम भद्र नहीं है। वैसे ही प्राणातिपात आदि अठारह पाप कर्म का सेवन आपातभद्र संभव हैं किन्तु परिणाम भद्र नहीं।

कालोदायी– भंते ! कल्याणकारी कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?

भगवान महावीर– हां, होता है।

कालोदायी– कैसे ?

भगवान महावीर– जैसे कोई मनुष्य मनोज्ञ, स्थालीपाक, शुद्ध, अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नहीं लगता किन्तु परिणमन होने पर उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है। वह परिणामभद्र होता है। कालोदायी ! उसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् अठारह पापों से विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणामभद्र होती है।[32] प्राणी को उसके कर्मानुसार ही फल की प्राप्ति होती है।[33]

मरते समय मनुष्य के दु:ख का ज्ञातिजन, सगे-सम्बन्धी, मित्र-पुत्र, भाई कोई भी विभाग नहीं लेते। जीव अकेला ही भोगता है क्योंकि किया हुआ कर्म सदा अपने कर्ता का अनुगमन करता है। [34(क)] उत्तराध्ययन में इस विषय में कहा है कि किए हुए कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। जिस प्रकार चोरी करते समय पकड़ा हुआ चोर अपने कर्म के कारण दु:ख भोगता है, उसी प्रकार जीव इहलोक और परलोक में अपने किए हुए कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं पा सकता।[34(ख)]

कर्म विपाक– जीव विपाकी, पुद्गल विपाकी, भव विपाकी, क्षेत्र विपाकी ऐसे चार प्रकार हैं–

जीव विपाकी– जिन प्रकृतियों के उदय से जीव के स्वभाव पर सीधा प्रभाव पड़ता है, वह जीव विपाकी है।

पुद्गल विपाकी– शरीर पुद्गल से निर्मित है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित प्रकृतियां पुद्गल विपाकी है।

भव विपाकी– आयु कर्म की नरकादि चारों प्रकृतियों का विपाक भव विपाक है।

क्षेत्र विपाकी– नरकादि आनुपूर्वी नामक चार कर्म-प्रकृतियां नरकादि की ओर ही जीव की गति कराती है। ये क्षेत्र से सम्बन्धित होने से क्षेत्र विपाकी हैं।

जैन दृष्टि में कर्म-फल की नियतता-अनियतता

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि जिन कर्मों का बंध हुआ, उनका फल निश्चित होता है या परिवर्तित (अन्यथा) भी हो सकता है ? इस संदर्भ में जैन कर्म-सिद्धांत में कर्मों को दो भागों में विभक्त किया गया है– नियत विपाकी और अनियत विपाकी। कुछ कर्मों का फल निश्चित है। कुछ कर्मों का फल अनियत है। जिन कर्मों के बंधन में कषायों की तीव्रता होती है, उनका बंध प्रगाढ़ होता है। उनका फल भी नियत होता है। तात्त्विक शब्दावली में उन्हें निकाचित कर्म कहा जाता है।

इससे विपरीत जिन कर्मों के सम्पादन में कषाय की मन्दता होती है, उनका बंधन शिथिल होता है। उनके विपाक का संवेदन आवश्यक नहीं होता। ये अनियत विपाकी होते हैं। उनके फल में तपस्या आदि सत्साधनों से परिवर्तन भी किया जा सकता है।

कर्म-फल में परिवर्तन का सिद्धांत अनेकान्त दृष्टि से ही समझा जा सकता है। उन्हीं कर्मों के फल में परिवर्तन संभव है जिनका बंध अनियत विपाकी हो। नियत विपाकी का भोग अनिवार्य है। नियत और अनियत के पीछे भी विभज्यवादी दृष्टिकोण रहा है। यदि एकान्तत: कर्म-विपाक की नियतता को स्वीकार करें तो आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा होता है क्योंकि नियत को बदलना संभव नहीं है। यदि एकान्तत: अनियत विपाकी माना जाये तो नैतिक व्यवस्था की कोई मूल्यवत्ता नहीं रह जाती। अत: नियत-अनियत विपाकी मानना ही तर्क संगत है।

अन्य दर्शनों में कर्म-फल की नियतता-अनियतता

न्याय वार्तिककार के अभिमत से कर्म का फल अनियत है। उनके मत में नियम नहीं कि कर्म का फल इस लोक, परलोक या जन्मान्तर में ही मिलता है। कर्म अपना फल उस स्थिति में देते हैं जब सहकारी कारणों का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणों में भी कोई प्रतिबन्धक न हो। समान भोग वाले अन्य प्राणियों के विद्यमान कर्म द्वारा भी कर्म की फल शक्ति के प्रतिबंध की संभावना है। कर्म की गति दुर्विज्ञेय है। सामान्य मनुष्य को इस प्रक्रिया का बोध नहीं होता।[35(क)]

बौद्ध दर्शन में कर्मों के विपाक की नियतता और अनियतता पर विमर्श किया गया है। दोनों प्रकार के कर्म उन्हें मान्य हैं। कुछ बौद्ध आचार्यों ने नियत विपाकी और अनियत विपाकी कर्मों को चार-चार भागों में विभक्त किया है।[35(ख)]

(अ) नियत विपाकी

1. दृष्ट धर्म वेदनीय कर्म – जिसका फल उसी जन्म में अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है।

2. उपपद्य वेदनीय कर्म – जिसका फल उस जन्म के पश्चात् होने वाले जन्म में अनिवार्य रूप से मिलता है।

3. अपर पर्याय वेदनीय कर्म – जो विलम्ब से फल देता है।

4. अनियत वेदनीय किन्तु नियत विपाक कर्म – जिसका स्वभाव बदला

जा सकता है किन्तु उसका भोग अनिवार्य है। यह कर्म जैन दर्शन में मान्य संक्रमण नामक कर्म, अवस्था से साम्य रखता है।

(ब) अनियत विपाकी

1. दृष्ट धर्म वेदनीय– वह कर्म, जिसका फल इसी जन्म में मिलता है किन्तु फल - भोग आवश्यक नहीं।

2. उपपद्य वेदनीय– वह कर्म, जो उपपन्न होकर समन्तर जन्म में फल देने वाला है किन्तु उसका फल भोग हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

3. अपर पर्याय वेदनीय– वह कर्म, जो विलम्ब से फल देने वाला है किन्तु उसका फल-भोग आवश्यक नहीं है।

4. अनियत वेदनीय– अनियत विपाकी वह कर्म है, जो अनुभूति और विपाक दोनों दृष्टियों से अनियत है।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में वर्णित नियतता-अनियतता की तुलना जैन कर्म-सिद्धांत के निकाचित एवं दलिक कर्मों के साथ की जा सकती है।

बौद्धों में फलगत विविधता के कारण कर्म के आधार पर जनक, उत्थम्भक, उपपीड़क, उपघातक ऐसे चार प्रकार और उल्लिखित हैं -

जनक– नये जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है।

उत्थम्भक–अपना विपाक प्रदान न कर दूसरों के विपाक में सहायक बन जाता है।

उपपीडक– अन्य कर्मों के विपाक में बाधक बनता है।

उपघातक– अन्य कर्मों के विपाक का घात कर अपना ही विपाक प्रकट करता है।[36]

फलदान के क्रम को लक्षित कर अन्य चार प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है।

गरूक, बहुल अथवा आचिण्ण, आसन्न तथा अभ्यस्त। इनमें गरूक तथा बहुल दूसरों के विपाक को रोककर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न का अर्थ है– मृत्यु के समय किया गया। वह भी पूर्व कर्म की अपेक्षा अपना फल पहले दे देता है। मरणकाल के समय कर्मानुसार शीघ्र ही नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कर्म इन तीनों के अभाव में फल दे सकता है।[37]

योग दर्शन के अनुसार कर्म का विपाक जाति, आयु और भोग के रूप में तीन होता है। जैसा की पूर्व में स्पष्ट किया गया– जाति पद मनुष्य, पशु, देव आदि योनियों का सूचक है। एक निश्चित अवधि तक प्राण या देह के संयोग की सूचना आयु पद से है। भोग शब्द सुख-दुःख रूप अनुभूति का अभिव्यंजक है। योग सम्मत तीनों पद एक दूसरे से इतने संबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे की कल्पना करना अशक्य है, कारण स्पष्ट है कि कृतकर्मों के फल-भोग के लिये आयु जरूरी है। आयु धारण में जन्म जरूरी है।

योग दर्शन सम्मत नियत-विपाकी कर्म जैन दर्शन सम्मत कर्म की दो अवस्थाओं, निकाचित और संक्रमण से तुलनीय हैं तथा अनियत-विपाकी कुछ कर्मों की तुलना प्रदेशोदय से संभव है।

योग दर्शन में क्लेश की चार अवस्थाओं का भी वर्णन है– प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।[38] उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी तुलना मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम और उदय के साथ की है।[39]

वैदिक दर्शन के अनुसार– जिस प्रकार गाय का बछड़ा हजारों गायों में भी अपनी मां को ढूंढ लेता है और उसका अनुगमन करता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ता का अनुसरण करता हैं।[40]

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार उदान प्राण जीव को शुभ - कर्मों के कारण पुण्यलोक में ले जाते हैं। अशुभ कर्म पापलोक - नरक में और दोनों प्रकार के कर्म जीव को मनुष्य लोक में ले जाते हैं।[41] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार जो जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता है, वही उनको भोगने वाला है।[42] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार जो प्राणी जिस प्रकार का कर्म करता है, वह उसी प्रकार का बन जाता है। अच्छा कर्म करने वाला अच्छा तथा बुरा करने वाला बुरा बनता है।[43]

कर्मफल की समय-सीमा

एक व्यक्ति कर्म का बंध करता है, उस का फल भोगता है किन्तु कब भोगता है? इसी जन्म में या आगामी जन्म में ? इस प्रश्न के संदर्भ में चूर्णिकार ने कई विकल्प प्रस्तुत किये हैं–

इस लोक में कर्म किया और इसी लोक में फल प्राप्त हो जाता है।

इस लोक में कर्म किया, पर लोक में विपाक होता है।

परलोक में कर्म किया, इस लोक में विपाक होता है।

परलोक में कर्म किया, परलोक में ही उसका विपाक होता है।

एक व्यक्ति ने किसी का शिरच्छेदन किया। फल प्राप्त कर मृत व्यक्ति के पुत्र ने उसे मार डाला, यह पहला विकल्प है। इस जन्म में कर्म किया, यहीं फल प्राप्त कर लिया।

किसी ने चलते हुए व्यक्ति को मार डाला। परलोक में मृत व्यक्ति उसे मार डालता है। यह दूसरा विकल्प है।

कोई व्यक्ति धार्मिक है अथवा नीति निष्ठ है; प्राणी मात्र के प्रति करूणाशील है। अचानक वज्रपात होता है। पत्नी या पुत्र का देहावसान होने से दुःखी हो जाता है। यह परलोक कृत कर्म का फल भोग है। जैन आगम विपाक सूत्र में मृगालोढ़ा का जीवन इस तथ्य का प्रमाण है। राजघराने में जन्म लिया किन्तु लोढ़े जैसा। न मरा हुआ, न जिंदा। न आदमी, न पत्थर। उसकी अवस्था विचित्र थी। शरीर की बदबू असह्य थी। पूर्वजन्म के कटु कर्मों के परिणाम स्वरूप ऐसा जीवन प्राप्त हुआ था। कर्म विपाक की विचित्रता हेतु प्रज्ञापना का ' कर्मपद' पठनीय है। वहां कर्म विपाक के कई कारणों का उल्लेख है। उसके अनुसार गति, स्थिति, भव, पुद्गल, पुद्गल, परिणाम ये सारे कर्म विपाक के कारण हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि भी कर्म विपाक में निमित्त बनते हैं। इनका भी कर्म विपाक से गहरा सम्बन्ध है।

विपाक के तथाविपाक और अन्यथाविपाक के रूप में अन्य दो प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है--

तथाविपाक-- इसका तात्पर्य है जिस रूप में कर्म किया उसी रूप में फल भोगना।

अन्यथाविपाक-- एक ने शो-रूम में आग लगा दी, दूसरे ने पहले वाले का घर लुटवा दिया, यह अन्यथा-विपाक है।

जैन और योग दर्शन दोनों में सोपक्रम और निरूपक्रम के भेद से आयु विपाक को स्वीकार किया है। किसी बाह्य निमित्त से आयु समाप्त हो जाती है उसे सोपक्रम और किसी निमित्त के मिलने पर भी समाप्त न हो उसे निरूपक्रम कहते हैं।

जैन दर्शनानुसार कृत कर्मों का फल भोग निश्चित है किन्तु कर्म की स्थिति, शक्ति, रस आदि को कम, अधिक या परिवर्तित किया जा सकता है। नियत विपाकी कर्मों में परिवर्तन की संभावना नहीं। अनियत विपाकी में परिवर्तन संभव है। जैन कर्म-

सिद्धांत के अन्तर्गत संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा एवं उपशम आदि कर्म की अवस्थाएं कर्मफल की अनियतता की ओर संकेत करती है।

गति - आगति

कर्मों के विपाक को भारतीय चिन्तकों ने दो भागों में विभक्त किया है– शुभ -अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल। बौद्ध[44] सांख्य[45] योग[46] न्याय वैशेषिक[47] उपनिषद्[48] जैन[49] आदि सभी में इन दो भेदों की चर्चा है। मनुस्मृति में भी कहा गया है - मन - वचन और शरीर के शुभाशुभ कर्म - फल के कारण मनुष्य को उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है।[50]

जीव	गति	आगति
नैरयिक	मनुष्य, पंचेन्द्रिय- तिर्यञ्च	मनुष्य,पंचेन्द्रिय- तिर्यञ्च
असुर कुमार	मनुष्य, पंचेन्द्रिय- तिर्यञ्च	मनुष्य,पंचेन्द्रिय- तिर्यञ्च
पृथ्वीकायिक	पृथ्वीकाय या अन्य योनि	पृथ्वीकाय या अन्य योनि
अप्काय से मनुष्य तक	अपनी-अपनी काया या अन्य योनि	अपनी-अपनी काया या अन्य योनि

जीवों की गति और आगति कर्मों के आधार पर होती है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्म हैं। प्रत्येक कर्म का पृथक्-पृथक् कार्य है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो कर्म आवारक हैं। ये आत्मा की ज्ञान तथा दर्शन शक्ति को आवृत्त करते हैं। मोहनीय कर्म विकारक है। अन्तराय कर्म आत्मा के वीर्य का प्रतिघात करता है। आत्म-स्वरूप को प्रभावित करने वाले ये चार कर्म घातिकर्म कहलाते हैं।

चार कर्म जीव के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जैसे - शरीर रचना का मुख्य हेतु नाम कर्म है। इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं। गति नाम कर्म के प्रभाव से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च आदि गतियों में जाता है। सुख-दुःख के संवेदन का हेतु वेदनीय कर्म है। गोत्र कर्म प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का हेतु है। जीव की आयु सीमा का निर्धारण आयुष्य कर्म से होता है। पन्नवणा पद छह के अनुसार सामान्यत: चारों गतियों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त उपपात-विरहकाल एवं उद्वर्तना-विरहकाल है।

उपपात से तात्पर्य किसी अन्य गति से मरकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव या सिद्ध रूप में उत्पन्न होना है। विरहकाल का तात्पर्य उतने समय तक नरक आदि में किसी नये

नारक आदि का उत्पन्न नहीं होना है। नरकादि किसी गति से निकलना उद्वर्तना है। नरकादि में न्युनतम (जघन्य) एक समय, अधिकतम (उत्कृष्ट) 12 मुहूर्त्त तक उपपात नहीं होता है। उसके बाद अवश्य ही कोई न कोई प्राणी उत्पन्न होता है। यह सामान्य रूप से नरक गति के विषय में कहा है। किन्तु जब रत्नप्रभा आदि एक-एक नरक के उपपात की विवक्षा की जाती है तब वह 24 मुहूर्त्त का भी होता है। अन्य गतियों के लिये भी इसी प्रकार ज्ञातव्य है। सिद्धगति का उपपात-विरहकाल उत्कृष्टत: छह माह का होता है। सिद्ध गति में उपपात है, उद्वर्तना नहीं है।

आयुष्य कर्म के बंधन का कारण शील और व्रत से रहित होना है।[51] किस प्रकार का आचरण करने से कैसा जीवन प्राप्त होता है– जैनागमों में इसका निर्देश है। स्थानांग सूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य बंध के चार-चार कारण निर्दिष्ट हैं।[52]

नारकीय जीवन-प्राप्ति के कारण

1. महारम्भ (क्रूरतापूर्ण हिंसक कर्म)
2. महापरिग्रह (अत्यधिक संग्रह)
3. पंचेन्द्रिय वध (मनुष्य-पशु आदि का वध करना)
4. मांसाहार तथा मद्य आदि नशीले पदार्थों का सेवन

तिर्यञ्च जीवन-प्राप्ति के कारण

1. माया (माया, प्रवंचना)
2. गूढ़ माया (एक झूठ को छिपाने के लिए दूसरा झूठ बोलना)
3. असत्य भाषण
4. कूट तोल-कूट माप

मनुष्य जीवन-प्राप्ति के कारण

1. सरलता (प्रकृति से सरल होना)
2. विनयशीलता (प्रकृति से विनीत होना)
3. करूणा, दया होना
4. अहंकार, मात्सर्य से रहित होना (ईर्ष्या न करना)

देव-आयुष्य प्राप्ति के कारण

1. सराग संयम– अवीतराग दशा में होने वाली संयम-साधना
2. संयम का आंशिक पालन– श्रावक धर्म का पालन करना
3. बाल तपस्या– मिथ्यात्वी की तपस्या
4. अकाम निर्जरा– मोक्ष की इच्छा के अभाव में की जाने वाली तपस्या से होनेवाली आत्मशुद्धि।

आयुष्य बंध के कारण

आयुष्य के पुद्गलों से जीवनी-शक्ति का निर्माण होता है। अगले जन्म के आयुष्य का बंध वर्तमान में हो जाता है।[53] आयुष्य के बंध काल में छह अन्य कर्म-प्रकृतियों का भी बंध होता है।उनसे जीवन के विभिन्न पक्ष निर्धारित होते है। उदाहरणार्थ– आयुष्य के साथ जाति, गति, स्थिति, अवगाहना, प्रदेश आदि का भी बंध होता है।

जाति नामकर्म से निश्चित होता है कि जन्म लेने वाला एकेन्द्रिय होगा या पंचेन्द्रिय।

गति नामकर्म से यह निश्चित होता है कि प्राणी नरक गति में जायेगा या स्वर्ग में।

स्थिति नाम कर्म से जीवन की कालावधि निश्चित होती है।

अवगाहना नाम कर्म से औदारिक आदि शरीर का निर्माण होता है।

प्रदेश नाम कर्म से आयुष्य कर्म के पुद्गलों का परिमाण निश्चित होता है।

अनुभाग नाम कर्म से आयुष्य कर्म के पुद्गलों के विपाक (फल दान शक्ति) का निर्धारण होता है।

आयुष्य कर्म के उदय का पहला क्षण नये जीवन का पहला क्षण है। उसके साथ ही जाति, गति नामकर्म का उदय प्रारंभ हो जाता है। ये आयुष्य के सहचारी हैं। आयुष्य के उदय के साथ उनका उदय और विराम के साथ उनका भी विराम हो जाता है।

कर्म-बंध के क्षण में जाति आदि नामकर्म का निधत्त अथवा निषिक्त होता है। इसलिये आयुष्य का फल विभिन्न प्रकार का बन गया। जैसे– जाति नाम निषिक्त-आयुष्य आदि।

कर्म उदय की एक विशेष व्यवस्था है। सभी कर्म पुद्गलों का एक साथ उदय नहीं होता। एक साथ उदय हो जाये तो दूसरा क्षण कर्म विपाक से शून्य हो जायेगा, स्थिति बंध की भी व्यर्थता सिद्ध होगी। कर्म के उदय की प्राकृतिक व्यवस्था यह है कि फल देने वाले पुद्गलों के निषेक बन जाते हैं। निषेक प्रतिक्षण अनुभव में आने योग्य कर्म पुद्गलों की विशिष्ट रचना होती है।[54] विपाक की पूर्ववर्ती अवस्था में निषेक की द्रव्यराशि अधिक होती है, उत्तर अवस्था में कम हो जाती है। कर्म स्थिति समाप्त होने तक निषेक-व्यवस्था सक्रिय रहती है।[55]

आयुष्य गति, स्थिति, जाति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाग इन छह प्रकारों में जाति, गति– ये दो नामकर्म की प्रकृतियां हैं। अवगाहना का नाम उत्तर प्रकृतियों में नहीं आता।[56] यद्यपि स्थिति, प्रदेश, अनुभाग का भी नाम-कर्म की उत्तर प्रकृतियों में उल्लेख नहीं है किन्तु नाम-कर्म की निर्दिष्ट उत्तर प्रकृतियों के अतिरिक्त अन्य अनेक उत्तर प्रकृतियां हो सकती हैं।[57] इसी कारण इन सबको नामकर्म के अन्तर्गत मान लिया गया है।

आयुष्य का बंध अज्ञात अवस्था में होता है। इसका बंध कब होता है, उसकी अवगति नहीं होती।

आयुष्य के विषय में कुछ नियमों का निर्देश अवश्य प्राप्त है–

1. परलोक में जाने वाला जीव आयुष्य का बंध करके जाता है।[58]
2. आयुष्य का बंध वर्तमान जन्म में होता है।[59]
3. जीव को जिस योनि में जाना है, उसी से संबद्ध आयुष्य का बंध करता है।[60]
4. एक जीव एक समय या जन्म में एक आयुष्य का संवेदन करता है।[61]
5. आयुष्य बंध के साथ जाति आदि छह विषयों का निर्धारण होता है।[62]

दो आयुष्य बंध का विमर्श

भगवती सूत्र में एक जन्म में एक साथ दो आयुष्य बंध की चर्चा है[63(क)] इहभविक और परभविक। इहभविक का अर्थ है -वर्तमान भव की आयु और परभविक अर्थात् अगले भव की आयु। दो आयुष्य के संवेदन की चर्चा भी उसी से जुड़ी है।[63(ख)] आजीवक दर्शन[64] और पातञ्जल योग भाष्य में इस विचार धारा के बीज देखे जा सकते हैं। योग भाष्यकार ने कर्माशय को एहभविक बतलाया है।[65]

भगवान महावीर ने एक साथ दो आयुष्य के बंध का सिद्धांत अस्वीकार किया है। उनके मत में आयुष्य एक जन्म से संबंधित होता है। पूर्वजन्म में आयु-बंध होता है और वह केवल उत्तरवर्ती एक ही जन्म का होता है।

वृत्तिकार ने इसकी पुष्टि में तर्क प्रस्तुत किया है कि एक अध्यवसाय से दो विरोधी आयुष्य का बंध नहीं हो सकता। इसलिये एक समय में एक ही आयुष्य का बंध युक्ति संगत है।[66]

द्वैक्रियावाद के मत से एक समय में सम्यक् और मिथ्या दो क्रियाएं होती हैं। उस सिद्धांत के आधार पर एक साथ दो आयुष्य बंध होने में विरोध नहीं आता। अत: संभव है दो आयुष्य बंध की पृष्ठभूमि में द्वैक्रियावाद का सिद्धांत रहा हो।

आगम युग में कर्म-सिद्धांत बहुचर्चित रहा है। आयु का सम्बन्ध कर्म के साथ है। एक जन्म में अनेक आयुष्य का विपाक या संवेदन होता है। इस सिद्धांत का आधार है– मत्स्यजाल ग्रन्थिका। जीवों के हजारों आयुष्य मत्स्य-जाल की गांठों की तरह परस्पर गूंथे रहते हैं। व्यास भाष्य में भी मत्स्यजाल ग्रन्थिका का दृष्टान्त मिलता है।[67]

जैन दर्शन के अनुसार एक जन्म में एक आयुष्य का संवेदन होता है। यदि सब आयुष्यों का संवेदन एक साथ हो तो एक जन्म में अनेक जन्मों के संवेदन का प्रसंग आयेगा। जाल-ग्रंथिका की व्याख्या भी जैन दर्शन ने भिन्न प्रकार से की है। जाल-ग्रंथिका एक श्रृंखला (सांकल) है। प्रत्येक कड़ी परस्पर प्रतिबद्ध है। उसी प्रकार आयुष्य की श्रृंखला है।[68] प्रत्येक जीव के वर्तमान आयुष्य से पूर्व हजारों आयुष्य बीत चुके हैं। वर्तमान जन्म केवल वर्तमान आयुष्य से ही सम्पादित होता है।[69]

आयुष्य की क्रम श्रृंखला का प्रतिपादन भगवती में है। कोई भी संसारी जीव आयुष्य के बिना एक क्षण भी जी नहीं सकता। मृत्यु के पश्चात् और दूसरे जन्म से पूर्व का मध्यवर्ती क्षण अन्तराल गति का क्षण है। उसमें केवल तैजस-कार्मण– ये दो सूक्ष्म शरीर ही रहते हैं। स्थूल शरीर नहीं रहता। शरीर के अभाव में इन्द्रियों का अस्तित्व भी नहीं रहता। इसलिये उस समय जीव स्थूल शरीर की दृष्टि से अशरीरी एवं अनिन्द्रिय होता है[70] किन्तु निरायु नहीं होता।[71]

आयुष्य बंध का नियम

आयुष्य बंध का विधान इस प्रकार है [71ख]

वर्तमान जीवन	आगामी जीवन के आयुष्य का बंध काल
1. निरूपक्रम आयुष्यवाला मनुष्य	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता है।
2. सोपक्रम आयुष्यवाला मनुष्य	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता है। अथवा नौवां भाग शेष रहता या सत्ताईसवां भाग शेष रहता है।
3. असंख्येय वर्ष आयुष्य वाला मनुष्य	* वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते है।
4. असंख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च	* वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते है।
5.संख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता है। यदि निरूपक्रम आयुष्क हैं।
6. संख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता हैं। यदि सोपक्रम आयुष्क हैं। अथवा नौवां भाग शेष रहता या सत्ताईसवां भाग शेष रहता हैं।
7. पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय यदि निरूपक्रम आयुष्क हैं	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता हैं।
8. पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय यदि सोपक्रम आयुष्क हैं	* वर्तमान आयुष्य का तीसरा भागशेष रहता हैं। अथवा नौवां भाग शेष रहता या सत्ताईसवां भाग शेष रहता हैं।
9. नैरयिक,भवनपति,वाणमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक	* वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते हैं।

आयु बंध के विषय में दो मतान्तर उपलब्ध होते हैं।

1. वर्तमान आयुष्य आवलिका के असंख्यात भाग जितना शेष रहने पर अग्रिम जन्म का आयुष्य बंध होता है।

2. वर्तमान आयुष्य एक समय कम मुहूर्त्त जितना आयुष्य शेष रहने पर आयु बंध होता है। उत्तराध्ययन में भी उसका समर्थन है।[72]

3. गोम्मटसार की व्याख्या में दोनों मतों का उल्लेख है। वर्तमान आयुष्य समाप्ति के अनन्तर प्रथम समय में अगले जन्म के आयुष्य का वेदन प्रारंभ हो जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार अन्तराल गति में जीव आयुष्य सहित संक्रमण करता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों से उसकी विस्तृत चर्चा की है। उसका निष्कर्ष यही है कि ऋजुगति में अग्रिम जन्म-स्थान में जाने तक पूर्वजन्म का आयुष्य होता है किन्तु वक्रगति के पहले समय में पूर्वजन्म का आयुष्य, दूसरे में अगले जन्म का आयुष्य प्रारंभ हो जाता है।[73] तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए लिखा है–

प्रथम समय ना सिद्ध च्यार कर्मों ना अंश खपावे रे।
चौथे ठाणे प्रथम उद्देशे, बुद्धिवंत न्याय मिलावे रे।।[74]

सिद्धसेन का अभिमत भिन्न है - ऋजुगति में जन्म स्थान तक जाने में पूर्वजन्म का आयुष्य होता है। वक्रगति में पहले समय में पूर्वजन्म का आयुष्य, दूसरे समय में अगले जन्म का आयुष्य का प्रारंभ हो जाता है।

आयुष्य का अर्थ है– आयुष्य कर्म के पुद्गल - स्कंधों की राशि। गति के बिना आयुष्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। जिस जीव ने जिस गति में जाने की योग्यता अर्जित की है, उसके उसी गति के आयुष्य का बंध निश्चित होता है।

आयुष्य के साथ 4 प्रश्न और जुड़े हुए हैं–

1. जीव किस गति में जायेगा ?
2. वहां उसकी स्थिति क्या होगी ?
3. वह ऊंचा-नीचा या तिरछा कहां जायेगा ?
4. वह दूरवर्ती क्षेत्र में जायेगा या निकटवर्ती ?

इन चार प्रश्नों में आयु परिणाम के निम्नोक्त नौ प्रकारों का समावेश है। प्रथम प्रश्न में (1-2) द्वितीय प्रश्न में (3-4) तृतीय प्रश्न में (5-6-7)और चतुर्थ प्रश्न में (8-9) का समावेश होता है। जब अगले जन्म का आयुष्य बंध होता है तब इन सभी का साथ-साथ निश्चय हो जाता है। वृत्तिकार ने परिणाम के तीन अर्थ किये हैं– स्वभाव, शक्ति और धर्म।[75]

आयुष्य कर्म के नौ परिणाम

1	गति परिणाम	इसके माध्यम से जीव मनुष्यादि गति प्राप्त करता है।
2	गति बंधन परिणाम	इससे जीव प्रतिनियत गति कर्म का बंध करता है जैसे-जीव नरकायु स्वभाव से मनुष्य गति,तिर्यंच गति नामकर्म का बंध करता है। देव गति और नरक गति का बंध नहीं करता।
3	स्थिति परिणाम	इससे जीव स्थिति (अन्तर्मुहूर्त्त से तैतीस सागर) का बंध करता है।
4	स्थिति बंधन परिणाम	इसके माध्यम से जीव वर्तमान आयु के परिणाम से भावी आयुष्य की नियत स्थिति का बंध करता है। जैसे-तिर्यग् आयु परिणाम से देव आयुष्य का उत्कृष्ट बंध अठारह सागर का होता है।
5	ऊर्ध्व गौरव परिणाम	गौरव का अर्थ है -गमन। इस के माध्यम से ऊर्ध्वगमन करता है।
6	अधो गौरव परिणाम	इससे जीव का अधोगमन होता है।
7	तिर्यग् गौरव परिणाम	इससे तिर्यग् गमन की शक्ति प्राप्त होती है।
8	दीर्घ गौरव परिणाम	इसके माध्यम से जीव लोकान्त तक गमन करता है।
9	ह्रस्व गौरव परिणाम	इससे जीव ह्रस्व गमन (थोड़ा गमन) करता है।[75(ख)]

गति- आगति, च्यवन, उपपात स्थानांग में ये चारों शब्द पारिभाषिक हैं।[76(क)]

गति - वर्तमान भव से आगामी भव में जाना।

आगति - पूर्वभव से वर्तमान भव में आना।

च्यवन - ऊपर से नीचे आना। ज्योतिष और वैमानिक देव ऊपर से नीचे आकर जन्म लेते हैं इसलिये उनकी मृत्यु च्यवन कहलाती है।

उपपात - देव, नारक का जन्म।

प्रश्न हो सकता है जीव मरकर इन गतियों में क्यों जाता है ? मनुष्य मरकर मनुष्य अथवा, तिर्यञ्च मरकर पुन: तिर्यञ्च ही होता है या उनका उत्क्रमण, अपक्रमण भी संभव है ?

कारण की मीमांसा करने पर स्पष्ट होता है कि इन गतियों में उत्पत्ति का मुख्य घटक है - लेश्या। आयुबंध के समय लेश्या के अशुभ होने पर अपक्रमण और शुभ होने पर उत्क्रमण हो सकता हैं।

भगवान महावीर के समय एक दार्शनिक मान्यता थी कि जो जीव जैसा है जन्मान्तर में भी वह वैसा ही रहता है। उसे जन्मान्तर सादृश्यवाद कहा जा सकता है। गणधरवाद के अनुसार आर्य सुधर्मा इस मान्यता के पक्षधर थे। जन्मान्तर सादृश्यवादी की मान्यता थी - मनुष्य सदा मनुष्य रहता है, पशु पशु ही। स्त्री सदा स्त्री के रूप में उत्पन्न होती है। किसी भी जीव की गति अथवा योनि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

अनेकांतिक चिन्तन का फलित होगा कि अपरिवर्तनीयता अमुक कालांश तक हो सकती है। वह सार्वत्रिक और सार्वकालिक नहीं हैं। स्थानांग में जीवों के जन्म-मरण रूप चक्र को कायस्थिति एवं भवस्थिति दो भागों में विभक्त किया है।

काय स्थिति– एक ही प्रकार के शरीर अथवा काय में निरन्तर जन्म लेना कायस्थिति है।

भव स्थिति– एक ही प्रकार का जन्म लेना भवस्थिति है।[76(ख)] देव और नारक मृत्यु के अनन्तर पुन: उसी योनि में जन्म नहीं लेते अत: उनके केवल भवस्थिति होती है, कायस्थिति नहीं। मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मृत्यु के अनन्तर अपनी-अपनी योनि में लगातार सात-आठ बार जन्म ले सकते हैं।[77] इस संदर्भ में मनुष्य मर कर मनुष्य, पशु मरकर पशु होता है– इस सिद्धांत को मान्य किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में कालांश की चर्चा भी उपयोगी रहेगी।

कालांश के तीन प्रकार है– शून्यकाल, अशून्यकाल, मिश्रकाल।

शून्य काल– किसी भी विवक्षित वर्तमान में जिस गति में जितने जीव हैं। उनमें से

सब के सब वहां से निकल जाते हैं। एक भी शेष नहीं रहता, वह कालांश शून्यकाल कहलाता है।[78]

अशून्यकाल– जिस गति में जितने जीव हैं, उनमें से न कोई जन्म लेता है, न कोई मरता है, वह अशून्यकाल है।[79]

मिश्रकाल– जिस गति में जितने जीव हैं, उनमें से कुछ निकल कर दूसरी गति में जन्म लेकर पुन: वहीं उत्पन्न हो जाते हैं, कुछ वहीं रहते हैं। उनमें से एक भी जीव रह जाता है तो वह मिश्र कालांश कहलाता है।[80]

शून्यकाल में पुरानी पीढ़ी समाप्त हो जाती है और नई पीढ़ी जन्म लेती रहती है। अशून्यकाल में जीवों का आगमन और निर्गमन दोनों रुक जाते हैं। यह स्थिति नरक, मनुष्य और देवगति में उत्कृष्टत: बारह वर्ष तक रहती है। विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय में यह स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त तक रहती है।[81] मिश्रकाल में आगमन-निर्गमन चालु रहते हैं।

प्रत्याख्यान की भूमिका

आयुष्य बंध में प्रत्याख्यान भी निमित्त बनता है। जैसे– वैमानिक के अतिरिक्त शेष तेईस दण्डकों के आयुष्य का बंध अप्रत्याख्यानी जीव ही करते हैं। साधु प्रत्याख्यानी, श्रावक प्रत्याख्याना प्रत्याख्यानी होते हैं इसलिये उनका वैमानिक के अतिरिक्त किसी अन्य गति के आयुष्य का बंध नहीं होता। जयाचार्य ने उसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है–

वैमानिक देवता को आउखो, पचखाणी पिण बांधै।
अपचखाणवंत पिण बांधै, बलि पचखाणा पचखाणी बांधे।।
शेष तेवीस दंडक नो आउखो, अपचखाणी बांधे।
पचखाणी ने पचखाणापचखाणी नरकादिक आयु न साधै।।[82]

कर्म-बंध होते ही विपाक नहीं होता। फल प्रदान करने की शक्ति का सम्पादन शनै:शनै: होता रहता है। चूल्हे पर रखने के साथ ही वस्तु पक नहीं जाती, समय लगता है। इसी प्रकार विविध कर्मों के पाक-काल की भी सीमा है जिसे अबाधाकाल के नाम से जाना जाता है। अबाधाकाल की समाप्ति के साथ ही कर्म अपना फल देना प्रारंभ कर देता है। कर्म फल की दो प्रकृतियां हैं– ध्रुवोदया, अध्रुवोदया।

ध्रुवोदया– जिनका उदय व्यवच्छेद काल तक कभी भी विच्छिन्न नहीं होता है।

अध्रुवोदया– जिनका उदय विच्छिन्न हो जाता है।[83]

आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय और उदीरणा को विपाक कहा है।[84] आचार्य पूज्यपाद[85] और अकलंक देव[86] के अनुसार त्रिशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। आचार्य हरिभद्र[87] आचार्य अभयदेव[88] ने वृत्ति में विपाक का अर्थ पुण्य-पाप रूप कर्म का फल किया है।

ग्यारहवां अंग (शास्त्र) विपाक सूत्र है। उसमें शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का दिग्दर्शन है। विपाक सूत्र के दो विभाग हैं– सुख-विपाक, दुःख-विपाक।

सुखविपाक– सुखविपाक में सुबाहुकुमार आदि दस अध्ययनों में शुभ कर्मों के विपाक की चर्चा की गई है।

दुःखविपाक– दुःखविपाक में मृगालोढ़ा आदि दस अध्ययनों में पाप कर्म के विपाक का सांगोपांग चित्रण है। साथ ही प्रत्येक अध्ययन में पुनर्जन्म की सोदाहरण व्याख्या है। कर्मों का विपाक सहेतुक और निर्हेतुक उभय रूप है। किसी बाह्य निमित्त के अभाव में भी क्रोध वेदनीय पुद्गलों के तीव्र विपाक से अकारण क्रोध आ जाता है, वह निर्हेतुक उदय है।[89]

स्वाभाविक फल– कर्मफल की प्राप्ति स्वाभाविक रूप से निम्नोक्त तीन कारण से होती है–

गति हेतुक उदय– नरक गति में असातवेदनीय का उदय तीव्र होता है। यह गति हेतुक विपाकोदय है।

स्थिति हेतुक उदय– सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति हेतुक विपाकोदय है।

भवहेतुक उदय– दर्शनावरण का संबंध सभी प्राणियों से है। निद्रा मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों को आती है, देव-नारक को नहीं, यह भव हेतुक विपाकोदय है।

इस प्रकार गति, स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का स्वतः विपाकोदय हो जाता है।

नैमित्तिक फल

कुछ कर्म निमित्त पाकर फल देते है। जैसे– पुद्गल हेतुक उदय– किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, उससे असाता का उदय हो गया, यह असातवेदनीय का पुद्गल हेतुक विपाक उदय है। किसी ने गाली दी, क्रोध बढ़ गया, यह क्रोध वेदनीय पुद्गलों का सहेतुक विपाक उदय है।

भोजन किया, पाचन नहीं हुआ, अजीर्ण हो गया, उससे सम्बन्धित बीमारी हो गई। यह असातवेदनीय का विपाक उदय है। शराब पीने से नशा छा गया। इस प्रसंग में ज्ञानावरण का विपाकोदय शराब परिणमन से हुआ। इस प्रकार अनेक हेतुओं से विपाकोदय होता है। हेतुओं का संयोग न हो तो उन कर्मों का विपाक रूप में उदय नहीं होता।[90]

उदय का दूसरा प्रकार है– प्रदेशोदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म वेदन की अस्पष्टानुभूति की दशा है। जो कर्म बंध होता है, वह भोगा अवश्य जाता है। गौतम ने पूछा– भंते ! किये हुए कर्म भोगे बिना छूट नहीं सकते। क्या यह सत्य है?

महावीर– हां गौतम ! सत्य है।

गौतम– भंते ! कैसे ?

महावीर– गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाएं है - प्रदेश कर्म [91] और अनुभाग कर्म।[92] जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमत: भोगे जाते हैं। जो अनुभाग कर्म हैं, वे अनुभाग रूप में कुछ भोग में आते हैं, कुछ भोग में नहीं आते हैं। [93]

बंध के प्रकार

कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बंध कहा जाता है। बंध चार प्रकार का होता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश।

प्रकृति बंध– प्रकृति का सम्बन्ध कर्म पुद्गलों के स्वभाव से है। [94] जैसे– नीम का स्वभाव कटु है। गुड़ का स्वभाव मधुर है। इसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपना-अपना स्वभाव है।

कर्मों का स्वभाव निर्धारण प्रकृति बंध कहलाता है। स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति, गुण, धर्म,शक्ति, लक्षण आदि सभी एकार्थक हैं। [95] अमुक कर्म-पुद्गल

आत्मा के कौन से गुण का आवारक, विकारक या विघातक बनेगा, यह स्वभाव व्यवस्था है। यही प्रकृति बंध है। प्रकृति की अपेक्षा कर्मों के मूल आठ भेद हैं।

उत्तर भेद 148 हैं जिनका विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। उत्तरोत्तर असंख्यात भेद भी हो जाते हैं। ये सभी प्रकृतियां पुण्य-पाप रूप होती हैं तथा प्रकृति बंध के अन्तर्गत आती है।

स्थिति बंध– कर्मों की आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने की कालावधि (अवस्थिति) को स्थितिबंध कहते हैं।[96] जैन कर्म-ग्रंथों में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न स्थितियों की विवेचना है। किस कर्म का कितना अवस्थान और अबाधाकाल है ? इन सभी प्रश्नों का संबंध स्थिति बंध से है।

अनुभाग बंध– कर्मों के विपाक को अनुभाग बंध कहते हैं। [97] अनुभाग या रस का सम्बन्ध कर्मों के विपाक या फलदान की शक्ति से जुड़ा हुआ है। यह शक्ति ही रस है। यह रस कर्म के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। मनोविज्ञान के अनुसार भी चेतना तक पहुंचाने में रासायनिक-स्रावों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारी चेतना में जो अनुभव या संस्कार जमा होते हैं, उनकी शक्ति का निर्धारण उस समय स्रावित अन्त : स्रावी ग्रंन्थियों के रसायन पर निर्भर करता है। कर्मशास्त्र के अनुसार रस ही कर्म की शक्ति का निर्धारण करते हैं।

रागादि भावों के तारतम्य के अनुसार फलदान शक्ति में भी न्यूनाधिकता स्वाभाविक है। पूज्यपाद ने जठराग्नि का निदर्शन दिया है। जठराग्नि के अनुसार आहार का विविध रूप से परिणमन होता है। वैसे ही तीव्र, मंद, मध्यम कषाय के अनुरूप कर्मों के रस तथा स्थिति का निर्धारण होता है।

बंध की प्रकृति एवं प्रदेश के निर्धारण में क्रिया (योग) की तथा स्थिति एवं अनुभाग में कषाय की मुख्य भूमिका होती है। कषाय जितना तीव्र होता है, उसी के अनुसार कर्म का अनुभाग, रस का बंध भी तीव्र होता है। मनोविज्ञान के अनुसार भी चेतना में सूचना से सम्बन्ध स्थापित करने वाले रासायनिक स्रावों का नियामक संवेग होता है।

प्रदेश बंध– कर्मों के दल संचय को प्रदेश बंध कहते हैं।[98] कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का अमुक परिमाण में बंधना-प्रदेश बंध है। प्रदेश किसी भी पदार्थ की सबसे छोटी अविभक्त इकाई का नाम है। आकाश के छोटे से छोटे अविभागी अंश का नाम

प्रदेश है। अखंड आकाश में प्रदेश-भेद की कल्पना करके अनन्त प्रदेश कहा है। उसी प्रकार सभी द्रव्यों में पृथक्-पृथक् प्रदेशों की गणना का निर्देश किया है। उपचार से पुद्गल परमाणु भी प्रदेश नाम से अभिहित है। इस प्रकार कर्मों के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों का परस्पर मिलना प्रदेश बंध है।

जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार कर्म की भी फल देने की शक्ति विचित्र प्रकार की होती है। गंधक, शोरा, तेजाब आदि के मिलने पर रासायनिक प्रक्रिया प्रारंभ होती है तथा तत्त्व विशेष की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार कर्मों का जीव के साथ संयोग होने पर रासायनिक क्रिया प्रारंभ होती है। उससे अनेक प्रकार की विचित्रताएं जीव में दिखाई देती हैं।

कर्मफल-संविभाग

प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति अपने शुभाशुभ कर्म का फल दूसरों को दे सकता है? अथवा दूसरों के कर्मों का फल उसे प्राप्त हो सकता है ? कर्मफल का आदान-प्रदान संभव है या नहीं ?

कर्मफल संविभाग के संदर्भ में जैन, बौद्ध और वैदिक विचार धाराएं भिन्न हैं। वैदिक धर्म के अनुसार व्यक्ति के शुभाशुभ कर्म का फल उसके पूर्वज या पुत्रों को मिल जाता है। कर्म फल का संविभाग संभव है।[99] संभवत: यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण की मान्यता इस आधार पर ही विकसित हुई हैं।

इसके विपरीत, बौद्ध दर्शन में कर्मफल संविभाग में दूसरा संभागी बन सकता है किन्तु केवल शुभ कर्मों में ही। पाप का फल स्वयं कर्ता को ही भोगना पड़ता है।[100(क)]

जैन दृष्टिकोण से शुभाशुभ कर्मों का संविभाग नहीं हो सकता है। कर्म और उसके फल का संबंध कर्ता के साथ होता है।[100(ख)] भगवती के आधार पर भी आत्मा स्वकृत सुख-दु:ख का भोग करता है, परकृत सुख-दु:ख का भोग नहीं करता।[101] दूसरा व्यक्ति निमित्त हो सकता है। निमित्त की दृष्टि से यहां परकृत कहा जा सकता है किन्तु सिद्धांत का आधार निमित्त नहीं, उपादान होता है।

कर्म की अवस्थाएं

कर्म परिवर्तन के इस सिद्धांत को समझने के लिये हमें कर्म की विभिन्न अवस्थाओं पर विचार करना होगा। जैन दर्शन में कर्म की दस अवस्थाएं मानी गई है। कर्मबंध और

उदय के बीच कितनी अवस्थाएं घटित होती हैं। वे किस सीमा तक आत्म-स्वातंत्र्य को प्रभावित या अभिव्यक्त करती है। इस सम्बन्ध में काफी चिन्तन हुआ है। उदय, उदीरणा आदि दस अवस्थाएं कर्म-सिद्धांत के विकास की सूचक है।[102] गोम्मटसार में दस अवस्थाओं को दस करण की संज्ञा दी है। जीव के शुभाशुभ परिणामों को करण कहा गया है।[103] वे दस अवस्थाएं इस प्रकार हैं–

(1) बंध	(2) सत्ता
(3) उदय	(4) उदीरणा
(5) उदवर्तना	(6) अपवर्तना
(7) संक्रमण	(8) उपशम
(9) निधति	(10) निकाचना

(1) बंध– बंध का सामान्य अर्थ है– संश्लेष। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के अनुसार अनेक पदार्थों का मिलकर एक हो जाना बंध है।[104] बंध के संदर्भ में आत्मा और कर्म-पुद्गलों का मिल जाना बंध है। उमास्वाति के शब्दों में– कषाय के कारण जीव का कर्म पुद्गलों से संबंध हो जाना ही बंध है।[105] आचार्य तुलसी ने जीव द्वारा कर्म-पुद्गलों का ग्रहण तथा क्षीर-नीर की तरह एकीभूत होने को बंध कहा है।[106] बंधन आत्मा का अनात्मा से, चेतन का जड़ से, देही का देह से संयोग है। इस संदर्भ में कर्म–बंध के तीन रूप प्राप्त होते हैं–

जीव बंध– जीव की पर्याय भूत रागादि प्रवृत्तियां, जो उसे संसार के साथ जोड़ती है।

अजीव बंध– परमाणुओं में विद्यमान स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श से परमाणु का परस्पर जुड़ना।

उभय बंध– आत्म-प्रदेशों के साथ होनेवाला कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध।

(2) सत्ता– अबाधाकाल या विद्यमानता को सत्ता कहते हैं।[107] बंध और विपाक के बीच की अवस्था सत्ता है। सत्ताकाल में कर्म अस्तित्व में रहते हैं किन्तु उनका कर्तृत्व प्रकट नहीं होता। प्रत्येक कर्म अपने सत्ताकाल की समाप्ति पर ही फल देते हैं। काल-मर्यादा पूर्ण न होने तक धान्य-संग्रह के समान कर्म अस्तित्व में ही रहते हैं।

(3)उदय– कर्म के विपाक को उदय कहा है।[108] सत्ता काल पूर्ण होने के साथ

कर्मों के फलदान की क्रिया उदय कहलाती है। कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से होता है। उदय के दो प्रकार हैं– प्रदेशोदय और विपाकोदय।

प्रदेशोदय– फलानुभूति करवाये बिना जो कर्म-परमाणु आत्म-प्रदेशों में ही भोग लिये जाते हैं, वह प्रदेशोदय कहलाता है।

विपाकोदय– प्रकृति आदि के अनुरूप स्पष्ट रूप में फल देकर निर्जीण हो, वह विपाकोदय कहलाता है। ज्ञातव्य यह है कि विपाकोदय में प्रदेशोदय निश्चित रहता है किन्तु प्रदेशोदय में विपाकोदय की अनिवार्यता नहीं है।

(4) उदीरणा– नियत अवधि से पूर्व प्रयत्न पूर्वक कर्मों का उदय, उदीरणा कहलाती है।[109] उदीरणा किन कर्मों की होती है? इस सन्दर्भ में शास्त्रकार का मन्तव्य है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय चल रहा हो, उसकी सजातीय कर्म-प्रकृति की उदीरणा संभव हैं।[110] उदीरणा का दूसरा नाम अपक्व पाचन है। उदीरणा अनुदीर्ण कर्मों की होती है। भगवती में उदीरणा के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है– जीव अपने उत्थान, बल, वीर्य, कर्म, पुरुषार्थ और पराक्रम के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा के प्रायोग्य कर्मों की उदीरणा करता है।[111]

सूत्रकार ने 'उदीरणा-प्रायोग्य' विशेषण का प्रयोग किया है, यह महत्त्वपूर्ण है। जिन कर्म पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है अथवा जिनकी उदीरणा होगी ही नहीं। ऐसे कर्म-पुद्गलों को उदीरणा के अयोग्य माना है। उपशम, निधत्ति और निकाचना– ये तीन करण उदीरणा के अयोग्य होते हैं। जिस प्रकार डाली पर लगा हुआ फल सहज भाव से भी पकता है और अन्य उपायों से भी पकता है, उसी प्रकार कर्मों का परिपाक भी सहज और प्रयत्नपूर्वक दोनों रूप में होता है। सहज पकनेवाला दीर्घकाल सापेक्ष है। प्रयत्न से पकने वाला फल अल्पकाल में निष्पन्न हो जाता है। उदीरणा प्रयत्न से पकने वाले फल के समान है। उदीरणा पुरूषार्थवाद अथवा कर्म-परिवर्तन का समर्थक सिद्धांत है। पुरुषार्थवाद और कर्म परिवर्तन का सिद्धान्त ही क्रियावाद है। आचारांग के अनुसार आत्मा है 'से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई किरियावाई' अर्थात् आत्मा है, भव भ्रमण का स्थान लोक है, भवभ्रमण का कारण कर्म है अर्थात् भ्रमण को मिटाने का उपाय क्रिया है, पुरुषार्थ है।[111ख] पंचसंग्रह में सहज उदय को संप्राप्ति उदय और उदीरणा पुरस्सर उदय को असंप्राप्ति उदय कहा गया है।[112]

(5) उद्वर्तना– स्थिति और अनुभाग की वृद्धि को उद्वर्तना कहते हैं।[113] इसमें

कर्म-स्थिति और रस का तीव्रीकरण होता है।[114] यह कर्म बंध के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मंदता पर आधारित है।

(6) अपवर्तना– बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग को अध्यवसाय विशेष से कम कर देना अपवर्तना है।[115] धवला में कहा– कर्म प्रदेशों की स्थिति के अपवर्तन का नाम अपकर्षण है।[116] उद्वर्तना और अपवर्तना की विवेचना से इस धारणा का निरसन हो जाता है कि स्थिति एवं अनुभाग में परिवर्तन नहीं हो सकता है। परिवर्तन प्रयत्न-विशेष और अध्यवसाय की शुद्धता-अशुद्धता पर निर्भर है।

(7) संक्रमण– एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चले जाना क्षेत्र संक्रमण है। एक ऋतु के बाद दूसरी का आना काल-संक्रमण है। उसी तरह कर्म जगत् में भी संक्रमण होता है। सजातीय कर्म-प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तन संक्रमण कहलाता है।[117] जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बंध करता है, उसकी तीव्रता के कारण पूर्वबद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रांत कर देता है, यही संक्रमण है। उसका सामान्य नियम है कि संक्रमण किसी मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है, अन्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों में नहीं होता। संक्रमण सजातीय में संभव है, विजातीय में नहीं। यहां यह ध्यातव्य है कि आयुष्य कर्म की चार प्रकृतियों में तथा मोहनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों– दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय में परस्पर संक्रमण नहीं होता। दर्शन मोहनीय की तीन उत्तर प्रकृतियों में भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। संक्रमण के भी चार प्रकार हैं– 1. प्रकृति संक्रमण 2. स्थिति संक्रमण 3. अनुभाग संक्रमण 4. प्रदेश संक्रमण।

1. प्रकृति संक्रमण– कर्म की किसी प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन प्रकृति संक्रमण है। कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। वह भी सजातीय में होता है, यह ध्रुव नियम है। उदाहरणार्थ– मति ज्ञानावरण का श्रुत ज्ञानावरण में रूपान्तरण होता है किन्तु दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों के साथ मति ज्ञानावरण का संक्रमण नहीं होता। मति ज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण में परिवर्तन होने पर उसका फल भी श्रुत ज्ञानावरण के अनुरूप ही होता है।

2. स्थिति संक्रमण– कर्मों की स्थिति में परिवर्तन स्थिति संक्रमण है। स्थिति का कम या ज्यादा होना क्रमशः अपवर्तना-उद्वर्तना कहलाती है। ये भी समान जातीय में ही संभव हैं।

3. अनुभाग संक्रमण– बंधकालीन रस में भी अन्तर हो सकता है। तीव्ररस, मंदरस में अथवा मंदरस तीव्र रस में बदल जाता है। इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि जिस प्रकृति का जहां तक बंध होता है, उस प्रकृति का अन्य प्रकृति में संक्रमण वहीं तक होता है। उदाहरणार्थ-असातवेदनीय का बंध छठे गुणस्थान तक होता है। सातवेदनीय का तेरहवें गुणस्थान तक। अत: सातवेदनीय का असातवेदनीय में संक्रमण छठे तक तथा असातवेदनीय का सातवेदनीय में रूपान्तरण तेरहवें गुणस्थान तक ही संभव है।

4.प्रदेश संक्रमण– प्रदेश संक्रमण पांच प्रकार का है 1. उद्वेलन 2. विध्यात 3. अध: प्रवृत्त 4. गुण संक्रमण 5. सर्व संक्रमण।

उद्वेलन संक्रमण– कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों (परमाणुओं) का अन्य प्रकृति में परिणमन होना।

विध्यात संक्रमण– जिन कर्मों का गुण-प्रत्यय या भव-प्रत्यय से अर्थात् गुणस्थान और नरक, देव आदि भव विशेष के कारण बंध नहीं होता, उन कर्मों की सत्ता में रही हुई प्रकृतियों का संक्रमण होता है, वह विध्यात संक्रमण कहलाता है।

अध: प्रवृत्त संक्रमण– कर्म प्रकृतियों के बंध और अबंध की दशा में कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों का स्वभावत: संक्रमण होता रहता है, उसे अध: प्रवृत्त संक्रमण कहते हैं।

गुण संक्रमण– अपूर्व करणादि परिणामों का निमित्त पाकर प्रति समय जो प्रदेशों का असंख्यात गुणश्रेणी रूप संक्रमण होता है, उसे गुण संक्रमण कहते है।

सर्व संक्रमण– विवक्षित कर्म प्रकृति के सभी प्रदेशों का एक साथ अन्य प्रकृति में संक्रमण होना सर्व संक्रमण है। संक्रमण का यह सिद्धांत मानसिक ग्रंथियों से मुक्ति पाने के उपाय के रूप में अत्यन्त उपयोगी है।

(8) उपशम– कर्मों के उदय को कुछ समय के लिये रोक देना उपशम है। उपशम में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, उसकी शक्ति को निष्क्रिय बना दिया जाता है। इससे राख से दबी अग्नि की तरह वे कुछ करने में असमर्थ हो जाते हैं।

(9) निधत्ति– निधत्ति वह अवस्था है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है किन्तु इस अवस्था में उद्वर्तना तथा अपवर्तना की संभावना बनी रहती है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग न्यूनाधिक हो सकते हैं।

(10) निकाचना– इस अवस्था में कर्मों का बंधन इतना प्रगाढ़ होता है कि उनकी काल-मर्यादा एवं तीव्रता में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। निकाचना की स्थिति में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण एवं उदीरणा ये चारों करण निष्प्रभावी हो जाते हैं। आचार्य तुलसी ने निकाचना को परिभाषित करते हुए लिखा है– सब करणों के अयोग्य अवस्था को निकाचना कहते हैं।[118]

वैदिक परम्परा की क्रियमाण, संचित, प्रारब्ध अवस्थाएं जैन दर्शन में वर्णित क्रमशः बंध, सत्ता और उदय के समानार्थक हैं। बौद्ध दर्शन में नियत-विपाकी, सातिक्रमण अवस्थाएं जैन दर्शन में मान्य निकाचना से तुलनीय हैं। कर्म-फल का नाश नहीं होता किन्तु कर्म-फल का सातिक्रमण (संक्रमण) हो सकता है। बौद्ध कर्म-विचारणा में जनक, उपस्थम्भक, उपपीलक आदि भी कर्म की चार अवस्थाएं हैं। बौद्ध मत की जैन कर्म सिद्धांत से तुलना करें तो इस प्रकार संभव है–

बौद्ध	जैन
जनक	सत्ता
उपस्थम्भक	उत्कर्षण
उपपीलक	अपकर्षण
उपघातक	उपशम

निष्कर्ष की भाषा में उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रमण– ये चारों ही कर्म परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण उपक्रम हैं। इस संदर्भ में विशेष ज्ञातव्य यह है कि चारों ही अवस्थाएं उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म परमाणुओं में घटित नहीं होती क्योंकि उनका उदय निश्चित है।[119]

मनोविज्ञान और मूल प्रवृत्तियां

व्यक्तित्व का विकास मूल प्रवृत्तियों के रूपान्तरण पर निर्भर है।[120] मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से मूलभूत प्रवृत्तियों में परिवर्तन की चार पद्धतियों का निरूपण किया है– 1. अवदमन, 2. विलयन, 3. मार्गान्तरीकरण, 4. शोधन या *उदात्तीकरण।*

1. अवदमन– मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, आवेग उत्पन्न हुआ, उसे रोक देना दमन है। जैन दृष्टि से इसकी तुलना उपशम अवस्था से की जा सकती है। जैसे

ग्यारहवें गुणस्थान में मोह को उपशान्त कर दिया जाता है किन्तु कुछ समय पश्चात् दबा हुआ कषाय पुनः उभर जाता है। दमन व्यक्ति में स्थाई परिवर्तन नहीं ला सकता।

2. विलयन– प्रवृत्ति को उत्तेजित होने से रोक देना विलयन है। कुछ प्रवृत्तियां मन में उभरती है किन्तु दूसरी प्रवृत्ति सामने आ जाती है, तब वह छूट जाती है अथवा प्रतिपक्षी विचार के द्वारा वह समाप्त हो जाती है।

जैनागमों में अनुप्रेक्षा के सिद्धांत के अन्तर्गत प्रतिपक्षी भावना के द्वारा असद् वृत्तियों और आचरणों को समाप्त किया जाता है। दसवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्षी भावना का सुन्दर चित्रण है। क्रोध के भाव को नष्ट करने क्षमा की भावना आवश्यक है। अभिमान के प्रतिपक्ष में नम्रता, माया के प्रतिपक्ष में आर्जव और लोभ के प्रतिपक्ष में संतोष या अनासक्ति की भावना का विधान किया गया है।[121]

3. मार्गान्तरीकरण– मार्गान्तरीकरण का अर्थ है– रास्ता बदल देना। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति को संचालित करने वाली मूलवृत्ति एकमात्र काम है। इसका मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है। किसी व्यक्ति ने सुन्दर स्त्री को देखा, वह उसके प्रति आकृष्ट होता है किन्तु प्राप्त नहीं होने पर वह आकर्षण की दिशा को बदल देता है। यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया है।

4. उदात्तीकरण– इस प्रक्रिया में आवेगों का पूर्ण शोधन कर दिया जाता है। कर्म-शास्त्र की भाषा में उसे क्षयोपशम या क्षयीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। उदात्तीकरण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है। जिसमें कर्मों के कुछ दोषों को सर्वथा क्षीण और कुछ दोषों का उपशमन कर दिया गया। उसमें एक प्रकार की शुद्धता की स्थिति निर्मित हो जाती है। आध्यात्मिक साधना के मुख्य सूत्र तीन हैं– विलयन, मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण।

गौतम ने पूछा– भंते ! धर्म श्रद्धा से क्या प्राप्त होता है ?

भगवान महावीर ने कहा– धर्म श्रद्धा से अनुत्सुकता पैदा होती है।[122] बाहरी दुनिया में जो आकर्षण होता है, इन्द्रिय-विषयों में उत्सुकता होती है, साधना का विकास होने पर वह कम होती जाती है। यही मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया साधना के विकास की प्रक्रिया है। वस्तुतः मोहकर्म की विभिन्न प्रकृत्तियों का क्रमिक क्षयोपशम, उपशम या क्षय ही चेतना के ऊर्ध्वारोहण का उपाय है।

जैनेटिक विज्ञान के अनुसार जीन को बदल कर पूरे व्यक्तित्व का परिवर्तन किया जा सकता है।[123] यह बदलने की प्रक्रिया है, उस प्रक्रिया से समग्र चेतना को नया आयाम दिया जाता है।

मनोविज्ञान में व्यक्तित्व का अंकन मुख्यत: तीन आधारों पर किया जाता है– आनुवांशिकता, पर्यावरण और व्यक्तिगत संस्कार। किन्तु केवल इन आधारों पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं की जा सकती। आनुवंशिकता आचरण और व्यवहार को प्रभावित करती है। पर्यावरण का भी व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। इनसे भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीन्स है। जीन के सिद्धांत की तुलना यदि कर्म से की जाये तो अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। आनुवंशिकता आदि का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। कर्म का सम्बन्ध जीव से है, जिसमें अनेक जन्म की प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं।

कर्म की प्रकृति में परिवर्तन का सिद्धांत भी महत्वपूर्ण है। बंधकाल में कर्म के परमाणु एक प्रकार के होते हैं, बाद में उन परमाणुओं की जाति बदल जाती है। नस्ल परिवर्तन का सिद्धांत इसका पोषक है। आधुनिक जीवविज्ञान की नई अवधारणाएं संक्रमण सिद्धांत की उपजीवी हैं। जीन्स को बदल कर पूरी पीढ़ी का कायाकल्प किया जा सकता है। संक्रमण का सिद्धांत पुरूषार्थ का सिद्धांत है। अपने सद्-असद् आचरण से पाप और पुण्य को क्रमश: पुण्य और पाप में परिणत किया जा सकता है। स्थानांग सूत्र में इस परिप्रेक्ष्य में चार विकल्पों का निर्देश मिलता है।[124]

1. सुभे नाममेगे सुभ विवागे।
2. सुभे नाममेगे असुभ विवागे।
3. असुभे नाममेगे सुभ विवागे।
4. असुभे नाममेगे असुभ विवागे।

एक कर्म बंधन के समय शुभ होता है पर विपाक तक पहुंच अशुभ बन जाता है। एक कर्म बंधन के समय अशुभ होता है। परिपाक काल में वह पुण्य रूप में परिणत हो जाता है। कुछ कर्म बंध के समय शुभ-अशुभ होते हैं, परिणाम में भी यथावत रहते हैं। पुरूषार्थ या प्रयत्न सापेक्षता इसमें एक कारण है।

स्थानांग की तरह बौद्ध साहित्य से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है–[125]

1. कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो कृष्ण होते है और कृष्ण विपाकी होते हैं।

2. कितने ही कर्म ऐसे होते है जो शुक्ल होते है और शुक्ल विपाकी होते हैं।

3. कितने ही कर्म कृष्ण-शुक्ल मिश्र होते है, वैसे ही विपाक वाले होते हैं।

4. कितने ही कर्म अकृष्ण-शुक्ल होते है और अकृष्ण-शुक्ल विपाकी होते हैं।

पुण्य का फल पुण्य एवं पाप का फल पाप– ये दो विकल्प निर्विवाद हैं, बुद्धि गम्य हैं, स्वाभाविक हैं। पुण्य का विपाक पाप और पाप का विपाक पुण्य– ये दो विकल्प सहज बुद्धि गम्य नहीं हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ के अभिमत में जाति परिवर्तन कर्मवाद का बहुत बड़ा रहस्य है। इसके आधार पर परिवर्तन का सिद्धांत निस्संदेह सत्य है। पुण्य बंध होता है, उसमें सारे कर्म-परमाणु पुण्य रूप होते हैं किन्तु बाद में ऐसा पुरूषार्थ किया जाता हैं जिससे पुण्य पाप में परिवर्तित हो जाता है, सुख के हेतु हैं, वे दुःख के हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार सत् पुरूषार्थ से पाप के परमाणु पुण्य में बदल दिये जाते हैं।[126] जैन दर्शन में मान्य संक्रमण का सिद्धांत इसी पुरुषार्थ की मूल्यवत्ता को प्रतिष्ठित करता है। कुछ स्थितियां ऐसी हैं, जहां संक्रमण का सिद्धांत लागू नहीं होता है। उनका निर्देश पूर्व में किया जा चुका है।

भगवती सूत्र का प्रसंग भी कर्म-परिवर्तन का संवादी है। गौतम ने पूछा– भंते ! जीव एवंभूत वेदना वेदते हैं अथवा अनेवंभूत वेदना ?

महावीर ने कहा– गौतम ! जीव एवंभूत वेदना का अनुभव भी करते हैं और अनेवंभूत वेदना का भी। एवंभूत का अर्थ है– कर्मों का जिस रूप में बंधन किया था, उसी रूप में भोगना। अनेवंभूत का अर्थ है– कर्मों को अन्यथा करके भोगना।[127]

विशेषावश्यक भाष्य में कर्म ग्रहण को जीव के आधीन माना है और फल भोग के संदर्भ में जीव की पराधीनता बतलाई है[128] किन्तु यह कथन सार्वभौम नहीं है। कर्मों के दो प्रकार हैं– निधत्त और निकाचित। निधत्त कर्म परमाणुओं में सदा परिवर्तन की संभावना रहती है। इस प्रकार के कर्मों के फल भोग में जीव स्वतंत्र है। निकाचित कर्मों के भोग में जीव परतंत्र हो सकता है। अथवा प्रदेशोदय की दृष्टि से परतंत्र और विपाकोदय की दृष्टि से स्वतंत्र है। इन कर्म शास्त्रीय रहस्यों के उद्घाटन के लिए स्वतंत्र अनुसंधान की अपेक्षा है।

इस प्रकार व्यक्ति जो भी प्रवृत्ति करता है, उससे कर्म बंध होता है। प्रवृत्ति का फलित है - कर्मों का अर्जन। क्रिया और कर्म का अविनाभावी सम्बन्ध है। प्रत्येक क्रिया

परिणाम को साथ लेकर चलती है। क्रिया और कर्म में कालक्षेप नहीं होता है, ये सहचारी है। क्रिया के साथ ही तत्काल कर्म बंध हो जाता है। वह कब तक साथ रहेगा, इसका स्वतंत्र नियम है।

कर्म की विद्यमानता में पुनर्जन्म निश्चित है। पुनर्जन्म की स्वीकृति में ही आत्मवाद, कर्मवाद, क्रियावाद और निर्वाणवाद की सार्थकता है। यही आचार-शास्त्र का आधार है। पवित्र जीवन की प्रेरणा है। पवित्र आचार, व्यवहार व्यक्तिगत सुख-शांति का हेतु है, साथ ही सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र को प्रभावित कर उसे स्वस्थता प्रदान करने वाला है।

संदर्भ सूचि

1. (क) आचारांग; 4/46
1. (ख) कर्मवाद और जन्मान्तर, पृ . 24
2. कैवल्योपनिषद्; 1/14
3. पञ्चास्तिकाय; गा. 17
4. सर्वार्थसिद्धि; 34 पृ. 208
5. पार्श्वनाथचारित्र; 9/3
6. उत्तराध्ययन; अध्याय 9
7. वही; 13/5-7
   तीसे य जाईइ उ पावियाए, वुच्छामु सोवाग निवेसणेसु।
   सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा, इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं।। 19।।
8. वही; 19/ 6-7
   साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणम्मि सोहणे।
   मोहंगयस्स सन्तस्स, जाई सरणं समुप्पन्नं।।
9. वही; 14 वां अध्ययन
10. (क) आचारांग भाष्य, पृ. 20
10. (ख) सांख्यसूत्र 6/41
11. सांख्य प्रवचन, भाष्य 6/9
12. वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य
13. पातंजल योगदर्शन 2/2

14. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ . 478
15. मज्झिम निकाय 3/4/5
16. ऋग्वेद 10/57/5, 1/1/64, यजुर्वेद, 36/39
17. कठोपनिषद्, 1/2/6,
मुण्डकोपनिषद्, 1/2/9-10, वृहदा. 6/2/8, 4/4/3
18. मनुस्मृति 12/40,12/549
19. गीता, 8/15-16,4/5
20. द्रव्य-संग्रह टीका; गा. 42
21. व्याख्या-प्रज्ञप्ति 21-24-8 सू. 18
22. आध्यात्मिक रामायण, अयोध्या काण्ड 9/14
23. अस्तित्व का मूल्यांकन पृ. 3-4
24. वही पृ. 3-4
25. (क) न्याय सूत्र 31/18
(ख) प्रमेय-रत्न माला 4/8
26. (क) अष्टसहस्त्री, हिन्दी अनुवाद पृ. 354
(ख) जैन दर्शन: स्वरूप और विश्लेषण पृ. 494
27. कर्मवाद और जन्मान्तर पृ . 196-199
28. परमात्म प्रकाश 1/71
29. परीक्षामुख 3/5
30. प्रमेय-रत्न माला 4/8 पृ . 296
31. सर्वार्थसिद्धि 3/4 पृ . 208
32. भगवती 7/10
33. उत्तराध्ययन; 7/20
34. (क) उत्तराध्ययन; 13/23
(ख) वही; 4/3
तेणे जहा संधि-मुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।।
35. (क) न्यायावतार; 3/2/61
(ख) जैन,बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन;पृ. 323

36. अभिधम्मत्थ संग्रह, 5/19, विशुद्धि मग्ग; 19/16
37. अभिधम्मत्थ संग्रह; 5/19
38. पातञ्जल योगदर्शन, 2/4
39. योग दर्शन, प्रस्तावना; पृ. 54
40. महाभारत शांतिपर्व; 181/16
41. प्रश्नोपनिषद्; 3/7
42. श्वेताश्वतरोपनिषद्; 5/7
43. वृहदारण्यकोपनिषद्; 4/45
44. विशुद्धिमग्गो; 17/88
45. सांख्यकारिका; 44
46. योग सूत्र 2/14, योग भाष्य; 2/12
47. न्यायमंजरी; पृ. 472
48. वृहदारण्यक; 3/2/13
49. तत्त्वार्थ सूत्र; 6/3-4
50. मनुस्मृति अ; 123
51. तत्वार्थ सूत्र; 6/19 नि:शील व्रतत्वं च सर्वेषाम्।
52. स्थानांग; 4/628 - 629
53. पण्णवणा; 6/114-123
54. भगवती वृत्ति; 6/151 -
निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयमनुभवनार्थरचनेति।
55. पञ्च संग्रह (दिगम्बर), शतक गा. 395 की संस्कृत टीका; पृ.246
56. भगवती वृत्ति; 6/151
57. भगवई भाष्य; श.6/8, पृ. 302,303
58. वही; 5/59
59. वही; 5/60
60. वही; 5/62
61. वही, 5/58
62. वही; 6/151

63. (क) वही; 1/420 - 421

(ख) वही; 5/57-58

64. वही; 15/101

65. पातञ्जल योग दर्शन; 2/13

66. भगवति वृत्ति; 1/4/21

67. पातञ्जल योग दर्शन; 2/13 व्यास भाष्य पृ. 151

68. भगवती वृत्ति; 5/58-

सर्वजीवानां सर्वायु: संवेदनेन सर्वभवभवनप्रसंग इति।

69. भगवती वृत्ति; 5/57

70. भगवती भाष्य; 1/342-343

71. (क) पण्णवणा; 6/114-116,

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य; पृ. 2/51 पृ .219,

भगवती भाष्य; श.5/59-61

72. उत्तराध्ययन; 36/56

73. तत्त्वार्थ सूत्र; 2/29

74. झीणी चर्चा, ढाल 17; गा.13

75. (क) स्थानांग वृत्ति; पत्र 430 परिणाम : स्वभाव : शक्ति : धर्म इति।

75. (ख) ठाणांग, पृ. 882

76. (क) स्थानांग; 1/25-28

(ख) स्थानांग; 2/259-261, उत्तराध्ययन; 10/ 5-13

77. (क) जीवाजीवाभिगम; 9/212

(ख) स्थानांग; 2/259-261

78. भगवती वृत्ति; 1/106

79. वही; 1/106

80. वही; 1/106

81. वही; 1/106

82. भगवती जोड़; 2/102/18-22

83. कर्म-ग्रंथ; पंचम 6-7

84. धवला; 14/10/2, 14/5-6
85. सर्वार्थसिद्धि; 8/21/398/3
86. तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 8/21/1/583/13
87. नंदी हरिभद्रीया वृत्ति; पृ.105
88. विपाक सूत्र, अभयदेव वृत्ति, उद्धृत ठाणं, पृ. 1001
89. स्थानांग; 4/1/249 - की टीका
आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः केवल क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठितः।
90. प्रज्ञापना; 23/1/293
91. भगवती वृत्ति; 1/4/40
92. वही; 1/4/40
93. प्रज्ञापना; 23/1/292
94. जैन सिद्धांत दीपिका; 4/8
सामान्योपात्तकर्मणा स्वभावः प्रकृत्तिः।
95. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश; भा. 1 पृ. 87
96. जैन तत्त्व प्रकाश; 4/9 कालावधारणं स्थितिः
97. वही; 4/10 विपाकोऽनुभागः
98. वही; 4/11 (दलसंचयःप्रदेश :।)
99. (क) महाभारत (शांतिपर्व); गोरखपुर, 1291
(ख) गीता रहस्य; पृ. 268
100. (क) जैन बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 316
100. (ख) उत्तराध्ययन; 4/4, 13/10,13, 20/37
101. भगवती; 1/2/64
102. जैन दर्शन - मनन और मीमांसा; पृ. 167
103. धवला; 1/1, 1/16/180/1
104. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भा. 2; पृ .4
105. तत्त्वार्थ सूत्र; 8/2-3
106. जैन सिद्धांत दीपिका; पृ .74
107. वही; 4/5 अबाधाकालो विद्यमानता च सत्ता।

108. सर्वार्थसिद्धि; 6/14/332 - उदयो: विपाक।
109. जैन सिद्धांत दीपिका; 4/5 नियत कालात् प्राक् उदय: उदीरणा।
110. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, प्रथम भाग, पृ.
111. भगवती; 1/140
111. (ख) आचारांग, 1/5
112. पंच संग्रह; गा. 253
113. जैन सिद्धांत दीपिका; पृ 68 - कर्मणा स्थित्यनुभागवृद्धि: उद्वर्तना
114. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, जीव तत्त्व-प्रदीपिका टीका; 438, 591
115. जैन सिद्धांत दीपिका; 4/5 स्थित्यनुभागहानि अपवर्तना।
116. धवला; 10/4-2, 4/21, 53/2
117. जैन सिद्धांत दीपिका; पृ.74
सजातीय प्रकृतिनां मिथ: परिवर्तनम् संक्रमण:।
118. जैन सिद्धांत दीपिका; 4/5, समस्त करणायोग्यत्वम् निकाचना।
119. जैन दर्शन - मनन और मीमांसा; पृ. 298-299
120. मनोविज्ञान और शिक्षा, डॉ. सरयूप्रसाद चौबे, पांचवां संस्करण 1960, पृ.183
121. दसवैकालिक; 8/37
कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो॥
122. उत्तराध्ययन; 29-3
धम्म सद्धाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
धम्म सद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ।
अगारधम्मं च णं चयइ अणगारे णं जीवे
सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयण-संजोगाईणं
वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ॥
123. कर्मवाद; पृ . 220
124. स्थानांग; 4/287
125. अंगुत्तर निकाय; 4/232-233
126. जैन भारती, दिसम्बर अंक 12; सन् 2000
127. भगवती; 5/118
128. विशेषावश्यक भाष्य; गा. 1939

पंचम अध्याय
क्रिया और अन्तक्रिया

बन्धन और मुक्ति भारतीय दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है। जैन दर्शन में बन्धन का हेतु आश्रव तथा मुक्ति का साधन संवर और निर्जरा को माना गया हैं। अन्तक्रिया संवर और निर्जरा की विशिष्ट प्रक्रिया है। इसका प्रयोग मुक्ति से पूर्व किया जाता है। इस अध्याय में बन्धन और मुक्ति में क्रिया की भूमिका को योग, आश्रव, संवर, निर्जरा और अन्तक्रिया के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया गया है।

क्रिया और योग

एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। योग शब्द भी इसका अपवाद नहीं है। जैन दर्शन में क्रिया के लिए योग शब्द का व्यवहार होता रहा है। पातञ्जल योग में योग शब्द समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार योग क्रिया का वाचक भी है और समाधि का भी। युज् धातु जब घञ् प्रत्यय से संपृक्त होती है तब योग शब्द निष्पन्न होता है। महर्षि पतञ्जली ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है।[1] बौद्धों ने योग का अर्थ समाधि किया है।[2] ऋग्वेद में योग शब्द का अनेक स्थलों पर व्यवहार हुआ है किन्तु पातञ्जल योग की तरह ध्यान-समाधि के रूप में नहीं, जोड़ने अर्थ में हुआ है। इस प्रकार योग शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें योग शब्द के संयोजित करना[3] और मन की समाधि[4] ये दो अर्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान युग में योग शब्द का व्यवहार 'योगा' के रूप में होता है जो विशेषत: आसन और प्राणायाम के प्रयोग के अर्थ में प्रयुक्त है।

योग की परिभाषा

जैन आगम साहित्य में योग शब्द का व्यवहार वैदिक एवं बौद्धों से भिन्न अर्थ में किया गया है। जैन सिद्धान्त दीपिका में योग को परिभाषित करते हुए आचार्य तुलसी

ने लिखा 'कायवाङ्मनोव्यापारो योगः' अर्थात् मन, वचन, काय की प्रवृत्ति योग है।[5] सूक्ष्म रूप में मन, वचन और काय के निमित्त से होने वाला आत्मा का स्पन्दन योग है।[6] वीर्यान्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम तथा नामकर्म के उदय से प्राप्त लब्धि योग की प्रयोजक होती है। वीर्य संपन्न आत्मा का मन, वचन, काय वर्गणानिमित्तक आत्म-प्रदेश का परिस्पंद योग है।[7]

योग के प्रकार

योग के संक्षेप में दो प्रकार हैं– द्रव्ययोग और भावयोग। द्रव्ययोग पौद्गलिक है। भाव योग आत्मिक परिणति है। केवली का काययोग एवं वचन योग– ये दोनों भाव योग हैं किन्तु मनोयोग द्रव्य योग है। योग शुभ और अशुभ दोनों होते हैं। मोक्ष तत्त्व की प्रधानता और गौणता से उसके सावद्य-निरवद्य भेद भी उपलब्ध हैं। इनके अलावा योग के तीन प्रकार भी हैं– मनोयोग, वचन योग और काय योग। अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या भी एक प्रकार की क्रिया, परिस्पंदन ही हैं किन्तु वे अति सूक्ष्म होने से योग के अन्तर्गत नहीं आते हैं। योग स्थूल स्पंदन है। मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा में जो स्पंदन होता है वह मूलतः एक ही प्रकार का है किन्तु विवक्षा या निमित्त भेद से तीन प्रकार का है– मानसिक क्रिया (मनोयोग), वाचिकक्रिया (वचन योग) और शारीरिक क्रिया (काय योग)। अतः जैन दर्शन में योग और क्रिया दोनों शब्द एकार्थक है।

(1) मनोयोग– मन हमारी प्रवृत्ति का सूक्ष्म और मुख्य कारण है। मन के द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न मनोयोग है। उसके सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार के भेद से चार प्रकार किये गये हैं। उनके भी चार प्रकार हैं - सत्य मन योग, असत्य मन योग, मिश्र मन योग और व्यवहार मन योग।

(2) वचन योग– भाषा द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न वचनयोग है। भेद-प्रभेद मनोयोग वत् ही समझे जा सकते हैं।

(3) काय योग– शरीर द्वारा होने वाला आत्मा का प्रयत्न काययोग है। काययोग का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर पांच हैं– औदारिक, वैक्रिय, आहार, तैजस और कार्मण। इनकी स्वतन्त्र तथा संयुक्त क्रिया के आधार पर काययोग के सात प्रकार किये गये हैं - औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण काययोग। चार्ट के द्वारा भी इसे स्पष्टतया समझा जा सकता है।

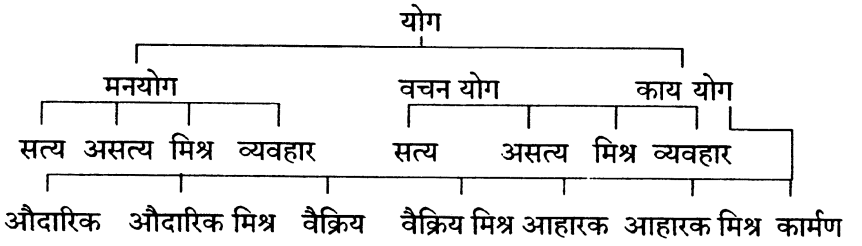

योग और कर्मबंध

भगवती सूत्र के अनुसार कर्मबंध के मूलत: दो कारण हैं– प्रमाद और योग। उदाहरणार्थ–

गौतम ने पूछा– भगवन! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है ?

भगवान– गौतम! बांधता है।

गौतम– भगवन् ! वह किन कारणों से बंधता है ?

भगवान– गौतम! उसके दो हेतु है– प्रमाद और योग।

गौतम– भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान– योग से।

गौतम– योग किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान– शरीर से।

गौतम– शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

भगवान– जीव से।

तात्पर्य है कि जीव शरीर का निर्माता है । क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का बंध करता है।

प्रत्ययहेतु (परिणामी कारण) प्रमाद और निमित्त हेतु योग है। योग (क्रिया) का अस्तित्व तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। कर्म बंध तेरहवें गुणस्थान तक निरन्तर होता रहता है। सकषायी के होने वाला सांपरायिक बंध है। अकषायी के ईर्यापथिक बंध है। कषाय रहित केवल योगजन्य बंध ईर्यापथिक है। यह ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इन गुणस्थानों में कषायों का अभाव है किन्तु योगों की चंचलता से बंध

होता है यद्यपि वह अल्पकालिक ही है। जैसे– सूखी दीवार पर मिट्टी डालने से वह दीवार का स्पर्श कर तत्काल अलग हो जाती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक बंध में कर्म परमाणुओं का स्पर्श मात्र होता है। इसमें बंध की स्थिति दो समय की ही होती है। कर्म पहले क्षण में बंधते हैं। दूसरे क्षण में निर्जीर्ण हो जाते हैं। बंधन की प्रक्रिया में कषाय और योग का स्थान महत्वपूर्ण है। कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग से है, योग का प्रकृति और प्रदेश से। यद्यपि क्रिया के स्वरूप का निर्धारण कषायों से होता है किन्तु निकटवर्ती कारण की दृष्टि से बंधन में योग की ही मुख्य भूमिका रहती है।

इस प्रसंग में ध्यातव्य तथ्य यह है कि चौदहवें गुणस्थान में वीर्यान्तराय कर्म का क्षय होने पर भी क्रिया का निरोध होने से चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं पाया जाता। वह अयोग में परिणत हो जाता है।[8]

प्रश्न हो सकता है कि मनोयोग, वचनयोग में काययोग का संबंध किसी न किसी रूप में होता ही है। अत: एक काययोग ही पर्याप्त है? आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार वस्तुत: काययोग ही एक मात्र योग है किन्तु कार्यभेद से एक के ही तीन रूप हो जाते हैं। जब काययोग मनन करने में सहयोगी बनता है तब मनोयोग कहलाता है। वचनयोग में सहयोगी बनता है तब वचनयोग कहलाता है।

निश्चित दृष्टि से तीनों योग अलग-अलग न होकर काययोग के ही तीन प्रकार हैं। तीनों पुद्गल रूप हैं। पुद्गल का परिणमन आत्म-सापेक्ष है। इस दृष्टि से तीनों योग एक ही है।

योग आश्रव का उल्लेख प्राय: सभी परम्पराओं में समान रूप से मान्य है। व्याख्या की दृष्टि से इस सन्दर्भ में दो परम्पराएं उपलब्ध हैं। एक परम्परा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्ति (क्रिया) को योगाश्रव में समाहित करती है। दूसरी परम्परा केवल अशुभ-प्रवृत्तियों को योगाश्रव स्वीकार करती है। इसमें देवेन्द्र सूरि प्रमुख हैं। उन्होंनें अप्रशस्त या अशुभ मन, वचन, काया के व्यापार को योग आश्रव माना है।[8अ]

उमास्वाति तथा अन्य अनेक आचार्यों ने योगाश्रव में शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं का समावेश किया।[9] आचार्य भिक्षु ने इस विषय में स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार शुभयोग निर्जरा का हेतु है अत: उसका समावेश योग आश्रव में नहीं होता किन्तु निर्जरा के साथ पुण्य का बंध होता है, इस दृष्टि से शुभ क्रियाओं को योग आश्रव के अन्तर्गत लिया गया है।

योगाश्रव जीव या अजीव

मोहनीय कर्म के दो भेद है– चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय। चारित्र मोहनीय के उदय से जीव सावद्य कार्यों में संलग्न हो जाता है। सावद्य कार्य योगाश्रव है। आश्रव जीव का परिणाम हैं। अत: योगाश्रव भी जीव है, यह सहजसिद्ध है। योगाश्रव में यदि अशुभयोग का ही ग्रहण हो और वही आश्रव होता तो अशुभयोग निरोध को संवर कहा जाता, किन्तु ऐसा कहीं उल्लेख नहीं। सर्वत्र-योग निरोध को ही संवर कहा गया है। इसका तात्पर्य है योगाश्रव में शुभ-अशुभ दोनों योगों का समावेश है।[10]

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के समय में एक मत यह भी रहा कि तीन योगों के अतिरिक्त चौथा योग कार्मण भी हैं, जो सर्वथा भिन्न है। योगाश्रव में यही आता है, प्रथम तीन नहीं। आचार्य भिक्षु ने चौथे योग की मान्यता को मिथ्या सिद्ध किया। उन्होंनें कहा– पुण्य के कर्ता तीनों योग निरवद्य हैं। पाप का उपार्जन करने वाले योग सावद्य हैं। यौगिक प्रवृत्ति आत्म-प्रदेशों की चंचलता है। व्यक्ति में जब आत्म-शक्ति, बल, और पराक्रम का विस्फोट होता है तब आत्म प्रदेशों में कंपन होता है, नाम कर्म उसमें सहयोगी बनता है। वही मूलत: योग है। इसके अलावा, चौथे योग की धारणा तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है।

आचार्य भिक्षु के समय में एक प्रश्न उठा– शुभ योग संवर है और पांचों चारित्र भी संवर है। क्या शुभ योग को चारित्र कहा जा सकता है ? आचार्य भिक्षु ने कहा– यह जैन मान्यता से विपरीत है। शुभयोग और शुभयोग-संवर भिन्न है। शुभयोग चल दशा, जबकि चारित्र स्थिर दशा है। चारित्र चारित्रावरणीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से प्राप्त होता है। यदि शुभयोग संवर है तो तेरहवें गुणस्थान में मन, वचन आदि की प्रवृत्ति को रोकने का निर्देश है। संवर को रोकने की क्या अपेक्षा है। यदि यथाख्यात चारित्र भी शुभयोग संवर है तो चौदहवें गुणस्थान में अयोगी सिद्ध कैसे होगा। अत: शुभयोग और चारित्र को एक नहीं माना जा सकता।

क्रिया और आश्रव

आत्मा में अनन्त वीर्य, शक्ति या सामर्थ्य है। यह शुद्ध आत्मिक वीर्य होता है। आत्मा और शरीर दोनों के साहचर्य से उत्पन्न वीर्य क्रिया का रूप होता है। इस क्रिया के द्वारा होने वाले कंपन के साथ जब बाहरी कर्म पुद्गलों का योग होता है और उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, तब बंधन होता है। इस प्रक्रिया को आश्रव कहा जाता है।[11]

वस्तुत: योग और आश्रव दो तत्त्व नहीं है। जहां योग है, वहां आश्रव निश्चित ही है। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र में आश्रव को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि कर्माकर्षण का हेतुभूत आत्म-परिणाम आश्रव हैं।[12] कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं योग हैं और योग ही आश्रव हैं। तीनों योगों को आश्रव कहा है। योग के द्वारा ही आत्मा में कर्म पुद्गलों का आश्रवण होता है। कर्मास्रव का निमित्त होने से योग ही आश्रव है। आचारांग के भाष्यकर्ता आचार्य महाप्रज्ञ भी लिखते हैं कि क्रिया कर्म पुद्गलों का आश्रवण करती है इसलिये उसका दूसरा नाम आश्रव है। वही वस्तुत: दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण का हेतु है।[13] 'आसमन्तात् स्रवति कर्म अनेनेति आश्रव: अथवा 'उपादीयते कर्म अनेनेति आश्रव:, अर्थात् जिसके कारण चारों ओर से कर्मों का आगमन होता है या जिससे कर्म ग्रहण किये जाते हैं, वह आश्रव है।

आचारांग के टीकाकार ने आश्रव शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है– जिन आरम्भों या स्रोतों के द्वारा आठ प्रकार के कर्म आकर आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं, उन स्रोतों को आश्रव कहा है।[14] इस परिभाषा से द्रव्यास्रव और भावास्रव दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है। आत्मा की विकारी दशा भावास्रव एवं कर्म वर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। भावास्रव कारण है, द्रव्यास्रव कार्य है। द्रव्यास्रव को कारण माने तो भावास्रव कार्य है। इस प्रकार चक्र न्याय से दोनों एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। शुभ अथवा अशुभ जिन भावों में जीव परिणमन करता है, उसी रूप में कर्म ग्रहण होता है। शुभ प्रवृत्ति (क्रिया) पुण्य कर्म का आश्रव द्वार है। अशुभ प्रवृत्ति (क्रिया) पाप कर्म का आश्रव द्वार है।[15]

आश्रव द्वार शब्द का प्रयोग भी आश्रव का ही द्योतक है। जैसे नौका में जलागमन का कारण नौका का छिद्र है। किसी भवन में प्रवेश का हेतु उसका द्वार है, वैसे ही कर्म-वर्गणाओं के आगमन का द्वार आश्रव है।[16]

आचार्य भिक्षु ने आश्रव को समझाते हुए कहा है कि जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहते हैं। जिस प्रकार मकान के दरवाजा होता है, तालाब के नाला होता है, नौका के छेद होता है, उसी प्रकार जीव के आश्रव होता है। इस प्रकार आश्रव जीव का परिणाम और कर्म-बंध का हेतु है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने आश्रव की व्याख्या तीन तथ्यों के आधार पर की है - परिणाम, क्रिया-विशेष तथा उपचयापचय।

परिणाम के आधार पर असंबुद्ध व्यक्ति का कर्म आश्रव है।

क्रिया-विशेष– असंयत व्यक्ति का समस्त क्रिया व्यापार– उठना-बैठना आदि आश्रव है।

उपचय-अपचय– इस आधार पर साम्परायिक क्रिया दीर्घकालिक और ईर्यापथिक क्रिया अल्पकालिक कर्म-बंध का हेतु है।

आश्रव के प्रकार

तत्त्वार्थ सूत्र में आश्रव के दो प्रकार बतलाये हैं– ईर्यापथिक और साम्परायिक। वाचक उमास्वाति के अभिमत से साम्परायिक आश्रव का आधार उनचालीस प्रकार की क्रियाएं हैं– पांच इन्द्रियां, चार कषाय, पांच अव्रत, पच्चीस क्रियाएं। कुछ आचार्यों ने तीन योगों को सम्मिलित कर आश्रव के बयांलीस भेद किये हैं। [17]समयसार में चार आश्रवों का उल्लेख है। वहां प्रमाद को अलग आश्रव नहीं माना है।[18] प्रस्तुत प्रसंग में संक्षेप की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्रीय व्याख्या पहले करके तत्पश्चात् स्थानांग और समवायांग में वर्णित आश्रवों के प्रकार की चर्चा की जा रही है। ठाणांग[19] एवं समवायांग[20] के आधार पर आश्रव पांच हैं– 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय एवं 5. योग।

उमास्वाति ने 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बंधहेतवः।'[21] कहकर स्थानांगगत पांच आश्रवों की परम्परा का ही समर्थन किया है।

आश्रव के बीस भेदों की परम्परा भी प्रसिद्ध है किन्तु बीस नामों का किसी एक स्थान पर व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। पच्चीस बोल (थोकड़ा) के अन्तर्गत बीस भेदों का उल्लेख निम्नानुसार है–

1. मिथ्यात्वआश्रव
2. अविरत आश्रव
3. प्रमाद आश्रव
4. कषाय आश्रव
5. योग आश्रव
6. प्राणातिपात आश्रव
7. मृषावाद आश्रव
8. अदत्तादान आश्रव
9. मैथुन आश्रव
10. परिग्रह आश्रव
11. श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव
12. चक्षुरिन्द्रिय आश्रव
13. घ्राणेन्द्रिय आश्रव
14. रसनेन्द्रिय आश्रव
15. स्पर्शनेन्द्रिय आश्रव
16. मन आश्रव
17. वचन आश्रव
18. काया आश्रव
19. भण्डोपकरण आश्रव
20. शुचिकुशाग्र मात्र दोष आश्रव

इन बीस भेदों में भी प्रथम पांच आश्रव ही मुख्य हैं। शेष योग आश्रव का ही विस्तार है।

(1) मिथ्यात्व आश्रव– मिथ्यात्व का अर्थ अयथार्थ दृष्टिकोण है। तात्त्विक भाषा में विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। जीव की दृष्टि को विकृत करने वाले मोह-परमाणुओं के उदय से अयथार्थ में यथार्थ और यथार्थ में अयथार्थ की जो प्रतीति होती है, वह मिथ्यात्व आश्रव है। आचार्य पूज्यपाद ने एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान के भेद से मिथ्यात्व के पांच प्रकार माने हैं।[22]

(2) अविरति आश्रव– अविरत अर्थात् अत्याग भाव। आन्तरिक लालसा और असंयमित जीवनशैली से इसका सम्बन्ध है। चारित्र मोह की प्रबलता के अंश रूप में या सम्पूर्ण रूप में हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों के छोड़ने की वृत्ति (भावना या इच्छा) ही पैदा नहीं होती। हिंसा, असत्य, स्तेयवृत्ति, मैथुन (काम-वासना), परिग्रह उसके भेद हैं। त्याग के प्रति अनुत्साह और भोग में उत्साह अविरति है।

(3) प्रमाद आश्रव– आत्म विस्मृति अथवा आलस्य को प्रमाद कहा है। स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा, राजकथा प्रमाद के अन्तर्गत है। तत्त्वज्ञान की भाषा में अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है।

(4) कषाय आश्रव– राग-द्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। कषाय आध्यात्मिक दोष है। कषाय व्यक्त हो या अव्यक्त, आत्मा के मूल स्वरूप को प्रभावित और विकृत करता है। धवला के रचनाकार आचार्य वीरसेन लिखते हैं– दुःख रूप धान्य के उत्पादक कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं। जो उन्हें फलवान बनाते हैं, वे कषाय कहलाते हैं।[23] यदि कषाय का अभाव हो तो जन्म-मरण की परम्परा का विष-वृक्ष स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाता है।

कषाय के लिये आचारांग में 'आयाण ' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो पुरुष कर्म के आदान को रोकता है, वही अपने किये कर्म का भेदन कर सकता है।[24] राग-द्वेष प्रमुख आश्रव है। राग से माया और लोभ एवं द्वेष से क्रोध व मान उत्पन्न होते हैं।[25]

चारों कषाय वासना के राग-द्वेषात्मक पक्षों की आवेगात्मक अभिव्यक्तियां हैं। वासना अपनी तीव्रता की विधेयात्मक अवस्था में राग और निषेधात्मक अवस्था में द्वेष हो जाती है। राग-द्वेष की ही बाह्य आवेगात्मक अभिव्यक्ति कषाय हैं। आत्म-विकास में सर्वाधिक कषाय बाधक है।

(5) योग आश्रव– योग का अर्थ प्रवृत्ति या क्रिया है। शरीर, भाषा और मन की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्म-परिणति का नाम योग आश्रव है। मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन होता रहता है। योग जन्य चंचलता का नाश होने पर ही मुक्ति संभव है। कषाय और योगआश्रव के दो आधारभूत स्तंभ है। अशुभयोग से अशुभ कर्म का बंध होता है और शुभयोग से शुभकर्म का। योग का सर्वथा निरोध होने से अयोग संवर अथवा शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। इसके अनन्तर जीव मुक्त हो जाता है।

सकषायी जीवों के साम्परायिक आश्रव और अकषायी के ईर्यापथ आश्रव होता है। चतुर्गति रूप संसार का नाम सम्पराय है। संपराय जिस आश्रव का प्रयोजन हो, वह साम्परायिक आश्रव है। ईर्यापथ का अर्थ– 'ईरणं ईर्या-आगमानुसारिणी गति : सैव पन्था: मार्ग : प्रवेशे यस्य कर्मण: तदीर्यापथम्', आगम विधि के अनुसार जो गमन होता है, वह ईर्या है। ईर्या जिस कर्म के आगमन का द्वार है, वह ईर्यापथ कर्म है। उसमें ईर्या को कारण माना है। ईर्यापथ आश्रव केवल योग से होता है, कषाय से नहीं। सकषायी जीवों के कर्म बंध समान नहीं होता। तीव्र, मंद, मध्यम, ज्ञात, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से कर्मों का आश्रव भी अलग-अलग स्तरों पर होता है। जीवों के परिणाम एक रूप नहीं होते इसलिये उनके द्वारा कर्मों का बंध भी अनेक प्रकार का माना गया है। तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भावों के कारण आश्रव की भी तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम अवस्थाएं होती हैं। स्थिति बंध में भी इसी प्रकार अंतर हो जाता है।

कषायों की मंदता से जो भाव होते हैं, वे मंद भाव हैं। इनमें भी मंद, मंदतर, मंदतम विभाग हैं। आश्रव की भी यही स्थिति होती है। तीव्र भावों से जिस प्रकार आश्रव में तीव्रता आती है और मंद भावों से मंदता, उसी प्रकार जो परिणाम न तीव्र हो और न मंद, मध्यम स्थिति में हो तो आश्रव भी मध्यम स्थिति वाला होता है। मध्य के भी मध्य, मध्यतर, मध्यतम– तीन स्तर बनते है। ज्ञातभाव– ज्ञात नाम आत्मा का है। ज्ञानयुक्त आत्मा के परिणाम ज्ञातभाव हैं। जैसे कोई व्यक्ति स्वेच्छा से प्रेरित हो प्राणातिपातादि अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है। उसका वह परिणाम ज्ञातभाव है।

अज्ञातभाव प्रमाद या अज्ञानवश होने वाली प्रवृत्ति अज्ञातभाव है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धि का नाम वीर्य है। शक्ति, सामर्थ्य, प्राण– ये सब एकार्थक हैं। इनकी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति वज्रऋषभनाराच संहनन वाले त्रिपृष्ठ वासुदेव में तथा बलिष्ठ सिंहादि के द्वारा विदारण क्रिया करते समय होती है। वीर्य के जैसा ही वीर्य-विशेष

है। जिसके द्वारा दुर्गति के हेतुभूत कर्म का बंध होता है, उसे अधिकरण कहते है। अधिकरण को सामान्य भाषा में शस्त्र कहा जाता हैं। अधिकरण दो प्रकार का है– जीवाधिकरण, अजीवाधिकरण। दोनों ही अधिकरण जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति यानी क्रिया में निमित्तभूत अथवा विषयभूत होते हैं। इसलिये निमित्त के कारण दोनों को साम्परायिक आश्रव का अधिकरण कहा गया है। कोई भी व्यक्ति इन्हें निमित्त बनाकर ही क्रिया करता है। इस अपेक्षा से वह तन्निमित्तक साम्परायिक आश्रव का बंधक होता है।

द्रव्य, भाव के भेद से जीवाधिकरण दो प्रकार का है। जीवों के छेदन-भेदन का हेतु जो द्रव्य शस्त्र है, वही द्रव्याधिकरण है। इसके लौकिक-लोकोत्तर भेद भी हैं। कुठार, असि आदि लौकिक शस्त्र हैं। दहन, विष, लवण, क्षार, स्नेह, अम्ल तथा अनुपयुक्त व्यक्ति के मन, वचन, काया के भेद से इसके नौ प्रकार हैं। इन्हें लोकोत्तर शस्त्र इसीलिये कहा कि कुठार, असि आदि लोक प्रसिद्ध शस्त्र हैं। वैसे दहन करना, जलाना आदि क्रियाएं शस्त्र रूप में प्रसिद्ध नहीं है। द्रव्य रूप इस शस्त्र का जीव-अजीव पर प्रयोग करने से साम्परायिक कर्म का बंध होता है। इसी प्रकार अनुपयुक्त व्यक्ति की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएं एवं चेष्टाएं भी कर्म-बंध का कारण है।

आत्मा के तीव्र -तीव्रतर आदि जो भाव हैं, वे भावाधिकरण हैं। भावाधिकरण 108 प्रकार का हैं। उसका गणित इस प्रकार है - 1. सरंभ 2. समारम्भ 3. आरम्भ। इन्हें तीन योगों (मन, वचन,काय) से गुणन करने पर 9 प्रकार होते हैं। कृत, कारित, अनुमोदन से गुणा करने पर $9 \times 3 = 27$, क्रोध, मान, माया, लोभ से गुणा करने पर $27 \times 4 = 108$ प्रकार होते हैं। इस प्रकार कुल 108 भेद जीवाधिकरण के हैं।[26]

अजीवाधिकरण के चार प्रकार विभाग हैं– निर्वर्तनाधिकरण, निक्षेपाधिकरण, संयोगाधिकरण और निसर्गाधिकरण।

निर्वर्तनाधिकरण– निर्वर्तना नाम रचना का है। रचना रूप अधिकरण निर्वर्तनाधिकरण कहलाता है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण इन पांच शरीरों के आकार अपने अनुरूप द्रव्यों से बनते हैं। ये आकार कर्म-बंध के कारण बनने से निर्वर्तनाधिकरण के अन्तर्गत लिये है। शरीर, मन और श्वासोच्छ्वास की रचना का होना मूल गुण निर्वर्तना है। उत्तर गुण निर्वर्तना में काष्ठकर्म, चित्रकर्म, लेप्यकर्म, पत्रच्छेद्य कर्म आदि समस्त क्रियाएं हैं। तलवार में मारने की क्षमता अथवा उसकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है। उसमें तीक्ष्णता, उज्ज्वलता आदि उत्तर गुण निर्वर्तना है।

निक्षेपाधिकरण–निक्षेप का अर्थ है– वस्तु को रखना। निक्षेप रूप अधिकरण निक्षेपाधिकरण है। उसके चार प्रकार हैं - 1. अप्रत्युपेक्षित निक्षेपाधिकरण 2. दुष्प्रमार्जित निक्षेपाधिकरण 3. सहसा निक्षेपाधिकरण 4. अनाभोग निक्षेपाधिकरण।[27]

(1) अप्रत्युपेक्षित निक्षेपाधिकरण– रखने योग्य उपकरणों को बिना देखे भूमि पर रखना।

(2) दुष्प्रमार्जित निक्षेपाधिकरण– भूमि का सही प्रमार्जन न करना अथवा जागरूकता पूर्वक न रखना।

(3) सहसा निक्षेपाधिकरण– प्रतिलेखन, प्रमार्जन किये बिना शक्ति के अभाव में सहसा उपकरणादि रख देना।

(4) अनाभोग निक्षेपाधिकरण– किसी वस्तु को योग्य स्थान पर न रखना। प्रतिलेखन, प्रमार्जन के बिना कहीं भी वस्तु का निक्षेप कर देना।

संयोगाधिकरण– इसमें दो शब्द है - संयोग और अधिकरण। संयोग का अर्थ है– मिलन यानि संयोजन करना। अधिकरण का अर्थ है– ऐसे साधन, जिनके द्वारा आत्मा पाप का संग्रह करता है। जैसे– ऊंखल,घट्टी, हल, मूसल, लोहे का फाल, जुआ तथा बाण आदि। जब ऊंखल के साथ मूसल, हल के साथ लोहे का फाल, शकट के साथ जुआ और धनुष के साथ बाण का संयोजन किया जाता है, तब उस संयोग के निमित्त से जो कर्म-बंध होता है, वह संयोगाधिकरण आश्रव है। इसके भक्तपान-संयोगाधिकरण, उपकरण-संयोगाधिकरण दो भेद हैं। भक्त– भोजन के साथ व्यञ्जन, गुड़, फल, शाक आदि मिलाना। पान– पीने योग्य द्राक्ष, दाड़िम आदि के रस में शक्कर, मिश्री मिलाना।

उपकरण संयोगाधिकरण-वस्त्र, पात्र आदि का रक्त, पीत आदि वर्णों के साथ तथा शोभा के निमित्त उसके प्रान्तभाग को अन्य दूसरे वस्त्रों के साथ अथवा विविध रंगीन धागों से संयुक्त करना।

निसर्गाधिकरण– निसर्ग का तात्पर्य त्याग या विसर्जन से है। निसर्ग रूप अधिकरण निसर्गाधिकरण है। उसके तीन स्तर हैं–

(1) काय निसर्गाधिकरण

(2) वाङ् निसर्गाधिकरण

(3) मन निसर्गाधिकरण।

(1) काय-निसर्गाधिकरण– औदारिकादि शरीर का अविधि से त्याग करना। जैसे– गिरिपतन, विषभक्षण, अग्निस्नान, आदि बाल मृत्यु।

(2) वाङ्-निसर्गाधिकरण– वाणी के द्वारा किसी को दुष्प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करना।

(3)मन-निसर्गाधिकरण–अप्रशस्त चिन्तन रूप मन की क्रिया। यहां शंका हो सकती है कि जीवाधिकरण के 108 भेदों मे तीन योगों को सम्मिलित किया है और निसर्गाधिकरण में भी उन्हीं का समावेश होने से पुनरुक्ति दोष आता है। इस आशंका का परिहार करने के लिये टीकाकार का कहना है कि जीवाधिकरण में मन, वचन, काय रूप संपूर्ण योग का नहीं, केवल दुष्प्रवृत्ति मात्र का ग्रहण है जबकि निसर्गाधिकरण में योग से अधिक सम्बन्ध है।

उपरोक्त विवेचन का फलित यह है कि जीव-अजीव रूप अधिकरण के निमित्त से योग और कषाय युक्त जीवों के सांपरायिक आश्रव होता है। कषाय के अभाव में ईर्यापथ कर्म का आश्रव होता है। कर्माकर्षणहेतुरात्म परिणाम आश्रवः।

कर्म आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव चेतना के छेद हैं। उनके द्वारा विजातीय तत्त्व– कर्म रजें निरन्तर आत्मा में प्रवेश करती रहती है।

आत्मा की वैभाविक परिणति बंधन का कारण है। आशा और छंद कर्म-बंध का हेतु है।[28] आशा का अर्थ है– भोगाभिलाषा। छंद का अभिप्राय है– ऐन्द्रिय सुख। इन दोनों के कारण अकुशल कर्म में प्रवृत्ति होती है। नये-नये कर्मों का आगमन होता हैं। [29]

जैन परम्परा में कर्म-बंध का हेतु आश्रव माना गया है। बौद्ध परम्परा में भी बंध का हेतु आश्रव को ही माना है। आश्रव शब्द पाली भाषा के आसव का रूपान्तरण है।

अनित्य में नित्य, दुःख में सुख, अनात्म में आत्म बुद्धि का नाम अविद्या है। अविद्या आश्रवजनित है और संसार रूपी दुःख का मूलस्रोत है। बौद्ध परम्परा में आश्रव के चार प्रकार हैं–

कामासव– शब्दादि विषयों को प्राप्त करने की इच्छा।

भवासव– पंच स्कंध अर्थात् सचेतन देह में जीने की अभिलाषा।

दृष्ट्यासव– दृष्टि का विपर्यास।

अविद्यासव– अनित्य में नित्य का बोध।[30]

बौद्ध परम्परा में प्रचलित अविद्या और जैन परम्परा में प्रचलित मिथ्यात्व समानार्थी हैं। काम कषाय का द्योतक है और भव पुनर्जन्म का द्योतक है। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज की उत्पत्ति– यह शाश्वत परम्परा है। उसी तरह अविद्या से आश्रव और आश्रव से अविद्या जन्म लेती है।

गीता में आसुरी संपदा को बंधन का हेतु बतलाया है। वे आसुरी संपदाएं हैं– दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य (कठोरवाणी), अज्ञान आदि।[31]

योग सूत्र के अनुसार अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग (आसक्ति), द्वेष और अभिनिवेश से बंध होता है। इनमें अविद्या प्रमुख है।[32] न्याय दर्शन में बंधकारक तत्त्व तीन हैं– राग, द्वेष और मोह। राग, द्वेषादि अज्ञान से उत्पन्न हैं।[33] तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श करें तो अविद्या, राग-द्वेष को सभी ने प्रमुखता दी है।

क्रिया और संवर

स्थूल स्तर पर देखने से क्रिया और संवर में दूर तक कोई संबंध दिखाई नहीं देता है। किन्तु गहराई में जाने पर कुछ ओर ही तथ्य सामने आते हैं। क्रिया का संवर के साथ गहरा सम्बन्ध है। क्रिया के बिना संवर की साधना नहीं की जा सकती। संवर भी क्रिया है किन्तु आत्मा की वही क्रिया संवर के अन्तर्गत मानी जाती है जो बाह्य कर्म-परमाणुओं के आक्रमण से आत्मा को सुरक्षा प्रदान करती है अर्थात् कर्माकर्षण को रोकने की हेतुभूत क्रिया ही संवर है।

स्थानांग में संवर आश्रव का प्रतिपक्षी है।[34] सास्रव अवस्था में आत्म-प्रदेशों में स्पंदन होता रहता है। आत्म-प्रदेशों की चंचलता आश्रव है। उनकी स्थिरता संवर है। कर्माणुओं की गति को बदलने का एक उपक्रम संवर है। यह मोक्ष-मार्ग की आराधना का प्रकृष्ट साधन है। मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों की चर्चा में आश्रव को बाधक और संवर को साधक माना है।

संवर की परिभाषा एवं स्वरूप

जैन परम्परा में कर्म-परमाणुओं के आस्रवण को रोकने के अर्थ में संवर शब्द का प्रयोग है।

बौद्ध परम्परा में भी संवर शब्द क्रियाओं के निरोध अर्थ में ही स्वीकृत हैं। क्योंकि

वहां कर्म का भौतिक स्वरूप मान्य नहीं हैं। अत : संवर का तात्पर्य शारीरिक क्रिया या ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है।

संवर शब्द 'वृ' धातु से निष्पन्न है। 'वृ' धातु का अर्थ है– निरोध करना। शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का निरोध संवर है। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जो शुभाशुभ कर्मों के आगमन का द्वार है, वह आश्रव है। आश्रव का निरोध करना संवर है।[35]

संवर केवल अशुभ आश्रवों के निग्रह का ही हेतु नहीं अपितु वह शुभ - आश्रवों का भी नियमन करता है। यह निवृत्ति परक है। प्रवृत्ति मात्र आश्रव है। निग्रह मात्र संवर है। मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों की चर्चा में आश्रव को बाधक और संवर को साधक माना है।

कहा गया– 'आश्रव: भव हेतु स्यात्, संवरो मोक्ष कारणम्', संसार वृद्धि का प्रधान हेतु आश्रव और मोक्ष का प्रधान हेतु संवर है।[36] कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया में निर्जरा उपादान कारण है किन्तु संवर के अभाव में उसका अधिक मूल्य नहीं रह जाता हैं। वस्तुत: ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

आचार्य भिक्षु ने संवर के स्वरूप को सोदाहरण स्पष्ट किया है।[37] तालाब के नाले को अवरूद्ध करने की तरह जीव के आश्रव का निरोध करना संवर है। मकान के द्वार को बंद करने की तरह जीव के आश्रव का निरोध करना संवर है। नौका के छिद्र को निरूद्ध करने की तरह जीव के आश्रव का निरोध करना संवर है। संवर और आश्रव के पारस्परिक सम्बन्ध तथा संवर के स्वरूप का यह स्पष्ट निदर्शन है। योगादि आश्रवों का सर्वथा निरोध करने पर संवृत जीव के प्रदेशों में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

आश्रव के जितने प्रकार हैं उतने ही प्रकार संवर के है। इनकी अन्तिम संख्या का निर्धारण असंभव है। व्यावहारिक दृष्टि से संवर के भेदों की निश्चित संख्या का प्रतिपादन करने वाली अनेक परम्पराएं प्राप्त हैं। उनमें मुख्य ये है–

1. दो संवर की परम्परा
2. चार संवर की परम्परा
3. पांच संवर की परम्परा
4. आठ संवर की परम्परा
5. दस संवर की परम्परा
6. बीस संवर की परम्परा
7. सत्तावन संवर की परम्परा

(1) दो प्रकार–

प्रथम परम्परा के अनुसार संवर के दो प्रकार हैं– द्रव्य संवर और भाव संवर। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा में ये भेद मान्य हैं।

1. ये दो परम्परा तत्त्वार्थसूत्र नवतत्त्व साहित्य संग्रह तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है।[37(क)]

2. चार संवर सूचक की परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा सम्मत है।

3. तीसरी, चौथी और पांचवी परम्परा आगमिक है। ठाणांग, प्रश्नव्याकरण के आधार पर एक-एक आश्रव का एक-एक प्रतिपक्षी संवर है।

4. विकल्प से चौथी परम्परा के अन्तिम 15 भेद विरत संवर के ही भेद है। इस तरह दोनों परम्पराएं एक ही है, केवल संक्षेप-विस्तार की अपेक्षा से ही दो कही जा सकती है।

5. संवर के 57 भेदों की परम्परा– तत्त्वार्थ सूत्र के गुच्छ क्रम से ही 57 भेदों का विवेचन किया है।

इनकी परिभाषाएं निम्नानुसार हैं–

1. कर्माणुओं को रोकने वाला द्रव्य संवर, द्रव्याश्रव की निरोधक चैतसिक अवस्था का नाम भाव संवर है।

2. जलमध्यगत नौका के छिद्रों का, जिन से अनवरत जल का प्रवेश होता है, बंद करना द्रव्य संवर है। जीव-द्रोणी में कर्म-जल के आश्रव के हेतुभूत इन्द्रियादि छिद्रों का समिति आदि से निरोध करना भाव संवर है।[38]

3. मोह, राग-द्वेष रूप परिणामों का निरोध भाव संवर है। भाव संवर के निमित्त से योग द्वारों से शुभाशुभ कर्म परमाणुओं का निरोध होना द्रव्य संवर है। [39]

4. जो चैतसिक परिणाम कर्मों के आश्रव के निरोध में हेतु होता है, वह भाव संवर है। द्रव्याश्रव के अवरोध में जो हेतु होता है, वह द्रव्य संवर है। [40]

(2) चार प्रकार– श्वेताम्बर परम्परा में संवर के चार प्रकार भी माने गये हैं– [41]
1. सम्यक्त्व संवर, 2. विरति संवर, 3. कषाय संवर, 4. योगाभाव संवर ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग निरोध रूप चार प्रकार के संवर है।[42] चार संवर की सूचक परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा समर्थित है।

(3) पांच प्रकार– 1. सम्यक्त्व संवर, 2. विरति संवर, 3. अप्रमाद संवर, 4. अकषाय संवर, 5. अयोग संवर ।[43]

सम्यक्त्व– यथार्थ दृष्टिकोण, यथार्थतत्त्व श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व संवर है, विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व है। यह मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी है।

आचार्य भिक्षु ने नवपदार्थ में इसके दो भेद बतलाएं हैं– 1. विपरीत श्रद्धा का त्याग 2. नौ पदार्थों में यथातथ्य श्रद्धान।

विरति– संयमित जीवन चर्या, त्याग भाव। इसके दो रूप है - देशव्रत और सर्वव्रत। असत् प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत संवर और उनका जीवनभर के लिये सब प्रकार से त्याग सर्वव्रत संवर है।

अप्रमाद– स्व जागृति। यह आत्म जागृति का जनक है, प्रमाद का सेवन न करना अप्रमाद है, प्रमाद का अर्थ अनुत्साह है। आत्म स्थित अनुत्साह का क्षय हो जाना अप्रमाद संवर है।

अकषाय– मनोवेगों का अभाव। कषाय को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है।

अयोग– अक्रिया[44] प्रवृत्ति का निरोध करना संवर अथवा अप्रकंप अवस्था अयोग संवर हैं। प्रवृत्ति दो प्रकार की है– शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध व्रत संवर और शुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध अयोग संवर है। अयोग संवर की स्थिति में पहुंचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

(4) आठ प्रकार

स्थानांग सूत्र में संवर के आठ भेदों का निरूपण है[45]–

1. श्रोत्रेन्द्रिय संवर	2. चक्षु इन्द्रिय संवर
3. घ्राणेन्द्रिय संवर	4. रसनेन्द्रिय संवर
5. स्पर्शनेन्द्रिय संवर	6. मन संवर
7. वचन संवर	8. शरीर संवर

तथागत बुद्ध ने संयुक्त निकाय में असंवर-संवर का निरूपण किया है। धम्मपद में उन्होंने कहा है– 'भिक्षुओं ! आंख का संवर उत्तम है, श्रोत्र का संवर उत्तम है। जिह्वा का संवर, मन, वाणी और शरीर का संवर उत्तम है। जो भिक्षु पूर्णतया संवृत है वह समग्र दुःखों से शीघ्र ही छूट जाता है।[46]

ठाणांग में 10 प्रकार के संवरों का उल्लेख मिलता है।[47क]

संवर आश्रव का प्रतिपक्षी है। आश्रव के बीस प्रकारों का उल्लेख किया जाता है, उनके प्रतिपक्ष में बीस संवर की संख्या भी प्रतिपादित है।[47ख]

(5)बीस प्रकार–

1. सम्यक्त्व संवर	2. विरति संवर
3. अप्रमाद संवर	4. अकषाय संवर
5. अयोग संवर	6. प्राणातिपात विरमण संवर
7. मृषावाद विरमण संवर	8. अदत्तादान विरमण संवर
9. अबह्मचर्य विरमण संवर	10. परिग्रह विरमण संवर
11. श्रोत्रेन्द्रिय संवर	12. चक्षुरिन्द्रिय संवर
13. घ्राणेन्द्रिय संवर	14. रसनेन्द्रिय संवर
15. स्पर्शनेन्द्रिय संवर	16. मन संवर
17. वचन संवर	18. काया संवर
19. भण्डोपकरण संवर	20. शूची कुशाग्र मात्र दोष सेवन न करना संवर

यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। सावद्य-निरवद्य सर्व प्रवृत्तियों, क्रियाओं का निरोध अयोग संवर है।

प्रथम पांच संवर की चर्चा पहले की जा चुकी। शेष 15 प्रकार निम्नानुसार है–

(6) प्राणातिपात विरमण– हिंसा करने का त्याग करना।

(7) मृषावाद विरमण संवर– झूठ बोलने का त्याग करना।

(8) अदत्तादान विरमण संवर– चोरी करने का त्याग करना।

(9) मैथुन विरमण संवर– मैथुन-सेवन का त्याग करना।

(10) परिग्रह विरमण संवर– परिग्रह और ममता भाव का त्याग करना।

(11) श्रोत्रेन्द्रिय संवर– अच्छे-बुरे शब्दों में राग-द्वेष करना श्रोत्रेन्द्रिय आश्रव है। श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करना, शब्दों में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेन्द्रिय संवर है।

(12) चक्षुरिन्द्रिय संवर– चक्षुरिन्द्रिय को वश में करना, अच्छे-बुरे रूपों में राग-द्वेष न करना चक्षुरिन्द्रिय संवर है।

(13) घ्राणेन्द्रिय संवर– सुगंध-दुर्गन्ध में राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रिय आश्रव है। घ्राणेन्द्रिय को वश में करना, सुगंध या दुर्गन्ध में राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय संवर है।

(14) रसनेन्द्रिय संवर– स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष करना रसनेन्द्रिय आश्रव है। रसनेन्द्रिय को वश में करना, किसी भी स्वादिष्ट या विपरीत वस्तु में राग-द्वेष न करना रसनेन्द्रिय संवर है।

(15) स्पर्शनेन्द्रिय संवर– स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करना, अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्शों में राग-द्वेष न करना स्पर्शनेन्द्रिय संवर है।

(16) मन संवर– अच्छे-बुरे विचारों का पूर्ण निरोध मन संवर है।

(17) वचन संवर– शुभाशुभ दोनों प्रकार के वचनों का सम्पूर्ण निरोध वचन संवर है।

(18) काय संवर– शुभाशुभ दोनों प्रकार की कायिक क्रिया का संपूर्ण निरोध काय संवर है।

(19) भंडोपकरण संवर– भंडोपकरणों का सेवन न करना भंडोपकरण संवर है। मुनि के लिये उनमें ममत्व न करना अथवा उनकी अयतना न करना संवर है।

(20) शूची-कुशाग्र मात्र दोष सेवन न करना संवर– प्रत्याख्यान क्रिया पूर्वक शूची-कुशाग्र मात्र दोष का सेवन न करना संवर है।

सत्तावन भेदों की विवेचना– प्रकारान्तर से संवर के अधिकतम 57 प्रकार मिलते हैं। इनमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षाएं, परीषह और सामायिकादि चारित्र को परिगणित किया गया है। उनका स्वरूप निम्नानुसार है–

तीन गुप्ति– कर्म-बंधन के हेतुओं से आत्मा का बचाव करने की चेष्टा विशेष को गुप्ति कहते हैं।[48] मन-वचन-काय इन तीनों योगों का सम्यक् निग्रह गुप्ति है।[49] इसके तीन भेद हैं– मनो गुप्ति, वाक्गुप्ति, काय इन गुप्ति। अभयदेवसूरि ने तीनों ही गुप्तियों को अकुशल से निवृत्ति और कुशल में प्रवृत्ति रूप कहा है।[50] उतराध्ययन के अनुसार समस्त अशुभयोगों से निवृत्ति गुप्ति है।[51] श्री अकलंक भी गुप्ति का स्वरूप निवृत्ति परक ही मानते हैं।

पांच समिति– सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। [52] समिति पांच हैं– ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप, उत्सर्ग समिति। निरवद्य प्रवृत्तियों के विधान को ' समिति' नाम से अभिहित किया है। समितियां प्रवृत्ति रूप है। इन्हें संवर का भेद कैसे कहा जाये ? इस सन्दर्भ में श्री अकलंक कहते हैं– जाना, बोलना, खाना, रखना, उठना, और मलोत्सर्ग आदि क्रियाओं में अप्रमत्त, सावधानी से प्रवृत्ति करने पर इनके निमित्तों से आनेवाले कर्मों का संवर हो जाता है।[53]

गुप्तियों, समितियों का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में मिलता है।[54] इन्हें प्रवचन माता भी कहा है।

दस यति धर्म– जो इष्ट स्थान में धारण करे, उसे धर्म कहते है।[55] धर्म के दस प्रकार हैं– क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य।

बारह अनुप्रेक्षा– भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा है। बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के अनित्य, अशरण, भव, एकत्व आदि के भेद से बारह प्रकार हैं।

बाईस परीषह– उत्तराध्ययन[56] समवायांग[57] भगवती[58] में परीषहों की चर्चा मिलती है। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिये तथा कर्म-निर्जरा के लिये जो सहा जाता है, उसे परीषह कहते है। परीषह बाईस हैं। आचार्य भिक्षु के अभिमत से ये संवर के भेद नहीं, निर्जरा के भेद हैं।[59]

चारित्र

सर्व सावद्य योगों (पापकारी), प्रवृत्तियों का त्याग करना चारित्र है। वह पांच प्रकार का है– सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्ध, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात चारित्र। आते हुए कर्मों को रोकना संवर है। उपरोक्त सभी संवर के रूपों से कर्म-बंधन की हेतु भूत प्रवृत्तियों (क्रियाओं) का निरोध होता है। इसलिये इन्हें संवर के सत्तावन

भेदों में परिगणित किया गया है। टीकम डोसी ने संवर के दो प्रकार बतलाये हैं– 1. निवर्तक 2. प्रवर्तक। अप्रमाद आदि में प्रवृत्ति को प्रवर्तक संवर माना है।[60]

आचार्य भिक्षु का इस विषय में मतभेद है। उनके अनुसार संवर निरोधात्मक है, वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियां निर्जारारूप हैं, इनसे निर्जरा तो निश्चित होती हैं, संवर नहीं। संवर कर्मों के आगमन का निरोधक है जबकि निर्जरा पुराने कर्मों को तोड़ती है। दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अत: संवर में शुभ प्रवृत्तियों का समावेश नहीं हैं।[61] इस तथ्य की पुष्टि करते हुए उनका मानना है कि प्रथम और तृतीय गुणस्थान में आश्रव बीस होते हैं जबकि दूसरे एवं चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर उन्नीस आश्रव हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व है पर संवर नहीं। क्योंकि वहां प्रत्याख्यान का अभाव है।

चौथा गुणस्थान सम्यक्त्व प्रधान है फिर भी वहां संवर नहीं है। इस संदर्भ में जयाचार्य ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा हैं कि सिद्धों में सम्यक्त्व होने पर भी संवर नहीं हैं, वैसे ही त्याग के अभाव में दोनों गुणस्थानों में संवर नहीं है।[62]

अविरति भाव-शस्त्र है, जैसे बारुद आग का संयोग मिलते ही विस्फोट कर देता है, वैसे ही निरकुंश इच्छाएं निमित्त मिलते ही पाप में प्रवृत्त हो जाती हैं इसलिये आशा-वाञ्छा रूप अविरति को आश्रव कहा है।

सूत्रकृतांग में महावीर ने कहा– प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अष्टादश पापों से जो विरत होता है, सावद्य क्रिया रहित, हिंसा रहित, क्रोध,मान, माया और लोभ रहित, उपशान्त और परिनिर्वृत होता है, ऐसा संयत, विरत, प्रतिहत, प्रत्याख्यात-पाप-कर्मा आत्मा अक्रिय, संवृत और एकान्त पण्डित है।[63]

इससे भी स्पष्ट है कि अविरति आश्रव का निरोध पाप के प्रत्याख्यान से होता है। स्थानांग में अष्टादश पापों की विरति का उल्लेख है।[64] यह विरति छठे गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। इस गुणस्थान में सावद्य (पापकारी) कार्यों का सर्वथा त्याग हो जाता है।

गुणस्थान और संवर क्रिया

छट्ठे गुणस्थान में सर्व विरति हो जाती है फिर भी प्रमाद, कषाय और योग आश्रव विद्यमान रहता है। आठवें गुणस्थान में शुभलेश्या, शुभयोग, कषाय आश्रव भी है। ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय का उपशम होने पर कषाय संवर होता है। सातवें गुणस्थान

में अप्रमाद संवर होता हैं। छट्ठे गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति के अतिरिक्त अठारह आश्रव हैं। भगवती के आधार पर इस गुणस्थान में दो क्रियाएं लगती हैं- 1. माया-प्रत्यया क्रिया 2. आरम्भ-प्रत्यया क्रिया। ये दोनों अशुभ योग हैं। सातवें गुणस्थान में अशुभ योग नहीं इसलिये एक माया-प्रत्यया क्रिया ही होती है। आठवें-नौवें-दसवें गुणस्थान में सातवें गुणस्थानवर्ती पांच आश्रव (कषाय, योग, मन, वचन, काया) तथा दो क्रियाएं (माया-प्रत्यया और साम्परायिकी क्रिया) होती हैं। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में चार आश्रव, शुभयोग-शुभमन, शुभवचन और शुभकाय होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में आश्रव का निरोध होने से पूर्ण अयोग संवर होता हैं।[65]

उपर्युक्त विमर्श इस बात की ओर संकेत करता हैं कि सर्व प्रत्याख्यान निष्पन्न सर्वविरति संवर छठे गुणस्थान में होता है किन्तु छठे गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक अयोग संवर नहीं होता। कारण, वह प्रत्याख्यान से नहीं, कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है।

संवर के बीस भेदों में प्रथम पांच मुख्य हैं। शेष पन्द्रह भेदों का समावेश विरति संवर में हो जाता है। यहां विचारणीय विषय यह है कि प्राणातिपातपापादि पन्द्रह संवर अयोग संवर के भेद न करके विरति के अन्तर्गत क्यों लिये गये ? समाधान में कहा– अविरति का आधार अठारह पाप हैं। पन्द्रह आश्रव इन पापों में समाहित हो जाते हैं। उधर पन्द्रह आश्रव मन, वचन, काया की असत् प्रवृत्ति से उत्पन्न हैं और प्रवृत्ति योग आश्रव का लक्षण है। अत: पन्द्रह आश्रव योगाश्रव में लिये गये हैं। फलत: पन्द्रह आश्रवों का निरोध विरति संवर है।

इस विषय में एक प्रश्न और उठता है कि पन्द्रह प्रकार के आश्रवों के निरोध से विरति संवर होता है तो अयोग संवर क्यों नहीं होता ? इसका समाधान यह है कि यौगिक प्रवृत्ति दो प्रकार की हैं - शुभ और अशुभ। अयोग संवर इन दोनों के निरोध से होता है। प्राणातिपात आदि सावद्य प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करने से विरति संवर होता है। योग पर उसका प्रभाव इतना ही है कि वह शुभ कार्यों से हटकर शुभ कार्य-क्षेत्र में सीमित हो जाता है किन्तु पूर्णत: निरुद्ध नहीं होता। अत: अयोग संवर नहीं हो सकता।[66]

योग संवर की निष्पत्ति

योग सावद्य-निरवद्य उभयात्मक है। सावद्य योगों के निरोध से विरति संवर और निरवद्य योग के निरोध से योग संवर होता है, योग के सर्वथा निरोध से अयोग संवर। निरवद्य योगों का जितना नियमन किया जाता है, उतने ही अनुपात में अयोग संवर

वृद्धिगत होता जाता है। इस संदर्भ में सूत्रकृतांग में कछुए का दृष्टांत दिया गया है - कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेटकर खतरे से सुरक्षित हो जाता है, उसी प्रकार साधक अध्यात्म योग द्वारा अन्तर्मुखी बन अपने को पाप-प्रवृत्तियों से बचायें। वस्तुत: मन-वाणी, शरीर और इन्द्रिय-व्यापारों का संयमन ही समाधि का पथ है।[67] तथागत बुद्ध ने भी अंगुत्तर निकाय में कहा– गुप्तेन्द्रिय होने से तज्जन्य आश्रव क्रिया नहीं होती।[68] संवर और निर्जरा का आलम्बन लेकर साधक परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

निर्जरा से भी अधिक महत्त्व संवर का है। निर्जरा प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव के भी हो सकती है किन्तु संवर का प्रारंभ पांचवें गुणस्थान से ही होता है। संवर के अभाव में आश्रव निरोध संभव नहीं है। क्रिया और आश्रव तथा अक्रिया और संवर का परस्पर संबंध है तथा क्रिया से अक्रिया की ओर जाने का अर्थ आश्रव से संवर की ओर प्रस्थान है।

क्रिया और निर्जरा

जैन दर्शन में बंधन– मुक्ति की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने वाले दो शब्द हैं– संवर और निर्जरा। अनादिकालीन सकर्म, सराग, सयोग आत्मा निमेष मात्र के लिये भी अक्रिय नहीं बनती। वह सतत क्रियाशील रहती है। स्थूल या सूक्ष्म, ज्ञात या अज्ञात किसी न किसी रूप में संसारी आत्मा सतत प्रवृत्तिशील होती है। जिस प्रकार प्रतिक्षण श्वासोच्छ्वास के रूप में योग्य वायवीय परमाणुओं का ग्रहण एवं विसर्जन होता रहता है, उसी प्रकार क्रियाशील आत्मा प्रति समय कर्म योग्य अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का ग्रहण एवं निर्जरण करती है। ग्रहण के साथ विसर्जन भी सतत चालू रहता है। इस विसर्जन का नाम निर्जरा है।

जीव और अजीव का सम्बन्ध अनादि है। सम्बन्ध की प्रगाढ़ता में किसका योगदान है। इस संदर्भ में ध्यान सीधा कर्म शरीर पर पहुंचता है। कर्म शरीर निरन्तर क्रियाशील है। उसके पास एक ऊर्जा का स्रोत है, वहां से विद्युत प्राप्त हो रही है। पारिभाषिक शब्दावली में इस ऊर्जा भंडार को आश्रव कहा गया है। आश्रव से कर्म - शरीर पुष्ट होता है। शरीर में विद्युत आगमन की तीन प्रणालियां है- शरीर और उसके सहयोगी वाणी एवं मन। इन्हें ही योग कहा जाता है।

इन तीनों से जुड़ी हमारी प्राणधारा निरंतर कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट कर रही है। बंधन की प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है। इस गति को अवरुद्ध करने वाले दो तत्त्व हैं– संवर और निर्जरा। संवर का कार्य नये कर्म के प्रवाह को रोकना हैं। पुराने कर्मों

का शुद्धिकरण निर्जरा का कार्य है। संवर के साथ निर्जरा अवश्यंभावी है। निर्जरा के साथ संवर की नियमा (निश्चित सम्बन्ध) नहीं हैं।

निर्जरा की परिभाषा और स्वरूप

पूर्वबद्ध कर्मों को निर्वीर्य अथवा निष्फल करना निर्जरा है। कर्मों के पृथक् होने का नाम निर्जरा है।[69] पूर्वबद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है।[70] निर्जरा शब्द का अर्थ जर्जरित करना, अलग करना है। जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल पककर नीचे गिर जाता है, वैसे ही कर्म विपाककाल में अपना-अपना फल देकर अलग हो जाते हैं।[71] आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका में निर्जरा को पारिभाषित करते हुए लिखा है– तपस्या के द्वारा कर्म का विच्छेद होता है। इससे आत्मा की उज्ज्वलता होती है। इस आत्म-उज्ज्वलता को ही निर्जरा कहा है।[72]

आत्मा को विशुद्ध करने की क्रिया का नाम निर्जरा है। आचार्य भिक्षु ने धोबी के रूपक द्वारा इस प्रक्रिया को समझाया है

1. धोबी जल में साबुन डाल कपड़ों को उसमें तपाता है।
2. फिर उन्हें पीट कर उनके मैल को दूर करता है।
3. फिर साफ जल में डालकर स्वच्छ करता है।

आचार्य भिक्षु ने धोबी की तुलना को दो प्रकार से स्पष्ट किया हैं। प्रथम में तप साबुन है, आत्मा वस्त्र के समान है। ज्ञानजल है और ध्यान स्वच्छ जल। इससे कर्ममल दूर होता है, आत्मा स्वच्छ बनती है। दूसरा, ज्ञान को साबुन माना जाये तो तप निर्मल नीर होगा, आत्मा धोबी के समान और आत्मा के निजगुण वस्त्र के समान होंगे। उन्होंनें आगे कहा– जीव ज्ञान रूपी शुद्ध साबुन और तप रूपी निर्मल नीर से अपने आत्मा रूपी वस्त्र को धोकर स्वच्छ करे।

जीव असंख्यात प्रदेशी चेतन द्रव्य है। उसका एक-एक प्रदेश आश्रव-द्वार है।[73] प्रत्येक प्रदेश से प्रति समय अनन्तानन्त कर्मों का आश्रवण हो रहा है। ये कर्म प्रवेश करते है, फल देकर प्रति क्षण अनन्त संख्या में अलग भी होते रहते हैं। बंधने और अलग होने का चक्र चलता रहता है। इसके बावजूद भी जीव कर्म से मुक्त नहीं होता। जैसे घाव में सुराख हो और पीप आती रहे तो ऊपर का मवाद निकलने पर घाव खाली नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान तो करता हैं किन्तु नया ऋण भी लेता रहता है तो वह ऋणमुक्त नहीं होता। वैसे ही जब तक नये कर्मों के आगमन का स्रोत चालू है तब

तक पुराने कर्मों के पृथक् होते रहने पर भी जीव कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये मुक्ति के लिए संवर और निर्जरा दोनों अनिवार्य है।

बौद्ध परम्परा में स्वतन्त्र रूप से निर्जरा के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं देखा जाता किन्तु निर्जरा प्रत्यय को मान्यता दी है। उन्होंनें तपस्या के स्थान पर चित्तविशुद्धि पर अधिक बल दिया है।

जैन दर्शन में निर्जरा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, वह गीता में भी उपलब्ध है। **''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन:''** - कर्म करने का तुम्हें अधिकार है, फल की आकांक्षा मत करो। यह निष्काम कर्मयोग महावीर की सकाम निर्जरा का ही एक रूप है। किसी कामना से जुड़ी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निर्जरा के अन्तर्गत नहीं आती।

निर्जरा के प्रकार

निर्जरा के दो प्रकार हैं– सकाम और अकाम। स्वाभाविक रूप में कालावधि समाप्त होने पर कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है, उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। इसे अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। यह प्राणी मात्र के होती है। यह अकाम निर्जरा इसलिये है कि इसके लिए व्यक्ति का संकल्प या प्रयत्न विशेष नहीं होता। कर्म - क्षय की अभिलाषा से व्रत आदि विविध प्रयत्नों के द्वारा जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है।

आगमों में अकाम निर्जरा शब्द मिलता है। सकाम शब्द अनुपलब्ध है किन्तु अकाम के प्रतिपक्षी तत्त्व के रूप में वह अपने आप फलित हो जाता है। प्रकारान्तर से चन्द्रप्रभ चरित में इन्हें क्रमश: कालकृत और उपक्रमकृत निर्जरा तथा विपाकजा और अविपाकजा निर्जरा भी कहा जाता है। नारकादि जीवों के स्वाभाविक निर्जरा होती है। वह कालकृत निर्जरा है। तपस्या से होने वाली निर्जरा उपक्रम कृत निर्जरा है।[74]

तत्त्वार्थसार में कर्मों के फल देने के बाद होने वाली निर्जरा को विपाकजा और अनुदीर्ण कर्मों को तपस्या आदि से उदयावलि में लाकर वेदने से जो निर्जरा होती है उसे अविपाकजा निर्जरा कहा है।[75]

अकाम निर्जरा तब होती है जब कोई क्रिया कर्म-क्षय की दृष्टि से नहीं की जाती। यह कर्म-भोग के परिणाम स्वरूप होने वाली सहज है निर्जरा कर्मक्षय की अभिलाषा से की जानेवाली क्रिया अनुपम निर्जरा की हेतु बनती है। सकाम निर्जरा की तुलना में

अनौपक्रमिक निर्जरा अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह भव चक्र से मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध नहीं होती।

अकाम निर्जरा प्राणी मात्र के होती है। यह सर्व मान्य सिद्धांत है। इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं। सकाम निर्जरा के विषय में मतैक्य नहीं है। हेमचन्द्रसूरि की धारणा में सकाम निर्जरा योगियों - संयमियों के ही होती है, अन्य प्राणियों के नहीं।[76]

स्वामी कार्तिकेय भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[77] एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यक् दृष्टि के संभव है, मिथ्यादृष्टि के नहीं। इस विषय में आचार्य भिक्षु का चिन्तन भिन्न है। उनके अनुसार सकाम निर्जरा के अधिकारी साधु, श्रावक, व्रती, अव्रती, सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि सभी हो सकते हैं। शर्त इतनी ही है कि निर्जरा का साधन निरवद्य और साध्य (लक्ष्य) कर्म-क्षय होना चाहिये। आचार्य भिक्षु ने इसे उदाहरण से स्पष्ट किया है–

एक स्त्री पति के दिवंगत होने पर विधवा है अथवा पति के द्वारा त्यक्त है। ऐसी स्थिति में वह शरीर का परिकर्म नहीं करती। साज- सज्जा से विरक्त है। रसों का सेवन नहीं करती। ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करती है। उससे अल्प मात्रा में कर्मक्षय होता है किन्तु वह अकाम निर्जरा है क्योंकि उसका लक्ष्य मोक्ष नहीं है। कोई व्यक्ति यश, कीर्ति, श्लाघा लौकिक अभ्युदय, स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये तपस्या करता है उसके भी अकाम निर्जरा होती है क्योंकि उसका भी लक्ष्य मोक्ष नहीं, इहलौकिक-पारलौकिक सिद्धि प्राप्ति का है।

आचार्य भिक्षु लौकिक अभ्युदय के लिये तपस्या के पक्षधर नहीं थे। उनका मानना था कि जैसे अनाज के पीछे तूड़ी या भूसा सहज प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार उच्च लक्ष्य से की गई तपस्या से अभ्युदय स्वत: निष्पन्न होता है।

अभव्य की साधना बाह्य दृष्टि से होती है, इसलिए वह भी अकाम निर्जरा है जैसे व्यक्ति का ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटी में आता हैं वैसे तपस्या विराधना की कोटी में नहीं आती। लक्ष्य ठीक नहीं होने से इस प्रकार की तपस्या हेय है, मूलत: नहीं। दशवैकालिक का प्रकरण इस तथ्य का संवादी प्रमाण है।[78]

विविह गुण तवोरए य निच्चं, भवइ निरासइ निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराण पावगं, जुत्तो सया तव समाहिए।।

न वर्तमान जीवन की भोगविलाषा, न पारलौकिक भागोभिलाषा, न कीर्ति,

वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप करें, अपितु निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करें।

निष्कर्ष की भाषा में उत्तम तप वही है जो आत्मशुद्धि के लिये किया जाये। वाचक उमास्वाति ने भी तप और परिषह-जय कृत निर्जरा को ही कुशलमूला, शुभानुबंधक तथा निरनुबंधक कहा है। अबुद्धिपूर्वा निर्जरा को अकुशलानुबंधक कहा है।[79]

आचार्य भिक्षु और तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी ने अनुकंपा की चौपाई, आचार की चौपाई, जिनाग्या की चौपाई, भगवती जोड़, श्रावक ना बारह व्रत आदि ग्रंथों में विस्तार से सकाम-अकाम निर्जरा पर विचार किया वह इस प्रसंग में मननीय है।

स्थानांग सूत्र में 'एगा निज्जरा' कहकर निर्जरा को एक ही प्रकार का कहा है।[80] दूसरी ओर 'बारसहा निज्जरा सा' कहकर निर्जरा बारह प्रकार की बतलाई है। ऐसा क्यों?

इसका कारण यह है कि अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि आदि पृथक्-पृथक् संज्ञा प्राप्त कर अनेक प्रकार की हो जाती है। वैसे ही कर्म परिशाटन रूप निर्जरा तो एक ही है किन्तु वह परिशाटन भिन्न-भिन्न निमित्तों से होने से सकाम निर्जरा के बारह प्रकार हैं। अत: बारह भेद के पीछे भी कारण है इनमें भी प्रत्येक के छ: प्रकार हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। निर्जरा के अपने विशिष्ट प्रयोजन हैं। कारण में कार्य का उपचार करने पर निर्जरा के बारह भेद किये गये हैं। बारह प्रकार पुन: दो भागों में विभक्त हो जाते हैं– बाह्य एवं आभ्यंतर। जो बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरों के दृष्टिपथ में आता है, उसे बाह्य तप कहते है। मन का नियंत्रण करने वाला आभ्यन्तर तप है।

निर्जरा के दो प्रकार हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें से प्रत्येक के छ: प्रकार हैं।

बाह्य निर्जरा के छ: प्रकार निम्नानुसार हैं– 1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्ति -संक्षेप, 4. रस-परित्याग, 5. कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर निर्जरा के प्रकार– 1. प्रायश्चित, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान , 6. व्युत्सर्ग ।

(1) अनशन– अनशन का सीधा अर्थ आहार - त्याग से है। वह त्याग कम से कम एक दिन रात्रि का और अधिकतम छह महीने का हो सकता है। इसलिये अनशन दो

प्रकार का है– 1.इत्वरिक, 2. यावत्कथिक। इत्वरिक आकांक्षा सहित होता है। यावत्कथिक आकांक्षा रहित होता है। इत्वरिक सावधिक होने से निश्चित अवधि के बाद भोजन-ग्रहण किया जा सकता है। यावत्कथिक में भोजन की कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती। इसलिये इसे निरवकांक्षा तप भी कहा है।[81] इत्वरिक अनशन के औपपातिक सूत्र में चौदह प्रकार निर्दिष्ट हैं।[82]

(1)	चतुर्थभक्त	-	उपवास
(2)	षष्ठ भक्त	-	दो दिन का उपवास
(3)	अष्टम भक्त	-	तीन दिन का उपवास
(4)	दशम भक्त	-	चार दिन का उपवास
(5)	द्वादश भक्त	-	पांच दिन का उपवास
(6)	चतुर्थदश भक्त	-	छह दिन का उपवास
(7)	षोडश भक्त	-	सात दिन का उपवास
(8)	अर्ध मासिक भक्त	-	पन्द्रह दिन का उपवास
(9)	मासिक भक्त	-	एक मास का उपवास
(10)	द्वैमासिक भक्त	-	दो मास का उपवास
(11)	त्रैमासिक भक्त	-	तीन मास का उपवास
(12)	चतुर्थ मासिक भक्त	-	चार मास का उपवास
(13)	पंच मासिक भक्त	-	पांच मास का उपवास
(14)	षट् मासिक भक्त	-	छह महीनें का उपवास

उत्तराध्ययन में अनशन छः प्रकारों का निर्देश मिलता है– 1.श्रेणी तप, 2. प्रतरतप, 3. घन तप, 4. वर्ग तप, 5. वर्ग - वर्ग तप, 6. प्रकीर्ण तप।[83]

(2) अवमौदर्य– ऊनोदरिका[84] अवमोदरिका [85] भी अवमौदर्य [86] के पर्यायवाची हैं। 'ऊण' और 'ओन' दोनों का अर्थ है - कम। उत्तराध्ययन में इनका इसी अर्थ में प्रयोग मिलता है [87] उयर - उदर का अर्थ है - पेट। जिस व्यक्ति की जितनी आहार-मात्रा है, उससे कम खाना ऊणोदरिका अथवा अवमोदरिका तप कहलाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय की अपेक्षा यह पांच प्रकार का हैं[88] इसे दो भागों में विभक्त किया है– (1) द्रव्यत:अवमौदर्य (2) भावत: अवमौदर्य।

द्रव्यत: अवमौदर्य के दो प्रकार हैं– भक्त-पान अवमौदर्य, उपकरण अवमौदर्य। भक्तपान अवमौदर्य के पांच प्रकार है -

1. आठ ग्रास खानेवाला अल्पाहारी होता है
2. बारह ग्रास खाने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य होता है।
3. सोलह ग्रास लेने वाला अर्द्ध अवमौदर्य होता है।
4. चौबीस ग्रास लेने वाला पौन अवमौदर्य होता है।
5. इक्कीस ग्रास लेने वाला अवमौदर्य होता है।

(1) ग्रास का परिमाण मुर्गी के अण्डे[89] या हजार चावल जितना माना गया है।[90] यह द्रव्य से भक्तपान अवमोदरिका है।

(2) नाना प्रकार के क्षेत्र भिक्षा के लिये होते हैं। उनमें अमुक क्षेत्र में भिक्षा करूंगा साधु का ऐसा संकल्प क्षेत्र से भक्तपान अवमोदरिका है।

(3) दिवस सम्बन्धी चारों प्रहर में जितना काल रखा हो, उस नियत काल में साधु का भिक्षाटन करना काल अवमौदर्य है। आगम में तीसरे प्रहर में भिक्षा करने का विधान है। तीसरे प्रहर के भी दो-दो घड़ी प्रमाण चार भाग होते हैं। इन चार भागों में से किसी अमुक भाग में ही भिक्षा के लिये जाने का अभिग्रह काल की अपेक्षा से अवमौदर्य है।

(4) स्त्री अथवा पुरूष, अलंकृत या अनलंकृत, वयस्क या प्रौढ़, अमुक वस्त्र का धारक या अन्य किसी विशेषता से पूर्ण व्यक्ति के भोजन पानी आदि देगा तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं- इस प्रकार के भाव अवमोदरिका का एक अर्थ क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भी है।[91]

उपकरण अवमोदरिका तीन प्रकार की है–

(1) एक वस्त्र से अधिक का उपयोग न करना।

(2) एक पात्र से अधिक का उपयोग न करना।

(3) मलीन वस्त्र– पात्रों मे अप्रीतिभाव का होना। यदि उपकरण में मूर्च्छा है तो इस मूर्च्छा को कम करना। उपकरण अवमोदरिका है।[92] अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन करना भाव से अवमौदर्य है।

(5) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि पर्यायों से भक्तपान अवमोदरिका करना पर्याय अवमौदर्य है।[93]

(3) भिक्षाचरी– उत्तराध्ययन, औपपातिक, भगवती और स्थानांग में इसके लिए भिक्षाचर्या तप नाम मिलता है। समवायांग[94] तत्त्वार्थ[95] दशवैकालिक निर्युक्ति[96] में वृत्तिसंक्षेप और वृत्तिपरि-संख्यान नाम उपलब्ध होता है।

अनशन की तरह भिक्षाटन में भी कष्ट होने से साधु को निर्जरा होती है। इसलिये इसे तप माना गया है अथवा विशिष्ट या विचित्र प्रकार के अभिग्रह संयुक्त होने से वृत्ति संक्षेप तप है।[97] औपपातिक[98] तथा भगवती[99] में वृत्ति-संक्षेप के तीस प्रकार भी बताये हैं किन्तु यह भेद-संख्या अन्तिम नहीं है। स्थानांग में पुरिमार्द्ध चर्या, भिन्न पिण्डपात चर्या-दो नाम और मिलते हैं। मूलाराधना में वृत्ति -संक्षेप के आठ प्रकारों का उल्लेख है।[100] वहां गोचराग्र के छह प्रकार हैं–

(1) गत्वा प्रत्यागता (2) ऋजुवीथि (3) गो - मूत्रिका
(4) पेलविया (5) शंबुकावर्ता (6) पंतग वीथि

(4) रस परित्याग– रसों के परिवर्जन को रस परित्याग तप कहते हैं।[101] औपपातिक सूत्र में इसके नौ प्रकारों का निर्देश है–

1) निर्विकृति– विकृति का त्याग
2) प्रणीत रस परित्याग– स्निग्ध-गरिष्ठ आहार का त्याग।
3) आचाम्ल– अम्ल रस मिश्रित अन्न का आहार।
4) अवश्रावण गति सिक्थ भोजन– औसामन से मिश्रित अन्न का आहार।
5) अरस आहार– हींग आदि से असंस्कृत आहार।
6) विरसाहार– पुराने धान्य का आहार।
7) अन्त आहार– तुच्छ धान्य का आहार।
8) प्रान्ताहार– ठंडा आहार।
9) रुक्ष आहार– रुखा आहार।[102]

जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं, उन्हें विकृति कहा जाता है। विकृत्तियों के निषेध के पीछे महाविकार तथा महाजीवोपघात मुख्य हेतु है। औपपातिक टीका में उद्धृत गाथा में तैल आदि से तली वस्तु को भी विकृति कहा है।

"खीरदही णवणीयं, घयं तहा तेल्लमेव गुड मज्जं।
महु मंस चेव तहा ओगाहि मग च दसमी उ।।

विकृत्तियां नौ हैं।[103] दूध, दही, नवनीत, घी, गुड, मधु, मद्य, मांस, तेल। इनमें मधु, मांस, मद्य नवनीत को महाविकृति कहा है।[104] पंडित आशाधरजी ने विकृति के चार प्रकार बताये हैं।[105]

गोरस विकृत्ति– दूध, दही, घृत, मक्खन आदि

इक्षुरस विकृति– गुड़, चीनी आदि।

फलरस विकृत्ति– अंगूर, आम आदि फलों के रस।

धान्य रस विकृति– तेल, मांड आदि।

स्वादिष्ट भोजन को भी विकृति कहा जाता है। [106]

(5) कायक्लेश– कायाक्लेश का अर्थ शरीर को किसी प्रकार से कष्ट देना नहीं अपितु देहासक्ति का त्याग करना है। इस प्रक्रिया से शरीर को जो कष्ट होता है, उसका नाम कायक्लेश है। स्थानांग में इसके सात प्रकारों का उल्लेख है।[107] औपपातिक में बारह नाम आते हैं। आचार्य वसुनन्दी के अनुसार आचाम्ल, निर्विकृति, एक स्थान, उपवास, बेला आदि के द्वारा शरीर को कृश करना कायक्लेश है।[108] कायक्लेश स्वेच्छा से किया जाता है। परीषह सहज समागत कष्ट है।[109]

(6) प्रतिसंलीनता– प्रति-विरुद्ध में, संलीनता - सम्यक् प्रकार से लीन होना अर्थात् निर्दिष्ट वस्तु के प्रतिपक्ष में लीन होना प्रतिसंलीनता है। वह चार प्रकार की है–

(1) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता– पांच इन्द्रियों की विषयाभिमुख-प्रवृत्ति का निरोध अथवा प्राप्त विषयों में राग-द्वेष न करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

(2) कषाय प्रतिसंलीनता– कषाय के उदय का निरोध। उदय प्राप्त कषाय को विफल करना।[110]

(3) योग प्रतिसंलीनता– योग प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है -

मन-योग प्रतिसंलीनता– अकुशल मन का निरोध करना। कुशल मन की प्रवृत्ति और मन को एकाग्र करना - मन योग प्रतिसंलीनता है।[111]

वचन-योग प्रतिसंलीनता– अकुशल वचन का निरोध, कुशलवचन की प्रवृत्ति और वाणी का संयम करना - यह वचन योग प्रतिसंलीनता है।[112]

काय-योग प्रतिसंलीनता– हाथ- पैर को सुसमाहित कर कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय और सर्व अंगों को प्रतिसंलीन कर स्थिर रहना काय योग प्रतिसंलीनता है।[113]

(4) विविक्त-शयनासन सेवन प्रतिसंलीनता– स्त्री, पशु, नपुंसक के संसर्ग से रहित वस्ती में प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक को प्राप्त कर रहना विविक्त-शयनासन सेवन तप है।

आभ्यन्तर तप के भी छः प्रकार है–

(7) प्रायश्चित्त– जिससे पाप का छेद हो अथवा जो चित्त की विशोधि करता हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है। दोष विशुद्धि के लिये प्रयत्न करना प्रायश्चित है। इससे आत्मा निर्मल होती है किन्तु सरलता, निश्छलता पूर्वक प्रायश्चित्त करने से ही मन की ग्रन्थियों का विमोचन होता है, नई ग्रन्थि नहीं बनती।

स्वीकृत नियमों का अतिक्रमण होने पर दोष शुद्धि हेतु गुरू अथवा ज्येष्ठ साधु - साध्वी से दण्ड लेना प्रायश्चित्त कहलाता है।

''पापं छिन्नत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्।
प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम्।।''

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं–

1. आलोचना योग्य	:	गुरू के समक्ष अपने दोषों का निवेदन।
2. प्रतिक्रमण योग्य	:	'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मेरा दुष्कृत निष्फल हो– इस भावना के साथ अपने दोषों का उच्चारण।
3. तदुभय - योग्य	:	आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।
4. विवेक - योग्य	:	अशुद्ध आहार आदि का उत्सर्ग।
5. व्युत्सर्ग - योग्य	:	कायोत्सर्ग।
6. तप - योग्य	:	अनशन, अनोदरी आदि तपस्या करना।
7. छेद - योग्य	:	दीक्षा पर्याय का छेदन।
8. मूल - योग्य	:	पुनर्दीक्षा।
9. अनवस्थाप्य योग्य	:	तपस्या पूर्वक पुनर्दीक्षा।
10. पारांचिक योग्य	:	भर्त्सना एवं अवहेलना पूर्वक पुनर्दीक्षा।[114]

दिगम्बर परम्परानुसारी तत्त्वार्थ सूत्र तथा उसके व्याख्या ग्रंथ तत्त्वार्थ वार्त्तिक में प्रायश्चित के नौ ही प्रकार निर्दिष्ट है।[115]

(7) विनय– आभ्यन्तर तप का यह दूसरा प्रकार है। विनय का एक अर्थ कर्म-पुद्गलों का विनयन, पृथक्करण का प्रयत्न है। इस परिभाषा के अनुसार ज्ञान, दर्शन आदि को विनय कहा है क्योंकि उनके द्वारा कर्म-पुद्गलों का विनयन होता है। विनय का दूसरा अर्थ - भक्ति - बहुमान आदि करना है। इस अर्थ के अनुसार ज्ञान-विनय आदि का अर्थ ज्ञान आदि का आदर करना है।

कर्मों का अपनयन करना विनय का आध्यात्मिक पक्ष है। अहं विसर्जन, बड़ों का बहुमान और उनके प्रति असद्-व्यवहार का वर्जन विनय का व्यावहारिक पक्ष है। विनय का व्यवस्थित निरूपण औपपातिक में मिलता है।[116] ठाणांग[117] भगवई[118] में विनय के सात प्रकारों का निर्देश हैं - ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन-विनय, वचन-विनय, काय-विनय, लोकोपचार-विनय। अनाशातना के 45 प्रकार, चारित्र विनय के प्रकार 5, मन विनय के अप्रशस्त - प्रशस्त रूप 24, वचन 4, काय के 14, लोकोपचार के 7 प्रकार। विनय के ही भेद हैं।[119]

(8) वैयावृत्य– वैयावृत्य अर्थात् सेवा। आचार्य आदि की आहार आदि के द्वारा सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। सहयोग की भावना से सेवाकार्य में जुड़ना वैयावृत्य है। इस तप की आराधना करने वाला अपेक्षा को समझकर सेवाभावना और कर्तव्य-निष्ठा से छोटे-बड़ों का सहयोगी बनता है। आध्यात्मिक लक्ष्य से की जाने वाली सेवा ही तप की श्रेणी में आती है क्योंकि वही निर्जरा का कारण है। अग्लान भाव से वैयावृत्य करनेवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा, महापर्यवसान वाला होता है। वैयावृत्य के दस प्रकार हैं। [120]

1.आचार्य का वैयावृत्य– भव्य जीव जिनकी प्रेरणा से व्रतों का आचरण करते हैं, उनको आचार्य कहा जाता है। उनका वैयावृत्य करना।

2. उपाध्याय का वैयावृत्य– जो मुनि व्रत, शील और भावना के आधार है, जिनके पास जाकर विनय से श्रुत का अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। उनका वैयावृत्य करना।

3. तपस्वी का वैयावृत्य– मासोपवास आदि तप करने वाला तपस्वी कहलाता है, उनका वैयावृत्य करना।

4.शैक्ष का वैयावृत्त्य– जो श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और व्रतों की भावना में निपुण है, उसे शैक्ष कहते हैं। उनका वैयावृत्त्य करना।

5.ग्लान का वैयावृत्त्य– जिसका शरीर रोग आदि से आक्रान्त है, वह ग्लान है, उसका वैयावृत्त्य करना।

6.गण का वैयावृत्त्य– स्थविर मुनियों की संगति को गण कहा जाता है। उनका वैयावृत्त्य करना।

7. कुल का वैयावृत्त्य– दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा को कुल कहा जाता है, उनका वैयावृत्त्य करना।

8. संघ का वैयावृत्त्य– श्रमण-समूह को संघ कहा जाता है। उसका वैयावृत्त्य करना।

9. साधु का वैयावृत्त्य– चिरकाल से प्रव्रजित साधक को साधु कहा जाता है, उसका वैयावृत्त्य करना।

10. मनोज्ञ का वैयावृत्त्य– मनोज्ञ के तीन अर्थ हैं–

(अ) अभिरूप अर्थात् जो अपने ही संघ के साधु वेश में है।

(ब) जो संसार में अपनी विद्वत्ता, वाक्-कौशल और महा कुलीनता के कारण प्रसिद्ध है।

(स) संस्कारी असंयत सम्यक् - दृष्टि।

(10) स्वाध्याय– आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन का नाम स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं– 1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना, 4. अनुप्रेक्षा, 5. धर्मकथा ।

(11) ध्यान– मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है। स्थिर अध्यवसान को ध्यान कहते हैं। अपरिस्पन्द अग्नि-ज्वाला शिखा कहलाती है। वैसे ही अपरिस्पन्दमान ज्ञान ध्यान कहलाता है। मन, वचन और काया स्थिरता को भी ध्यान कहा जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में-स्थूल से सूक्ष्म की ओर इन्द्रियों से इन्द्रियातीत अवस्था की ओर प्रस्थान का नाम ध्यान है। जैनागमों में ध्यान के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं– 1. आर्त्त ध्यान, 2. रौद्र ध्यान, 3. धर्म ध्यान, 4. शुक्ल ध्यान।

एकाग्रता के आधार पर ध्यान के तीन प्रकार भी किये गये हैं– 1. मानसिक ध्यान, 2. वाचिक ध्यान, 3. कायिक ध्यान ।

(12) व्युत्सर्ग– व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं– वि और उत्सर्ग। वि का अर्थ विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ त्याग है। विशिष्ट त्याग करने की विधि को व्युत्सर्ग कहते हैं। आचार्य अकलंक के अनुसार - नि:संगता, अनासक्ति, निर्भयता और देहासक्ति का त्याग व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं - द्रव्य व्युत्सर्ग, भाव व्युत्सर्ग।

1. द्रव्य व्युत्सर्ग– शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाओं का त्याग, साधु समुदाय का सहवास, वस्त्र-पात्रादि उपधि तथा आहार के त्याग को द्रव्य-व्युत्सर्ग कहते हैं।

2. भाव व्युत्सर्ग– क्रोधादि भाव, संसार तथा कर्मागम के हेतुओं का त्याग भाव व्युत्सर्ग कहलाता है। निर्जरा के उपर्युक्त छ: प्रकार सूक्ष्म शरीर को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। इनसे कर्म शरीर क्षीण होता है। ये मोक्ष साधना में अन्तरंग हेतु बनते हैं। इसलिये ये आभ्यन्तर तप की श्रेणी में आते हैं। बाह्य तप की भांति अन्तरंग तप से स्थूल शरीर प्रभावित होता है - ऐसा प्रतीत नहीं होता किन्तु भीतर ही भीतर कर्म-शरीर के भेदन करने की प्रक्रिया चलती रहती है। जैन धर्म में तप केवल स्थूल शरीर की साधना नहीं है। यहां तप का अर्थ इन्द्रिय और मन का निग्रह करना है। कार्मण शरीर का तापक होने से तप अधिक निर्मलता को संपादित करता है और सघन निर्जरा का हेतु बनता है।

आत्म शुद्धि के लक्ष्य से स्वेच्छापूर्वक किए गये ये सभी तप सकाम निर्जरा के अन्तर्गत आते हैं। सकाम तप अविपाकजा निर्जरा का हेतु है।[121] आचार्य भिक्षु ने कहा– सकाम तप अपने सामर्थ्य से अनुदय प्राप्त कर्मों को उदयावलिका में लाकर अलग करता है। जैसे– आम, पनस आदि को प्रयत्न विशेष के द्वारा समय से पूर्व ही (औपक्रमिक क्रिया अकाल में) पका लिया जाता है। उसी प्रकार सकाम तप उदयावलिका के बाहर स्थित कर्मों को खींचकर समय से पहले उदयावलिका में ले लेता है। इसे उदीरणा कहा जाता है। उदीरणा के लिए विशेष पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है। निम्नोक्त संवाद इस तथ्य की पुष्टि करता हैं।

गौतम ने पूछा– भंते ! अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य और अपुरुषाकार अपराक्रम के द्वारा?[122]

भगवान महावीर ने कहा– गौतम ! उत्थान आदि के द्वारा उदीरणा करता है,

किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा नहीं। इस प्रकार कर्म- मुक्ति भी बिना प्रयत्न या क्रिया के संभव नहीं है। कर्ममुक्ति की विविध क्रियाएं ही निर्जरा के विभिन्न प्रकारों के रूप में परिगणित हैं।

बाह्य निर्जरा का प्रयोजन

1. संयम प्राप्ति, राग नाश, शास्त्राभ्यास, कर्ममल-विशोधन।

2. वात - पित्त - श्लेष्म (कफ) आदि दोषों का उपशमन, ज्ञान-ध्यान आदि सिद्धि, संयम में सजगता।

3. भोजन सम्बन्धी इच्छाओं पर नियंत्रण, भोजन सम्बन्धी आशा पर अंकुश

4. निद्रा विजय, इन्द्रिय - निग्रह, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि

5. ब्रह्मचर्य-सिद्धि, बाधाओं से मुक्ति, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि

6. शारीरिक कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास, शारीरिक सुख की वाञ्छा से मुक्ति तथा जैन धर्म की प्रभावना।[123]

आभ्यन्तर निर्जरा का प्रयोजन

1. भाव शुद्धि, शल्य मुक्ति, चंचलता का अभाव, धार्मिक दृढ़ता, प्रायश्चित के परिणाम[124]

2. ज्ञान लाभ, आचार शुद्धि, सम्यग् आराधना, विनय के परिणाम[125]

3. चित्त समाधि, ग्लानि का अभाव, चित्त समाधि का लाभ, प्रवचन वात्सल्य, वैयावृत्य के परिणाम।[126]

4. प्रज्ञा जागरण, संदेह-निवारण, कुविचार विशुद्धि, अध्यवसाय विशुद्धि, स्वाध्याय के परिणाम।[127]

5. असीम का साक्षात्कार, सविकल्प से निर्विकल्प की ओर, मानसिक दु:खों से बाधित न होना आनन्द की उपलब्धि, कष्टों से बाधित न होना, ध्यान के परिणाम।

6. निर्ममत्व, दोषों का उच्छेद, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम।[128]

(8) निर्जरा और निर्जरा की क्रिया– निर्जरा और निर्जरा की क्रिया (करणी)

भिन्न भी है और अभिन्न भी। एक लब्धिरूप और दूसरी क्रिया रूप होने से भिन्न हैं किन्तु निर्जरा कार्य और निर्जरा की क्रिया कारण होने से और दोनों निरवद्य होने से एक भी हैं। दोनों निरवद्य हैं। निर्जरा मोक्ष का अंश है। नये कर्मों के आश्रवण से निवृत हुए बिना भव-भ्रमण की श्रृंखला नहीं टूटती। कर्मों के आंशिक-क्षय से आत्मा का आंशिक उज्ज्वल होना निर्जरा है। जिस क्रिया से उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा की क्रिया है।

निर्जरा के लिए एक शब्द-विधुनन मिलता है, इसका अर्थ है प्रकंपित कर देना। जैसे - पक्षी पंखों को हिलाकर सारे रजकणों को धुन डालता है, हिला डालता है, वैसे ही निर्जरा करने वाला अपनी सत्प्रवृत्ति, सत्क्रिया अथवा सदनुष्ठान के द्वारा कर्मरजों को धुन डालता है, प्रकंपित कर, झाड़कर साफ कर देता है। इस प्रकार निर्जरा - प्रकंपन की प्रक्रिया है।

क्रिया और अन्तक्रिया– सम्पूर्ण कर्मों का मूलोच्छेद करने की क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है। अन्तक्रिया मोक्षासाधिका अन्तिम क्रिया है। अभयदेवसूरि ने अन्तक्रिया को **''योग निरोधाभिधाने शुक्ल ध्यानेन सकल कर्म ध्वंस रूपा''** कहा है।[129]

मोक्ष का अर्थ स्वरूप की उपलब्धि या स्वरूप में अवस्थिति है। बंध है तो उसका प्रतिपक्षी मोक्ष भी है। बंध कर्म-संश्लेष है। मोक्ष कर्म का सम्पूर्ण क्षय है– कृत्स्नकर्म वियोगलक्षणो मोक्षः।[130] मोक्ष का लक्षण सम्पूर्ण कर्म बंधनों से मुक्त होना है। मोक्ष साध्य है। संवर-निर्जरा साधन है। जैसे– किसी बड़े तालाब के जलागम स्रोतों को बंद कर, भीतर के पानी को जल-प्रणालियों के द्वारा बाहर निकाला जाता है। शेष बचे हुए पानी के सूर्य की प्रखर किरणों से अवशोषित होने पर तालाब खाली हो जाता है। वैसे ही आत्मा की ओर आने वाले कर्म प्रवाह का संवर द्वारा निरोधकर अंतः स्थित कर्म-मलों का निर्जरा की प्रक्रिया से निष्कासित करना मोक्ष है।

अन्तक्रिया का फलित है– पुनर्जन्म अथवा जन्म-मरण की परम्परा से पूर्ण मुक्ति।[131] मृत्युकाल में मनुष्य स्थूल शरीर से मुक्त हो जाता है पर सूक्ष्म शरीर (तैजस् - कार्मण) उसके सहचर बने रहते हैं। फलस्वरूप पुनः स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। सूक्ष्म शरीर के रहते हुए पूर्वजन्म, पुनर्जन्म की श्रृंखला का अन्त नहीं हो सकता। स्थूल शरीर का कारण सूक्ष्म शरीर है। जो साधक कर्म-बंधन के मूल का सर्वथा उन्मूलन कर देता है, उसके सूक्ष्म, स्थूल सभी शरीर छूट जाते हैं। परिणाम स्वरूप शरीरादि के निमित्त से होने वाली क्रिया का भी अन्त हो जाता है। भगवती सूत्र में कहा–

''जइ अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति,परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।[132] जो जीव अक्रिय हो जाता है, वह उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन के अनुसार पुण्य - पाप दोनों के समाप्त होने से मुक्ति होती है। पूर्ण मुक्ति के लिए सद् - असद् सभी प्रकार की क्रियाओं से मुक्त होना आवश्यक है। क्रिया निरोध से कर्म निरोध होता है। साधना के प्रारम्भ में असत्कर्म का निरोध होता है। अन्त में सत्क्रिया का भी निरोध हो जाता है। ' सब दुःखों के अन्त करने की प्रक्रिया का नाम अन्तक्रिया है। नये का अप्रवेश और पुराने का निर्जरण अपेक्षित है। इसीलिये संवर - निर्जरा मोक्ष के साधक तत्त्व हैं। उनके बिना अन्तक्रिया नहीं होती।

यह अन्तिम क्रिया है। इसके पश्चात् कोई क्रिया नहीं होती। इसके द्वारा जन्म और मृत्यु का पर्यवसान हो जाता है। आत्मा सूक्ष्म शरीर से भी हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है। वृत्तिकार के अनुसार कर्म क्षय यही अन्तिम क्रिया है। कहा है– **''अन्तक्रिया-मिति अंत-अवसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणा भव सातत्यं, अन्यत्रा गमेऽन्तक्रिया शब्दस्य रुढ़त्वात् तस्य क्रियाकरण अन्तक्रिया - कर्मान्त करणं मोक्ष इति भावार्थः।।''** कृत्स्नकर्म क्षयान्मोक्ष इति वचनात्। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। पर उचित उपायों द्वारा अनादि सम्बन्ध टूट जाता है। धातु और मिट्टी अनादि काल से मिले हुए है किन्तु शोधन की प्रक्रिया से दोनों अलग हो जाते हैं। वैसे ही अध्यात्म साधना की विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा आत्मा और कर्म अलग हो जाते हैं।

आत्मा और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतु है– क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। जैसे– जैसे कषाय क्षीण होते हैं, अक्रिया की स्थिति आने लगती है। चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण अक्रिया की स्थिति घटित हो जाती है, तब सारे सम्बन्ध क्षीण हो जाते हैं।[133]

अन्त क्रिया और गुणस्थान

अन्तक्रिया या अक्रिया की क्रमिक स्थिति को समझने में गुणस्थान का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण हैं। जैन दर्शन में आत्म विशुद्धि का मानदण्ड गुणस्थान है। समवायांग के टीकाकार अभयदेव सूरि ने गुणस्थानों को ज्ञानावरणादि कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न आत्म-स्थिति कहा है।[134]आगमों में गुणस्थान शब्द के स्थान पर जीव स्थान शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में गुणस्थान शब्द नहीं देखा जाता। गोम्मटसार में य 'जीव समास' नाम है।[135] धवला के अनुसार जीव का गुणों में अवस्थित रहना जीव समास है।[136] गुणस्थान, जीवसमास या जीवस्थान इनमें सिर्फ संज्ञा भेद है, अर्थ की भिन्नता नहीं है। प्रथम गुणस्थान में ईर्यापथिक के अतिरिक्त चौबीस क्रियाएं हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में तैईस हैं। ईर्यापथिक तथा मिथ्यादर्शन को छोड़ कर पांचवें में बाईस हैं। छठे में केवल दो क्रियाएं हैं– आरम्भिया और मायावत्तिया। 7 से 10 गुणस्थान तक मायावत्तिया, 11-12-13 वें गुणस्थान में एक ईर्यापथिक-क्रिया तथा चौदहवें में क्रिया का अभाव हो जाता है। गुणस्थान की रचना का मुख्य आधार कर्म विशोधि है। आत्मा की आध्यात्मिक उत्क्रांति का वैज्ञानिक निरूपण है– गुणस्थान।

संसार अनन्त जीव-राशि का महासागर है। सभी जीवों में आध्यात्मिक विकास की भिन्नता प्रतीत होती है। अनन्त भिन्नताओं को चौदह विभागों में विभाजित किया है। प्रथम और तृतीय गुणस्थान अध्यात्म- विकास की न्यूनतम अवस्था है। चौथे से क्रमिक ऊर्ध्वारोहण प्रारंभ होता है। क्रमिक विकास होते-होते चौदहवें में पूर्ण विकास होता है। योगविद् आचार्यों ने बारहवें गुणस्थान की तुलना संप्रज्ञात योग और तेरहवें - चौदहवें को असंप्रज्ञात योग से की है।[137]

विकासशील अवस्था, मध्य अवस्था है उसका एक छोर अविकास का है, दूसरा पूर्ण विकास का। इस आधार पर आत्मा की तीन अवस्थाएं बनती हैं -बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। पहले से तीसरे तक बहिरात्मा, चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा, शेष दो में परमात्म स्वरूप का चित्रण है। ये आध्यात्मिक विकास की चौदह सीढ़ियां है।

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान– जिसकी दृष्टि विपरीत होती है, उस व्यक्ति में पाई जाने वाली आध्यात्मिक निर्मलता को मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि में दर्शन मोह का उदय प्रधान है। उदय की मुख्यता से इसे औदयिक भाव भी अनेक आचार्यों ने माना है। यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम भी आंशिक रूप से होता है। उस क्षयोपशम के आधार पर समवायांग सूत्र में इस गुणस्थान को क्षायोपशिक भाव कहा है। इसमें विरोधाभास नहीं, केवल मुख्य और गौण का अंतर है।

2. सास्वादन गुणस्थान– सास्वादन अर्थात् स्वाद युक्त। औपशमिक सम्यक्त्व से पतित होने वाले मिथ्यात्वाभिमुख जीव के सम्यक्त्व का आंशिक आस्वादन शेष रहता है। इस दृष्टि से उसे सास्वादन कहा है।[138]

3.सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान– यह दोलायमान स्थिति है, इसमें दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों होती है। औपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का शोधन कर उन्हें तीन पुञ्जों में विभक्त कर देता है– शुद्ध, अर्ध शुद्ध और अशुद्ध। औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होने पर जीव सम्यक् दृष्टि बन जाता है और वह चतुर्थ गुणस्थान का अधिकारी हो जाता है। किन्तु उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त ही होती है। स्थिति समाप्त होते ही जीव की जैसी भावधारा होती है, वैसा पुञ्ज उदय में आ जाता है। उसके अनुसार ही वह सम्यक् दृष्टि बनता है। यह गुणस्थान उत्क्रांति और अपक्रांति का स्थान है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चारित्र - शक्ति का विकास नहीं होने के कारण उन शक्तियों के प्रतिबंधक कर्म संस्कारों की प्रबलता है।

4. अविरत-सम्यग्दृष्टि– यह विकास क्रम की चतुर्थ भूमिका है। इसमें दृष्टि सम्यक् है किन्तु व्रत, नियम की योग्यता प्राप्त नहीं होती। व्रत आदि की चेतना का विकास उसकी अगली भूमिका से प्रारम्भ होता है।

5. देशविरति गुणस्थान– इस गुणस्थान की प्राप्ति के लिये अप्रत्याख्यानी कषायों का उपशान्त होना आवश्यक है। गोम्मटसार के अनुसार विरताविरत व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा से विरत हो जाता है किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं होता।[139] यहां जीव की आसक्ति रूप मूर्च्छा टूटती है पर पूर्ण रूपेण सम्यक् चारित्र की आराधना नहीं कर पाता।

6. प्रमत्त संयत गुणस्थान– इस भूमिका में पूर्ण त्याग (सर्व विरति) की योग्यता का विकास हो जाता है किन्तु अन्तर्वर्ती अनुत्साह रूप प्रमाद का अस्तित्व बना रहता है।

7.अप्रमत संयत– इस गुणस्थान में अशुभ-योग, अशुभलेश्या, अशुभध्यान नहीं रहता। अनुत्साह का निरोध हो जाता है किन्तु प्रमाद की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती है।

8. निवृत्ति बादर– निवृत्ति का अर्थ है - भेद। इसमें विशुद्धि की भिन्नता होती है। इसका समय अन्तर्मुहूर्त्त है। भिन्न समयवर्ती जीवों की विशुद्धि भी समान नहीं होती हैं। एक समयवर्ती जीवों की विशुद्धि भी सदृश-विसदृश दोनों प्रकार की होती हैं। आठवें गुणस्थान को प्राप्त जीव ऊर्ध्वारोहण करता है। ऊर्ध्वारोहण की दो श्रेणियां हैं - उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी प्रतिपन्न जीव में मोह की प्रकृतियों को सर्वथा क्षीण करने का सामर्थ्य नहीं होता, वह केवल उन्हें उपशान्त करता है। मोह को

उपशान्त करता हुआ ग्यारहवीं भूमिका तक पहुंच कर पुन: नीचे की भूमिकाओं में लौट आता है। क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होने वाला दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें में प्रवेश कर लेता है। वह नीचे की भूमिकाओं में नहीं लौटता है। उपशम श्रेणी वाले जीव का अध:पतन होता है। उच्च भूमिका में जाने के पश्चात् पुन: आना होता है, क्योंकि उपशम की प्रक्रिया एक प्रकार से दमन की प्रक्रिया है। दमित वृत्तियां अवसर प्राप्त होने पर पुन: जागृत हो जाती है। ग्यारहवें गुणस्थान का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का ही है। अत: वृत्तियों के जागने पर पुन: नीचे की भूमिका में आना स्वाभाविक है। कालमान पूर्ण होते ही नीचे की भूमिका में आ जाता है। अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् मोह कर्म सक्रिय हो जाता है। निम्नवर्ती गुणस्थानों का स्पर्श करता हुआ जीव छठे गुणस्थान में ठहरने के योग्य विशुध्दि रहने पर दीर्घकाल तक वहां अवस्थित रह जाता है। पुन: उत्क्रमण भी कर सकता है। यदि अपेक्षित विशुद्धि का अभाव है तो प्रथम गुणस्थान तक भी पहुंच जाता है। निवृत्ति बादर को अपूर्वकरण भी कहा जाता है।[140 (क)] इस गुणस्थान में अपूर्व विशुद्धि प्राप्त होती है इसलिये इसका नाम अपूर्वकरण है।[140(ख)]

9. अनिवृत्ति बादर– अनिवृत्ति अर्थात् अभेद। इसमें परिणामों की विशुद्धि सदृश रहती है। दसवें गुणस्थान की अपेक्षा बादर-स्थूल कषाय उदय में रहता है। इसमें आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का गुण संक्रमण, निर्जरण, स्थिति और अनुभाग समाप्त हो जाता है। यह उच्चस्तरीय विकास की भूमिका है। इसमें काम-वासनात्मक भाव यानि वेद जनित विकार समूल नष्ट हो जाते हैं।

10. सूक्ष्म संपराय– इस गुणस्थान में संपराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म हो जाता है, केवल लोभ कषाय का सूक्ष्मांश अवशिष्ट रहता है।

11. उपशान्त मोह– इसमें मोहनीय कर्म को एक मुहूर्त्त के लिये उपशान्त कर दिया जाता है। इस भूमिका में स्थित जीव उपशांत मोह या वीतराग कहलाता है।

12. क्षीण मोह– यहां मोहकर्म का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। सेनापति के अभाव में सेना पलायन कर देती है। वैसे ही मोह क्षय होते ही एक मुहूर्त की अल्प कालावधि में ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय तीनों घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। फलत: केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि हो जाती है।

13. सयोगी केवली– चार घाती कर्मों के क्षीण होने पर भी शरीर आदि की प्रवृत्ति शेष रहती है, उसे सयोगी केवली कहते हैं। प्रवृत्ति के कारण ईर्यापथिक बंधन होता है, पर मात्र द्विसामयिक बंधन।

14. अयोगी केवली– इसमें सम्पूर्ण मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं का निरोध हो जाता है, निष्प्रकंप स्थिति प्रकट होती है। यही चरम उपलब्धि है, आत्म-विकास की पराकाष्ठा है, क्रिया से अक्रिया की साधना की सिद्धि है।

योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्र ने - मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा आदि 8 दृष्टियों का विवेचन किया है।

क्रिया से अक्रिया की ओर आरोहण

जैन परम्परा की तरह अन्य परम्पराओं में भी अध्यात्म विकास की भूमिका पर चिंतन किया गया है। बौद्ध दर्शन में हीनयान-महायान– इन दोनों परम्पराओं में कुछ मतभेद है। हीनयान में निर्वाण मार्ग के अभिमुख साधक को श्रोतापन्न-भूमि, सकृदानुगामी, अनागामी, अर्हत् भूमि इन चार भूमिकाओं को पार करना होता है।[141] महायान में दस भूमिकाओं का उल्लेख है–

1. प्रमुदिता
2. विमला
3. प्रभाकरी
4. अर्चिष्मती
5. सुदुर्जया
6. अभिमुक्ति
7. दूरगमा
8. अचला
9. साधुमति
10. धर्ममेघ

योग वसिष्ठ में गुणस्थानों के समकक्ष ही चौदह भूमिकाएं प्राप्त होती है।[142]

1. बीज जाग्रत - यह चेतना की सुषुप्त अवस्था है।
2. जाग्रत - इसमें अहं और ममत्व का अत्यल्प विकास होता है।
3. महाजाग्रत - इसमें अहं और ममत्व विकसित हो जाते हैं।
4. जाग्रत स्वप्न - मानसिक कल्पना की अवस्था है।
5. स्वप्न - स्वप्न चेतना की अवस्था है।
6. स्वप्न जाग्रत - यह स्वप्निल चेतना है।
7. सुषुप्ति - स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था है।

8. शुभेच्छा - कल्याण - कामना।
9. विचारणा - सदाचार में प्रवृत्ति का निर्णय।
10. तनुमानसा - इच्छाओं, वासनाओं के क्षीण होने की स्थिति।
11. सत्त्वापत्ति - शुद्धात्म-स्वरूप में अवस्थिति।
12. असंसक्ति - आसक्ति के निरसन की अवस्था।
13. पदार्था- भाविनी-भोगेच्छा का पूर्ण विलय।
14. तूर्यगा - देहातीत अवस्था।

प्रथम सात भूमिकाओं का सम्बन्ध अज्ञान से है। शेष का संबंध ज्ञान से है।

अक्रिया का विकास और निष्पत्ति

कर्म अकर्म के बिना नहीं चल सकता। हृदय धड़कता है इसलिये आदमी जीता है, यह आम धारणा है। यदि हृदय विश्राम न करे, प्रतिक्षण धड़कता ही रहे तो एक दिन भी जीना संभव नहीं होगा। इसलिये प्रत्येक क्रिया के साथ अक्रिया का योग जरूरी है। अक्रिया में योग का पूर्ण निरोध हो जाता है।[143] योग का निरोध होने से शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में ऐर्यापथिक तथा एजनादि क्रियाएं भी बन्द हो जाती हैं। इस प्रक्रिया से कर्मों का व्यवदान अर्थात् शोधन होता है। इस प्रकार अक्रिया से निर्वाण (मुक्ति) होता है। यह तथ्य स्थानांग के इस प्रसंग से काफी स्पष्ट हो जाता है - [144(क)]

1. श्रवण का फल ज्ञान है।
2. ज्ञान का फल विज्ञान है।
3. विज्ञान का फल प्रत्याख्यान है।
4. प्रत्याख्यान का फल संयम है।
5. संयम का फल कर्म-अनाश्रव (निरोध) है।
6. अनाश्रव का फल तप है।
7. तप का फल व्यवदान (निर्जरा) है।
8. व्यवदान का फल है अक्रिया - मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध।[144(ख)]
9. अक्रिया का फल निर्वाण है।
10. निर्वाण का फल है सिद्धि गति।[144(ग)]

अन्तक्रिया की विविध अवस्थाएं

जीव की अन्तिम क्रिया जिससे जीव कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करके योग निरोधात्मक

शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद में स्थित होता है, उस समय अन्तक्रिया होती है। जीव अन्तक्रिया विविध प्रकार से विविध अवस्थाओं में करता है।

1. संसार की सीमा जब देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन की रह जाती है, तब से ही अन्तक्रिया का शुभारंभ हो जाता है अर्द्ध पुद्गल परावर्तन– यह एक काल की इकाई है। जीव द्वारा पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके पुनः छोड़ देने में जितना समय लगता है उतने समय को पुद्गल परावर्तन कहा जाता है। अथवा– एक जीव को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से औदारिक आदि सातों वर्गणाओं के पुद्गलों को क्रमशः या व्युत्क्रम से काम में लेने से जितना समय लगता है, वह एक पुद्गलपरावर्त कहलाता है।

काल के विभाग–

अविभाज्य काल– एक समय।

असंख्य काल– एक आवलिका।

256 आवलिका– एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)

2223 $\frac{1229}{3773}$ आवलिका= एक उच्छ्वास निश्वास

4446 $\frac{2458}{3773}$ आवलिका या साधिक 17 क्षुल्लक भव या = एक प्राण

एक श्वासोच्छ्वास

7 प्राण = एक स्तोक

7 स्तोक = एक लव

3811 लव = एक घड़ी (24 मिनिट)

77 लव = दो घड़ी / अथवा 65536 क्षुल्लक भव। या 16777216 आवलिका अथवा 3773 प्राण। अथवा एक मुहूर्त्त (सामायिक - काल)

30 मुहूर्त्त = एक दिन = रात (अहोरात्र)

15 दिन = एक पक्ष।

2 पक्ष = एक मास।

2 मास = एक ऋतु

3 ऋतु = एक अयन

2 अयन = एक वर्ष

5 साल = एक युग

70 क्रोडाक्रोड 56 लाख क्रोडवर्ष एक पूर्व

असंख्य वर्ष = एक पल्योपम

10 क्रोडाक्रोड पल्योपम = एक कालचक्र

20 क्रोडाक्रोड सागर = एक काल चक्र

अनन्त कालचक्र = एक पुद्गल - परावर्तन

उसमें कुछ कम देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन कहलाता है।

2. मोक्ष जाने की सीमा निर्धारित होते ही अन्तक्रिया प्रारंभ होती है।

3. जिस भव में मोक्ष जाना है, उसमें जब से संन्यास लिया जाता है, उसी समय से अन्तक्रिया का प्रारम्भ माना जाता है।

अनन्तर और परम्पर अन्तक्रिया

नारक से सीधे मनुष्य भव में आकर अन्तक्रिया करते हैं, उसे अनन्तर अन्तक्रिया कहते हैं। बीच में एक या एक से अधिक अन्य भव करके अन्तक्रिया करते हैं, वह परम्पर अन्तक्रिया कहलाती है। रत्नप्रभा से पंकप्रभा के नारक दोनों प्रकार की अन्तक्रिया करते हैं। धूम प्रभा से तमतमा तक के नारक परम्पर अन्तक्रिया करते हैं। इसी प्रकार असुर कुमार देव, पृथ्वी, अप्, वनस्पतिकायिक जीव, तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यंतर, ज्योतिषी वैमानिक जीवों के दोनों प्रकार की अन्तक्रिया मानी गई है। अग्नि, वायु और तीन विकलेन्द्रिय के केवल परम्पर अन्तक्रिया होती है। नारक से लेकर वैमानिक तक के जीवों की अन्तक्रिया का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

जीव	अनन्तर अंतक्रिया	परम्पर अन्तक्रिया
रत्नप्रभा से पंकप्रभा तक के नारक, असुर कुमार,पृथ्वी, अप्, वनस्पति	है।	है।
धूमप्रभा, तमतमाप्रभा,अग्नि,वायु, तीन विकलेन्द्रिय	नहीं करते।	करते हैं।
तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक	करते हैं।	करते हैं।

प्रथम तीन नरक, असुर कुमार तक के देव एक दो अथवा तीन या उत्कृष्ट 10 जीव एक समय में अन्तक्रिया करते हैं। इसी प्रकार सब जीवों के लिए देखिए निम्न चार्ट–

जीव	समय	संख्या
प्रथम तीन नारक, असुरकुमार से स्तनित कुमार तक के देव	1 समय	1 से 10
असुरकुमार आदि की देवियां	1 समय	1 से 5
पंकप्रभा के नारक	1 समय	1 से 4
पृथ्वी, अप्काय	1 समय	1 से 4
वनस्पति	1 समय	1 से 6
मनुष्य, वाणव्यंतर, ज्योतिष	1 समय	1 से 10
मनुष्यस्त्री	1 समय	1 से 20
वाणव्यंतर देवियां	1 समय	1 से 5
ज्योतिष देवियां	1 समय	1 से 20
वैमानिक देव	1 समय	1 से 108
वैमानिक देवियां	1 समय	1 से 20

इस विषय में मंडितपुत्र के कुछ प्रश्न है जो अन्तक्रिया के स्वरूप को समझने में सहायता करते हैं।

प्रश्न– भंते! क्या एजनादि क्रिया नहीं करनेवाला अन्तक्रिया करता है ? [146]

उत्तर– हां मंडितपुत्र ! जो एजनादि क्रिया रहित हैं, उन भावों में परिणमन नहीं करता, आरंभ, सारंभ, समारंभ नहीं करता, प्राण, भूत, जीव सत्व को पीड़ित नहीं करता, उस कम्पन रहित जीव की अन्तक्रिया होती है। अतीत में अनन्त जीवों ने ऐसी अन्तक्रिया की है, वर्तमान में कर रहे हैं और भविष्य में करेंगे।

प्रश्न– क्या संवृत अणगार अन्तक्रिया करता है ?

उत्तर– हां, करता हैं। वह आयुष्य को छोड़कर सघन रूप में बंधी हुई अन्य कर्म-प्रकृतियों को शिथिल बंधन वाली करता है। दीर्घकालिक कर्म-प्रकृत्तियों को अल्पकालिक, तीव्रानुभव वाली को मंदानुभव तथा बहुप्रदेश वाली को अल्प प्रदेश वाली करता है, आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता, असातावेदनीय का उपचय नहीं करता। संसाररूप अटवी को पार कर जाता है, अत: संवृत अणगार के अन्तक्रिया होती है।

अन्तक्रिया के उपाय

अन्तक्रिया के तीन उपाय हैं - ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना।

ज्ञानाराधना वाला जघन्य तीन भव अथवा सात-आठ भव में अंतक्रिया करता है।

दर्शनाराधना वाला जघन्य तीन भव अथवा सात-आठ भव में अंतक्रिया करता है।

चारित्राराधना वाला जघन्य दो भव अथवा तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करता। मध्यम रूप से ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधना करने वाला दो भव अथवा तीसरे में निश्चित रूप से अन्तक्रिया करता है। उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधना करने वाला कोई उसी भव में अन्तक्रिया करता है। कोई दो भव बाद अथवा कोई कल्पोत्पन्न-कल्पातीत देवलोक में जाता है।

अधिकारी के आधार पर अन्तक्रिया के दो प्रकार हो जाते हैं - श्रमण की अन्तक्रिया और केवली की अन्तक्रिया।

श्रमण की अन्तक्रिया

साधु की दो गतियां हैं– अंतक्रिया और कल्पोत्पन्न (कल्पोपपत्तिका)। जो एजनादि क्रिया नहीं करता, उसके सकल कर्म अग्नि में निक्षिप्त घास की तरह शीघ्र भस्म हो जाते हैं।

केवली की अन्तक्रिया

केवल-ज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् सयोगी केवली अपेक्षानुसार समुद्घात करके या बिना किये अवशिष्ट अन्तक्रिया का प्रारंभ करते हैं। उनमें वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की स्थिति से आयुष्य कर्म की स्थिति कम रह जाने उनमें संतुलन स्थापित करने के लिये स्वभावत: समुद्घात क्रिया होती है। इसमें आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया का कालमान सिर्फ आठ समय का है। पहले समय में आत्म-प्रदेश लोक के अन्त तक ऊर्ध्व और अधोदिशा में व्याप्त होते हैं। इसमें दंड जैसा आकार बनता है। दूसरे समय में कपाटाकार फैल जाते है। तीसरे समय में मंथनी के रूप में और चौथे समय में आत्मा संपूर्ण लोक में व्याप्त हो जाती है। उसके बाद पांचवें, छठे, सातवें, आठवें समय में आत्म-प्रदेश क्रमश : मंथान, कपाट और दण्ड के आकार में होकर पूर्ववत् देहस्थित हो जाते हैं। आठ समय में पहले और आठवें समय में औदारिक योग दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मणकाययोग के साथ औदारिक मिश्र काययोग तथा तीसरे, चौथे और पांचवें में कार्मण योग पाया जाता है। समुद्घात करने, नहीं करने के

संदर्भ में कुछ मतभेद भी हैं। रत्नशेखर सूरि आदि कई विद्वानों की धारणा है कि जिस जीव का आयुष्य छह मास से अधिक है, उसे यदि केवलज्ञान हो जाये तो वह जीव निश्चय ही समुद्घात करता है।[147क] किन्तु अन्य केवली के लिये यह नियम नहीं है। आर्य श्याम ने लिखा है–

अंगतूण समुग्घायमणंता केवली जिणा।
जाइ-मरण विप्पमुक्का सिद्धिवरगतिं गया।।

अर्थात् अनन्त केवली और जिन समुद्घात किये बिना ही जन्म-मरण से विप्रमुक्त हो गये।[147ख] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का अभिमत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि प्रत्येक जीव मोक्ष प्राप्ति से पूर्व समुद्घात अवश्य करता है। समुद्घात करने के बाद ही केवली योग निरोध कर शैलेशी अवस्था प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त करता है।[148]

दिगम्बर मान्यता के अनुसार भी केवली समुद्घात करते हैं। वस्तुत: वे समुद्घात करते नहीं, स्वत: होता है। समुद्घात करना आलोचनार्ह क्रिया है। समुद्घात की प्रक्रिया आत्मा की व्यापकता से संबधित वैदिक मान्यता से साम्यता रखती है।

अन्तक्रिया का क्रम

केवलज्ञान प्राप्ति के बाद अवशिष्ट आयुष्य कर्म को भोगता हुआ जब अन्तर्मुहूर्त्त आयुष्य शेष रहता है तब सब योगों का क्रमश: निरोध कर 'सूक्ष्म-क्रिया-अनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान में स्थित जीव पहले मनो-योग फिर वचन-योग और अन्त में काययोग तथा, श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है,। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय में समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान द्वारा भवोपग्राही कर्मों का क्षय कर देता है। तत्पश्चात् औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को छोड़कर जीव एक समय में ऋजु गति से ऊर्ध्वगमन करते हुए मुक्त हो जाता है। सिद्ध गति में उत्पन्न होने वाले जीव केवल ऋजुगति से ही गमन करते हैं। उनके विग्रह गति नहीं होती। सयोगी केवली योग निरोध की प्रक्रिया में पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के प्रथम समय में मनोद्रव्य और मनोयोग होता है, उसकी तुलना में असंख्यात गुण हीन मनोयोग का प्रति समय निरोध करता हुआ असंख्यात समय में सर्वथा मनोयोग का निरोध कर लेता है। मनोयोग का निरोध कर पर्याप्त द्वीन्द्रिय के वचन योग से असंख्यात गुण न्यून वचन योग का असंख्यात समय में सर्वथा निरोध हो जाता है। उसके बाद अविलम्ब प्रथम समय में उत्पन्न हुए अपर्याप्त एवं सबसे अल्प वीर्यवाला सूक्ष्म पनक जीव का जितना काययोग होता है, उससे असंख्यात गुणहीन काययोग का सर्वथा

निरोध हो जाता है। काययोग के निरोध काल में अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त में वेदनीयादि तीन कर्मों में से प्रत्येक कर्म की स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटाकर गुणश्रेणी क्रम द्वारा कर्म-प्रदेशों की रचना अयोगी अवस्था के कालप्रमाण के समान बनाता है। इस अवस्था का कालमान अ, इ, उ, ऋ, लृ, पंच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण जितना है।

मुक्त जीवों में गति क्रिया

भगवती सूत्र में अकर्मा की गति के हेतुओं का वर्णन करते हुए कहा– निस्संगता, निरंजनता, गति - परिणाम, बंधन - छेदन, निरिन्धनता आदि कारणों से अकर्मा जीव भी गति करते हैं। जैसे– अग्नि, शिखा की स्वभावतः ऊर्ध्वगति है वैसे ही अकर्मा की ऊर्ध्व गति होती है।[149]

तत्त्वार्थ सूत्र में उपर्युक्त कारणों का ही समर्थन किया गया है। वहां मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के चार कारण बताये हैं–[150]

(1) पूर्व प्रयोग, (2) संग का अभाव, (3) बंधन-मुक्ति,(4) गति-परिणाम।

इस प्रकार जैन दर्शन की साधना बंध से मोक्ष प्राप्ति की साधना है। बंधन तलहटी है। मोक्ष शिखर है। बंध-व्यवस्था की भांति मोक्ष-व्यवस्था का संचालन भी क्रिया के द्वारा होता है। सूक्ष्म अध्यवसाय जहां एक और कर्म संस्कार तथा जीव के मध्य संपर्क सूत्र का कार्य कर रहें हैं, वहां दूसरी ओर संपर्क-विच्छेद में भी इनका योगदान है।

क्रिया की इस उभयरूपता को देखते हुए आचारांग का यह सूक्त सार्थक प्रतीत होता है कि 'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा' अर्थात् जो कर्म-बंधन के हेतु हैं, वे ही कर्म-मुक्ति के उपाय हैं।[151]

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय से मुक्तावस्था तक का विकास अध्यवसायों की शुद्धि और आत्मपुरूषार्थ का परिणाम है। उत्क्रमण की इस स्थिति में शुभ और शुद्ध (राग-द्वेष विमुक्त) अध्यवसायों की महनीय भूमिका है। चेतना के ऊर्ध्वारोहण की यह यात्रा क्रिया से अक्रिया की ओर प्रस्थान है। साधना के विभिन्न सोपानों का आरोह करते हुए साधक सिद्धि तक पहुंचता है, साधना स्वयं साध्य बन जाती है।

संदर्भसूची

1. पातंजल योग दर्शन; 1/2 - योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
2. संयुक्त निकाय; 5/10
3. श्री भिक्षु शब्दानुशासन धातुपाठ, गण 7- युज्यति योगे
4. वही-गण; 4 - युर्जिङ समाधौ

5. जैन सिद्धान्त दीपिका; 4/25 (तृतीय संस्करण, 1982)
6. राजवार्तिक; 9/7/11/603, 34
7. (क) राजवार्तिक; 9/7/11/603, 33
(ख) भगवती भाष्य खण्ड-1, 1/141-146
8. तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 6/1/10
8 (अ) उद्धृत नवपदार्थ, पृ. 420 नवतत्त्व साहित्य संग्रह, श्री नव तत्त्व प्रकरणम् गा.36
9. तत्त्वार्थ सूत्र; 6/1/4
10. नव पदार्थ; पृ. 455
11. भगवती; 8/428-430
12. तत्त्वार्थ सूत्र; 6/1-2, (ख) जैन सिद्धांत दीपिका; 4/16
13. आचारांग भाष्य; पृ . 26
14. आचारांग 1/4/2 शीलांक टीका पत्रांक; 164
15. नवपदार्थ; पृ. 370
16. नवपदार्थ; पृ.369
17. ज्ञानसार; पृ. 100
18. समयसार; 171
19. ठाणं; 5/109
20. समवायांग; 5/4
21. तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 8/1/28.594
22. सर्वार्थसिद्ध; 8/375
23. धवला; दु:ख शस्यं कर्म क्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषाया :।
24. आचारांग; 3/73
25. स्थानांग; 2/2
26. तत्त्वार्थ भाष्यानुसरिणी टीका; 8/8/9- अधिकरणं जीवाजीवा :।
27. प्रश्न व्याकरण, आश्रव द्वार (प्रथमाध्ययन) 1/5-30
28. आचारांग; 2/86
29. आचारांग चूर्णि; पृ . 72
30 अंगुत्तर निकाय; 3/58, 6/63
31. गीता; 16/6
32. योगसूत्र; 2/3 - अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा:।
33. नीतिशास्त्र; पृ. 63
34. ठाणं; 2/59
35. (क) तत्त्वार्थ; 1/4
(ख) सर्वार्थसिद्धि-शुभाशुभकर्मागम द्वार रूप आश्रव:, आश्रव निरोधलक्षण: संवर:।

36. तत्त्वार्थसूत्र;सर्वार्थ सिद्धि : 1/4
37. तेराद्वार, द्रष्टान्त द्वार
37. (क) तत्त्वार्थ; 9.2, 4-18
37. (ख) नवतत्त्व साहित्य संग्रह के सर्वनवतत्त्व प्रकरण।
38. स्थानांग; 1/14 की टीका
    अयं द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविध द्रव्येण स्थगनं संवरः, भावतस्तु जीवद्रोण्यामाश्रवत्कर्म्म - जलानामिन्द्रियादिच्छिद्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति।
39. पंचास्तिकाय ; अमृतचन्द्रवृत्ति 2/142
40. द्रव्य-संग्रह; 2/34
    चेदणापरिणामो जो कम्मस्सासवणि रोहणे हेऊ।
    सो भाव संवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥
41. द्वादशानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा; 95
    सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणं।
    एदे संवरणामा, जोगाभावो तहच्चेव॥
42. समयसार, संवर अधिकार; 190-191
43. (क) ठाणं; 5/110
    (ख) समवायांग; 5 /5
    पंच संवरदारा पन्नता तं जहा - सम्मत्तं विरई अप्पमत्तया अकसाया अजोगया।
44. समवायांग; 5/5
45. ठाणं; 8/11
46. धम्मपद; 360-361
47. (क) प्रश्न व्याकरण संवर द्वार
    (ख) ठाणं; 10/10
48. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि; 9-1
49. वहीं; 9/4.
50. नव तत्त्व संग्रह; गा.10 भाष्य
51. उत्तराध्ययन; 24/26
    एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
    गुत्ती नियत्तणे वत्ता, असुमत्थेसु सव्वसो॥
52. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि; 9/2
53. तत्त्वार्थ सूत्र, राजवार्तिक; 9/5
54. (क) स्थानांग; 8/17
    (ख) समवाओ; 8/2
    (ग) उत्तराध्ययन; 24/1,2, 19/36

55. तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि; 9/2, इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः।
55. (ख) जि.चू.पृ. 15
दुर्गति प्रसृतान् जीवान् यस्माद धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थितः॥
56. उत्तराध्ययन; 2
57. समवायांग; 22/1
58. भगवती; 8/8
59. नवपदार्थ; पृ. 523
60. टीकम डोसी की चर्चा, उद्धृत नवपदार्थ से; पृ.526 से
61. वही
62. झीणी चर्चा; ढ़ाल . 6
63. सूयगडो; 2/4
64. स्थानांग; 1/109-126
65. झीणी चर्चा; ढाल . 6
66. जीव - अजीव; पृ . 164-165
67. सूत्रकृतांग; 1/8/16
68. अंगुत्तर निकाय; 6/58
69. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग 2; 621
70. भगवती आराधना; 1659
71. तत्त्वार्थ वार्तिक; 1/4/12
72. जैन सिद्धांत दीपिका; 5/16
तपसा कर्म विच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा।
73. नवपदार्थ, आश्रवपदार्थ; ढाल - 1/55
74. चन्द्रप्रभ चरितम्; 18/109-110
उद्धृत नवपदार्थ से; पृ .610, निर्जरा 2
75. तत्त्वार्थसार; 7/24
76. नव तत्त्व साहित्य संग्रह; गा . 128
उद्धृत नवपदार्थ - 611
ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्य देहिनाम्।
77. द्वादशानुप्रेक्षा, निर्जरा अनुप्रेक्षा; 103-104
78. दसवैकालिक; 9/4/6
नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा
नो कित्तिवण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा॥

79. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य; 9/7 भाष्य 9
80. स्थानांग; 1/16
81. उत्तराध्ययन; 30/9
82. औपपातिक; सूत्र. 19
83. उत्तराध्ययन; 30/10-11
84. (क) समवायांग; 6 /3
    (ख) भगवती; 25/7
    (ग) उत्तराध्ययन; 30/8
85. (क) स्थानांग; 3/382
    (ख)भगवती; 25/7,
    (ग)औपपातिक; 30
86. तत्त्वार्थसूत्र; 9/19, उत्तराध्ययन; 30/14, 23
87. वही; 30/15,20,21,24
88. औपपातिक; सूत्र 19
89. औपपातिक; सूत्र 19
90. मूलाराधना दर्पण; पृ. 427
91. ठाणं; 3/381
92. औपपातिक; सूत्र 19
93. उत्तराध्ययन; 30/22-24
94. समवायांग; 6/3
95. तत्त्वार्थसूत्र; 19/19
96. दशवैकालिक निर्युक्ति; गा. 47
97. ठाणं; 5/3/511 की टीका
98. औपपातिक; 30
99. भगवती; 25/7
100. मूलाराधना; 3/218
101. उत्तराध्ययन; 30/26
102. औपपातिक; 30
103. ठाणं; 9/23
    णव विगतीओ पण्णत्ताओ, तं जहा - खीरं, दधिं, णवणीतं, सप्पिं, तेलं, गुलो, महुं मज्जं, मंसं।
104. वही; 4/185
105. सागर धर्मामृत; 5/35 की टीका

106. मूलाराधना; 3/216
107. ठाणं; 7/49
सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते तं जहा -
ठाणातिए, उक्कुडुयासणिए, पडिमठाई, वीरासणिए, णेसज्जिए, दंडायतिए, लगंडसाई।
108. वसुनन्दि श्रावकाचार; 351
109. तत्त्वार्थ सूत्र; 9/13 की श्रुत सागरीय वृत्ति
110. ठाणं; 4/2/278 की टीका
111. भगवई; 25/7
112. वही
113. भगवती; 25/7, औपपातिक 30
114. ठाणं; 10/73
115. तत्त्वार्थवार्तिक; 9/22
116. औपपातिकसूत्र; 40
117. ठाणं; 7/130
118. भगवई; 25/7/802
119. (क) औपपातिक; सूत्र 40
(ख) नवपदार्थ, निर्जरा ढाल; पृ. 660-661
120. ठाणं; 10/17 पृ. 961-962
दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा -आयरियवेयावच्चे, उवज्झायवेयावच्चे, थेरवेयावच्चे, तवस्सियवेयावच्चे, गिलाणवेयावच्चे, सेहवेयावच्चे, कुलवेयावच्चे, गणवेयावच्चे, संघवेयावच्चे, साहम्मियवेयावच्चे।
121. तत्त्वार्थ सूत्र; 8/23 सर्वार्थसिद्धि
122. भगवती; 1.3
123. उत्तराध्ययन; 30/7 टिप्पण से उद्धृत
124. वही; 9/22 श्रुत सागरीय वृत्ति
125. वही; 9/23 श्रुत सागरीय वृत्ति
126. वही; 9/24 श्रुत सागरीय वृत्ति
127. वही; 9/25 श्रुत सागरीय वृत्ति
128. तत्त्वार्थ सूत्र; 9/26 श्रुत सागरीय वृत्ति
129. वही; 3/3 प्र. 11 की टीका
130. तत्त्वार्थसूत्र; सर्वार्थसिद्धि; 1/4
131. प्रज्ञापना सूत्र, मलयवृत्ति; पत्र 397
132. भगवती; 41/1 पृ. 935

133. ठाणं; 4/1-4 चत्तारि अन्तकिरियाओ, पण्णत्ताओ तं जहा
तत्थ खलु इमा पढमा अन्तकिरिया...तहव्वगोर पुरिसज्जाते दीहेणं परियाएणं सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा - से भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी - पढम अंत-किरिया ...।
134. समवायांग वृत्ति; पत्र 36
135 गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ; 10
136. जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन, भाग-1, पृ. 192
137. जैन कर्मसिद्धान्त और मनोविज्ञान; पृ 230
138. समवायांग; पत्र 26
139. गोम्मटसार; गा.31
140. (क) वही; गा. 50 (ख) वही; गा. 51
141 जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन, भाग-1 पृ.207, (साध्वी नगीना कृत)
142. राजेन्द्र ज्योति; पृ 83
143. स्थानांग; 3/3/190
144. (क) वही; 3/418
(ख) उत्तराध्ययन; 29/28
वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ। गोयमा ! वोदाणेणं अकिरियं जणयइ।
(ग) भगवती भाष्य; 2/5/111,
सा णं भंते ! अकिरिया किंफला ?
सिद्धि संगहणी गाहा पज्जवसाण फला पण्णत्ता गोयमा !
सवणे णाणे य, विण्णाणे, पच्चभक्खाणे य संजमे। अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी।
145. क्रियाकोश, पृ. 196
146. भगवई, भाष्य ; 3/143-148
147. (क) प्रज्ञापना पद; 36
(ख) ठाणांग, 8/114 पृ. 840
148. आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति; पत्र 536
149. भगवती भाष्य 7/10-15
150. तत्त्वार्थ सूत्र; 10/6,
पूर्वप्रयोगाद्, असंगत्वाद् बंधच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः।
151. आचारांग; 4/12

षष्ठम अध्याय

क्रिया और परिणमन का सिद्धांत

विश्व-व्यवस्था की व्याख्या का ध्रुव सिद्धांत है– परिणमन। परिणमन का अर्थ स्थाई रहते हुए परिवर्तित होना है। सृजन, विकास और प्रलय का आधार परिणमन का सिद्धान्त ही है।

परिणमन का अर्थ एवं स्वरूप

क्रिया तथा परिणमन दोनों में शब्द भेद है, अर्थ-भेद नहीं। शब्द कोश की दृष्टि से पर्याय, परिणमन, गति, क्रिया एकार्थक हैं। परिणमन के मुख्यत: तीन अंग हैं -उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य।

परिणमन की अनिवार्यता

अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। अर्थक्रियाकारित्व पदार्थ का सर्वमान्य लक्षण है। जो सतत क्रियाशील है, वही सत् है। यद्यपि भारतीय दर्शन का अस्तित्ववादी चिन्तन कूटस्थ नित्यवाद एवं क्षणिकवाद– इन दो तटों के बीच प्रवाहित होता रहा है। कोई विचारधारा परिणमन को मानती है, कोई नहीं मानती। जैन दर्शन ने इन दोनों को समन्वित करते हुए परिणामी -नित्यवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। प्रत्येक पदार्थ को स्थाई मानते हुए भी परिवर्तनशील माना। इस सिद्धांत में नित्येकान्त और अनित्येकान्त विचारधारा का समन्वय होने से व्यापकता का दर्शन होता हैं। वस्तु जगत् में भी एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य वस्तु किसी भी प्रकार से क्रिया करने में समर्थ नहीं है। एकान्त नित्य वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। क्षणिकवाद के आधार पर भी वस्तु में देशगत और कालगत दोनों ही रूपों में क्रिया संभव नहीं है। इसलिये एकांत नित्यता और एकांत अनित्यता वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकती। आचार्य हेमचन्द्र लिखते है– **अनर्थक्रियाकारित्वाद वस्तुत्व प्रसंग:-इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां**

व्याप्यार्थ क्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृतौ निर्वर्तमान व्याप्य-मर्थक्रिया कारित्वं निर्वर्तयति, तदपि स्वव्याप्यं सत्त्वमित्यसन् द्रव्यैकान्तः।[1]

दूसरे शब्दों में, सत्पदार्थ त्रिलक्षणात्मक है - उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।[2] पदार्थ एक रूप में उत्पन्न होता है। कुछ अवधि के बाद दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन के बावजूद भी अपने अस्तित्व को बनाये रखता हैं उत्पाद और व्यय दोनों परिणमन की आधार भूमि है। ध्रौव्य उनका अन्वयी-सूत्र है। ध्रौव्य प्रकम्पन के मध्य अप्रकम्पन की स्थिति है। उत्पाद-व्यय अप्रकम्प की परिक्रमा करता हुआ परिवर्तन है। ध्रौव्य उत्पाद-व्यय को गति देता है किन्तु साथ में अस्तित्व की मौलिकता को सुरक्षित रखता है। कोई भी अस्तित्व अशाश्वत नहीं है, परिवर्तन की मर्यादा से मुक्त भी नहीं है। कहा भी गया है–

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्यायाः द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपाः, दृष्टाः मानेन केन वा।।

ध्रौव्य की तरह उत्पाद-व्यय भी सत् का ही स्वभाव है। द्रव्य और पर्याय का सह -अस्तित्व है। एक ही वस्तु में विरोधी धर्मों का सहवास समस्या नहीं है। विरोध की स्थिति तब आती है जब एक ही दृष्टि से तीनों की व्याख्या की जाये। उक्त प्रसंग में उत्तर पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, पूर्व पर्याय की अपेक्षा विनाश तथा मूलभूत द्रव्य की दृष्टि से ध्रौव्य को स्वीकार किया गया है। उत्पाद के समान व्यय अथवा व्यय के समान उत्पाद तथा ध्रौव्य को मान्यता दें तो विरोध की स्थिति बनती है। किन्तु यहां उत्पाद-व्यय का होता है। किसी भी सत्पदार्थ का आत्यन्तिक विनाश और असत्पदार्थ का उत्पाद नहीं होता है। गुणदृष्टि से पदार्थ स्थाई और पर्याय दृष्टि से वे उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से गुजरते हैं। पंचास्तिकाय में कहा है–

भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा, उप्पादव्ययं पकुव्वंति।।

पर्याय जगत् अतीत का प्रतिबिम्ब और अनागत योग्यताओं का अक्षय कोष है। परिणमन के सिद्धांत का कोई अपवाद नही। प्रत्येक सत् को परिवर्तन के रास्ते से गुजरना पड़ता है। चाहे आने वाली पर्याय सदृश-असदृश, अल्प सदृश-अर्धसदृश और विसदृश ही क्यों न हो। परिवर्तन की इस परम्परा में प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान है। अन्य द्रव्य निमित्त

कारण है। जो कारण स्वयं कार्य में परिणत हो जाता है वह उपादान है। जो कार्य रूप में परिणत न होकर परिणति में सहयोगी बनता है वह निमित्त या सहकारी कारण है। घट-पट में मिट्टी और तन्तु उपादान है। कुंभकार और जुलाहा निमित्त है।

बाह्य निमित्त का योग होने पर उपादान कार्यरूप में परिणत हो जाता है। मिट्टी में घड़ा, सिकोरा, प्याला, सुराही आदि अनेक पर्यायों की संभावना है किन्तु कुंभकार की इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि सामग्री उपलब्ध होने पर वह तद् तद् रूप परिणत हो जाती है। कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में असंभव परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है। परिणमन स्वाभावानुरूप ही होता है। प्रकृति का विधान निश्चित हैं। अनिश्चित अगले क्षण की पर्याय है।

परिणमन का आधार

परिणमन का मूलाधार त्रिपदी है। जिसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के नाम से जाना जाता है। दूसरी दृष्टि से परिणमन का आधार है पर्याय। पर्याय जगत् बहुत विशाल है। द्रव्य का संसार सीमित है। एक द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं। पर्यायों की यवनिका में द्रव्य छिपा हुआ है। प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है- काल, जो अस्तित्व में व्याप्त होकर उसे परिणमनशील रखता है। परिवर्तन की प्रक्रिया अंतहीन है। सूक्ष्म परिवर्तन इन्द्रिय गम्य नहीं है। जीव और पुद्गलों के पारस्परिक निमित्तों से होने वाला केवल स्थूल परिणमन ही इन्द्रियगम्य है।

परिणमन का संबंध अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से है। भगवती सूत्र के अनुसार अस्तित्व का अस्तित्व में और नास्तित्व का नास्तित्व में परिणमन होता है।[3] जैसे– अंगुली का सरल अवस्था से कुटिल अवस्था में जाना।

नास्तित्व का नास्तित्व में परिणमन - मिट्टी का नास्तित्व तंतु में और तन्तु का मिट्टी नास्तित्वरूप परिणमन होता है।

परिणमन गति अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। अरस्तु ने पदार्थ की चार प्रकार की गति मानी है।[4] उद्भव और विनाश की जितनी भी प्रक्रियाएं हैं, वे सब गति के अन्तर्गत हैं। चार गति हैं–

1. तात्विक गति– किसी वस्तु का सत् में प्रकट होना और असत् में विलीन हो जाना।

2. गुणात्मक गति– एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में रूपान्तरण हो जाना।

3. परिणामात्मक गति– किसी वस्तु की मात्रा में वृद्धि या कमी होना।

4. देशीय गति– वस्तु का स्थानान्तरण हो जाना।

अरस्तु का यह अभिमत जैन दर्शन के समकक्ष ही है। गति दो रूपों में होती हैं– (1) रूपान्तरण (2) देशान्तर प्राप्ति।

उमास्वाति ने धर्म, अधर्म, आकाश तीनों को निष्क्रिय कहा है, इसका अर्थ उनमें देशान्तर प्राप्ति रूप गति का अभाव है, रूपान्तरण का नहीं। सांख्य के अनुसार परिणमन का आधार रजोगुण है, जिससे प्रत्येक वस्तु क्रियाशील है।

परिणमन के विविध रूप

परिणमन तीन रूपों में होता हैं–

1.धर्म परिणाम– किसी धर्म के तिरोभाव, अभिभव तथा प्रादुर्भाव से जो परिणमन होता है।

2.लक्षण परिणाम– कालगत परिवर्तन प्रत्येक वस्तु का भूत, वर्तमान एवं भावी रूप में परिणमन होता है।

3. अवस्था परिणाम– विद्यमान वस्तु में अवस्था परिवर्तन के कारण वैलक्षण्य देखा जाता है। वस्त्र का नया से पुराना होना, मनुष्य की शिशुत्व, बाल्य, कौमार्य, वार्धक्य आदि पर्यायें अवस्था परिणाम की सूचक है। परिणाम के गर्भ में आवृत अनागत वर्तमान हो जाता है। वही अतीत के अंचल में अव्यक्त रूप में विलीन हो जाता है। यह क्रम अनादि-निधन है। योग दर्शन में परिणाम की व्याख्या इस प्रकार है - चित्त त्रिगुणात्मक है। वह किसी भी अवस्था में रहे, क्रिया अनवरत चलती रहती है। क्रियाओं के द्वारा जो परिवर्तन चित्त में होता है, वही परिणाम है।[5]

परिणमन की सीमा

परिणमन में काल, स्वभाव, नियति, कर्म,यदृच्छा और पुरूषार्थ आदि अनेक तत्त्वों का योगदान रहता है। द्रव्य के स्वरूप, उसके उपादान तथा निमित्तमूलक कार्य-कारण व्यवस्था पर ध्यान दें तो विश्व में कुछ बातें नियत हैं, उनका अतिक्रमण संभव नहीं। जैसे–

1. विश्व में जितने सत् हैं उतने ही रहेगें। न कोई नया उत्पन्न होता है और न किसी का आत्यन्तिक विनाश।
2. कोई भी द्रव्य परिवर्तन के नियम का अतिक्रमण नहीं कर सकता।
3. किसी भी द्रव्य का द्रव्यान्तर में परिणमन नहीं होता। जैसे - चेतन अचेतन में और अचेतन चेतन में परिणत नहीं हो सकता।
4. पुद्गल परमाणु दो या दो से अधिक संयुक्त होकर स्कंध की रचना करते हैं।
5. सामग्री के अनुरूप ही द्रव्य की परिणति निश्चित है।

विज्ञान में परिणमन का सिद्धांत

इस संदर्भ में प्रसिद्ध विचारक कर्नल इंगर सोल का अभिमत मननीय है। उन्होंनें अपनी पुस्तक 'स्वतंत्र चिन्तन' में पदार्थ के संदर्भ में एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है उनके अनुसार पदार्थ के चार आधारस्तंभ हैं– [6]

1. पदार्थ का स्वरूप कभी नष्ट नहीं हो सकता।

2. गति और शक्ति का विनाश नहीं होता।

3. पदार्थ और गति पृथक् नहीं है। बिना गति के पदार्थ का अस्तित्व नहीं और पदार्थ के अभाव में गति नहीं है।

4. जिसका नाश नहीं, वह कभी पैदा नहीं हुआ और न होगा। जो अविनाशी है, वह अनुत्पन्न है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ और गति के साहचर्य में कहीं भी संदेह का अवकाश नहीं है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' में भौतिकवाद के आधुनिकतम स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है - 'जगत का प्रत्येक परिवर्तन जिन सीढ़ियों से गुजरता है, उन सीढ़ियों को वैज्ञानिक भौतिकवाद में त्रिपुटी की संज्ञा दी गई है। वह त्रिपुटी है– 1.विरोधी समागम, 2. गुणात्मक परिवर्तन, 3.प्रतिषेध का प्रतिषेध।

वस्तु के गर्भ में अनेक विरोधी शक्तियां है। इससे परिवर्तन के लिये सबसे अधिक आवश्यक गति पैदा होती है। फिर 'हीगेल की द्वंदवादी प्रक्रिया के बाद और प्रतिवाद के संघर्ष से नये गुण का आविर्भाव यही गुणात्मक परिवर्तन है। द्वंद्वात्मक की तीन अवस्थाएं है - वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis), संवाद (Sinthesis) ।

भारतीय दर्शन के वाद, प्रतिवाद एवं संवाद के परिणाम हैं - स्थिति, परिवर्तन और प्रतिफलन। प्रत्येक वस्तु की अपनी सत्ता है। उसकी एक प्रतिषेधात्मक अथवा परिवर्तनात्मक स्थिति आती है, तभी वह परिवर्तन के दौर से गुजरती है। जैसे; दूध एक स्थित्यात्मक सत्ता है। उसका प्रतिषेधात्मक परिवर्तन होता है और परिवर्तनजन्य दधि रूप है।

भौतिकवाद के उक्त मूल सिद्धांत का फलित है–

1. विश्व अनन्त स्वतंत्र मौलिक पदार्थों का समुदाय है।
2. मौलिक पदार्थ विरोधी शक्तियों का समागम है, जिससे उनमें स्वभावत: गति या परिवर्तन होता रहता है।
3. विश्व की संरचना, योजना और व्यवस्था उसके अपने निजी स्वभाव के कारण है। किसी के नियंत्रण से नहीं।
4. किसी सत् का न विनाश होता है, न असत् का उत्पाद।
5. जगत का प्रत्येक अणु-परमाणु प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परिवर्तन परिमाणात्मक और गुणात्मक उभय रूप है।
6. जगत का परिवर्तन - चक्र शाश्वत है।

भौतिकवादियों का यह प्रतिपादन, वस्तु स्थिति का चित्रण है। उनकी मान्यता के अनुसार वस्तु में स्वभाव से दो विरोधी शक्तियां पाई जाती हैं। इनसे पदार्थ को गति मिलती है। इस प्रकार भौतिकवादियों की विचारधारा जैन दर्शन के परिणामी नित्यवाद की अवधारणा के काफी निकट है। उन्होंनें भी द्रव्य की अविच्छिन्न धारा के रूप में ध्रौव्यत्व को स्वीकार किया है। कार्य -कारण प्रवाह के अनादि - अनन्त होने में भी उन्हें आपत्ति नहीं है। जिन विरोधी शक्तियों के समवाय की चर्चा द्वंद्ववाद के रूप में की गई है, वह द्रव्य में अवस्थिति उसका निजी स्वभाव हैं। उत्पाद - व्यय दोनों शक्तियां वस्तु स्वभाव में सहभावी बनकर काम कर रही है।

स्याद्वाद के अनुसार ऐसी कोई स्थिति नहीं होती, जिसके साथ उत्पाद - व्यय की अविच्छिन्न धारा न हो। प्रत्येक द्रव्य उभय-स्वभावी है। अस्तित्व जैसे द्रव्य का अनिवार्य घटक है, वैसे नास्तित्व भी है। दोनों मिलकर ही उसकी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की संचालन व्यवस्था उसके स्वरूप में निहित है।

विज्ञान के अनुसार अणु के केन्द्र में प्रोटोन और न्युट्रोन नामक कण तथा परिधि

में इलेक्ट्रोन हैं। ये सारे कण बाह्य निमित्तों को पाकर परिणत होते रहते हैं। इस परिवर्तन के अलावा कुछ स्वाभाविक परिणमन भी होता है। इससे अणु अन्य ग्यारह रूपान्तरणों से गुजरकर पुन: अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

इन सारी प्रक्रियाओं में अत्यल्प समय लगता है। विज्ञान ने उसे 'कण सेकेण्ड की संज्ञा दी है। एक सेकेण्ड का हजार महाशंखवां भाग 'कण सेकेण्ड कहलाता है। महाशंख की संख्या 1 पर 20 शून्य लगाने से बनती है। वहां हजार महाशंख में 1 पर 23 शून्य लगाना होता है। उदाहरण के लिए।

महाशंख - 100,000,000,000,000,000,000,

हजार महाशंख - 100, 000,000,000,000,000,000,000,

उक्त विवेचना से ज्ञात होता है कितने कम समय में प्रोटोन या न्युट्रोन ग्यारह बार परिणमन कर पुन: स्व स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसे अर्थपर्याय या सूक्ष्म क्रिया के संदर्भ में समझा जा सकता है। अर्थपर्याय की अवधि मात्र 'एक समय' है जो आवलिका का असंख्यातवां भाग मात्र है।

परिणमन का तारतम्य

परिणमन भी अनेक स्तरों पर होता है। वर्गीकृत रूप में उसके छह प्रकार हैं–

अनंतभाग हीन	अनंतभाग अधिक
असंख्यातभाग हीन	असंख्यातभाग अधिक
संख्यातभाग हीन	संख्यातभाग अधिक
संख्यातगुण हीन	संख्यातगुण अधिक
असंख्यातगुण हीन	असंख्यातगुण अधिक
अनंतगुण हीन	अनंतगुण अधिक[7]

इस 'षड्गुणहानि-वृद्धि' की प्रक्रिया से निकल कर अगुरूलघु गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप को सुरक्षित रखता है। कभी पर्याय का परिणमन इतना तीव्र होता है कि द्रव्य की पहचान भी कठिन होती है, कभी पर्याय का परिणमन इतना मंद गति से होता है कि पता ही नहीं चलता– पदार्थ बदला या नहीं। जो परिणमन अनादि है। कभी विलक्षणता या विसदृशता इसमें परिलक्षित नहीं भी होती उसे परिणमन कहने का कारण सत् का त्रयात्मक लक्षण है। सत् की अपरिहार्य मर्यादा का अतिक्रमण कोई भी द्रव्य

कैसे कर सकता है। अनन्तकाल के प्रत्येक क्षण में अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये प्रत्येक पदार्थ को परिणमन की प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है। परिणमन से गुजरने पर यह अनिवार्य नहीं है कि उसमें विसदृशता आये। सदृश परिणमन भी परिणमन ही है।

पाश्चात्य चिंतन में परिणमन का सिद्धांत

सृष्टि के विकास में एम्पीडोक्लीज ने चक्रीय प्रत्यावर्तन का सिद्धांत माना है। प्रेम और घृणा, संवाद और विग्रह इस प्रकार परस्पर विरोधी शक्तियां द्रव्यों के मिश्रण और पृथक्करण से संसार की विविध वस्तुओं की सृष्टि करती हैं। मूल रूप से ये शक्तियां भौतिक हैं। सभी आकर्षण और विकर्षण इन्हीं की देन हैं। इस प्रक्रिया का कहीं अंत नहीं।[8]

एम्पीडोक्लीज की तरह पाइथोगोरस ने पदार्थ मात्र को दस भागों में विभक्त किया है। निम्नोक्त विभाजन से स्पष्ट होता है कि विरोधी शक्तियां ही सृष्टि संरचना में हेतुभूत है। विभाजन इस प्रकार है–

1. सीमित (Limited)	असीमित (Unlimited)
2. विषम (Odd)	सम (Even)
3. एक (One)	अनेक (Many)
4. दक्षिण (Right)	वाम (Lift)
5. पुलिंग (Masculine)	स्त्रीलिंग (Feminine)
6. स्थिरता (Rest)	गति (Motion)
7. ऋजु (Limited)	वक्र (Crooked)
8. प्रकाश (Light)	अंधकार (Darkness)
9. शुभ (Good)	अशुभ (Evil)
10. वर्ग (Square)	त्रिभुज (Oblong)

पाश्चात्य जगत् में एनेग्जागोरस का सिद्धांत रहा न तो कुछ आता है, न कुछ जाता है।[9] वस्तु का कोई भी गुण अन्य गुण में संक्रांत नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि एनेग्जागोरस परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे। वस्तुत: ये निरपेक्ष स्थायित्व और निरपेक्ष परिवर्तन– दोनों के विरूद्ध थे। सापेक्ष परिवर्तन उन्हें मान्य था। एम्पीडोक्लीज के समान उन्होंनें भी कहा कि मूल द्रव्यों में रूपान्तरण नहीं होता। उनके मिश्रण और पृथक्करण से असंख्य वस्तुओं का उत्पादन संभव है।

एनेग्जागोरस के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु, स्वयं भी मूल तत्त्व न होकर मूल द्रव्यों के मिश्रण से निर्मित तत्त्व हैं।

यूनान के दार्शनिक हेराक्लाइट्स के विचारों में सब कुछ प्रवाह मात्र है। जल में लहरें समान प्रतीत होने पर भी प्रतिक्षण पूर्व लहरों का तिरोभाव और नई लहरों का आविर्भाव हो रहा है। प्रत्येक वस्तु उस क्षण में है भी और नहीं भी।

लाइब्नीज के अभिमत से दृश्य-पदार्थ का मूल परमाणु है। मौलिक कण समुदित होकर पदार्थ का निर्माण करते हैं। बाह्य निमित्त या निश्चित कालावधि के बाद एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में रूपान्तरित हो जाता है।

आइंस्टीन ने परमाणु में प्रमुख रूप से तीन तत्त्व स्वीकार किये है। परमाणु गतिशील होते हैं। वे तत्त्व है– 1.गति, 2.कंपन, 3.उल्लास। आइंस्टीन के अनुसार इनका सापेक्ष सम्बन्ध ही सत्य है।[10]

पदार्थ की विविधता और परिणमन

पदार्थ की विविधता का कारण परिणमन की विविधता है। पदार्थ का स्वरूप ठोस है। भौतिक विज्ञान की इस मान्यता से क्वाटम सिद्धांत सहमत नहीं। उसके अनुसार ब्रह्माण्ड में व्याप्त छोटे-छोटे कण कभी कण रूप में दिखाई देते हैं तो कभी ठोस रूप में। एक ही प्रकार के कण भी सदा एक समान व्यवहार नहीं करते। भिन्न-भिन्न समय में उनका भिन्न-भिन्न व्यवहार देखा जाता है। इसके अलावा कुछ परिणमन सांयोगिक होते हैं। स्वाभाविक दशा में जो गुणधर्म नहीं दिखायें देते हैं, वे संयुक्त दशा में प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ– भार एक ऐसा गुण है जो पृथक्-पृथक् परमाणुओं में दिखाई नहीं देता किन्तु संयुक्त दशा में दिखाई देता है। परमाणु और पुद्गल के सूक्ष्म स्कंध भारहीन होते हैं। उन्ही परमाणुओं तथा पुद्गल स्कंधों का जब स्थूल परिणमन होता है तब उनमें भार की अवस्था उत्पन्न होती है। इस प्रकार परिणमन की विविधता पदार्थ जगत् की विविधता का मूल कारण है।

परिणमन के प्रकार

पदार्थ का परिणमन स्वाभाविक और वैभाविक दो प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिणमन क्षणवर्ती, अव्यक्त और सूक्ष्म होता है। जल और तरंग की भांति पदार्थ और स्वाभाविक परिणमन पृथक् नहीं है। यह सार्वभौम है। वैभाविक परिणमन कादाचित्क और दीर्घकालिक तथा अल्पकालिक दोनों हो सकता है। मुक्त आत्माओं और धर्मादि

द्रव्यों में सिर्फ स्वाभाविक परिणमन है। संसारस्थ जीवों तथा पुद्गलों में परिणमन के दोनों प्रकार देखे जा सकते है। जीव और पुद्गल के परिणमन में अन्तर यह है कि जीव का एक शुद्ध परिणमन होने पर पुन: अशुद्धता नहीं आती जबकि पुद्गल अपनी शुद्ध दशा परमाणु रूप में पहुंचकर भी पुन: अशुद्ध (स्कन्ध) दशा में चले जाते हैं। पुद्गल में चयापचय की क्रिया चलती रहती है।

गति बनाम क्रिया

आकाश प्रदेशों में जीव और पुद्गल का गमन रूप परिणाम गति कहलाती है। प्रकंपन, दोलन आदि गतिक्रिया के उदाहरण हैं। किन्तु गति के लिये क्रिया शब्द का व्यवहार भी होता है।

गति केवल देशान्तर रूप में ही नहीं रूपान्तरण, कंपन आदि रूपों में हो सकती है। भगवती में परमाणु की गति के प्रकारों का विश्लेषण है। एजन, व्येजन ये सब परमाणु की गति की विविध अवस्थाएं है। एजन से उदीरणा गति की सात अवस्थाएं हैं।

गौतम– भंते ! क्या परमाणु - पुद्गल एजन, व्येजन, चलन, स्पंदन, प्रकंपन, क्षोभ, उदीरणा करता है।[11]

महावीर– गौतम ! परमाणु कभी एजन करता है, कभी व्येजन करता है, कभी चलायमान होता है, कभी स्पंदन करता है, कभी क्षुब्ध होता है, कभी गति में प्रेरित होता है आदि। यह शब्दावली इस तथ्य की सूचक है कि परमाणु की गति विविध आयामी है। यह गति सरल-कम्पन, सरल स्थानांतरण, जटिल-कम्पन, जटिल-स्थानांतरण, दोलन, प्रसारण, ग्रहण, घूर्णन, घर्षण, फिरकन (Spin) तथा तरंग-प्रसार आदि रूपों में हो सकती है। ये शब्द अन्य अनेक प्रकार की गति की संभावना के सूचक हैं।

परिणमन की मर्यादा

आगम साहित्य में किसी भी परिणमन की एक समय और अधिकतम असंख्येय काल निर्दिष्ट है।[12] न्यूनतम एवं अधिकतम काल सीमा के बीच जितना काल है, उतने विकल्प हो सकते हैं। परिणमन तीन स्तरों पर होता है -गुणधर्म, पर्याय और अवस्था। अवस्थागत परिणमन की अपनी मर्यादा है। उदाहरणार्थ - स्कंध और परमाणु प्रवाह की अपेक्षा अनादि, अपर्यवसित है। किन्तु अवस्था विशेष की दृष्टि से सादि-सपर्यवसित भी है। परमाणुओं से स्कंध, स्कंध से पुन: परमाणु दशा में पहुंच जाता है। परमाणु, परमाणु और स्कंध, स्कंध रूप में कम से कम एक समय अधिकतम असंख्यात काल भी रह

सकते हैं। इसके पश्चात् बदलना अनिवार्य है। यह काल सापेक्ष स्थिति है। यह असंख्यात समय से पूर्व किसी भी समय बदल सकता है किन्तु असंख्यात समय पश्चात् तो निश्चित ही बदलना है।

इसी प्रकार किसी क्षेत्र में अवस्थान रूप परिणमन की भी सीमा है। एक परमाणु या स्कंध जिस आकाश प्रदेश में है, किसी कारण से चलित हो तो पुनः उसी आकाश प्रदेश पर आने में जघन्य एक समय, उत्कृष्टतः अनन्तकाल भी बीत जाता है। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में रहते हैं, स्कंध के लिये यह प्रतिबंध नहीं। वे एक, दो, संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में भी रह सकते हैं।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पुद्गल के गुण हैं। काला वर्ण एक गुण (Quality) है, उसका परिणमन भी अनन्त रूपों में हो सकता है। अनंत गुणा काला परमाणु एक गुणा काले रंग में तथा एक गुणा काला परमाणु अनंतगुण काले रंग में परिणत हो सकता है। इस प्रकार वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर, स्पर्श से स्पर्शान्तर होना सम्मत है।

संसारी जीवों में जो अवस्थाएं बनती है, वे पर्याय है। वे पौद्गलिक पर्यायें भी व्यवहार से जीव की पर्याय मानी जाती है। भारतीय दर्शन में सांख्य आदि परिणामवादी हैं। न्यायदर्शन को यह स्वीकार्य नहीं है। धर्म और धर्मों का अभेद जिसे मान्य है, वे परिणामवादी दर्शन है। पूर्व पर्याय का विनाश, उत्तर पर्याय का उत्पाद ही परिणामवाद है।[13]

परिणमन

परिणमन के दो प्रकार हैं -1. जीव परिणाम 2. अजीव परिणाम। परिणमन के आधारभूत द्रव्य जीव और अजीव दो ही होने से अन्य सभी प्रकार के परिणमन इन दो विभागों में समाहित हो जाते हैं।

जीव परिणमन

जीव परिणाम के दस प्रकार हैं– 1. गति, 2. इन्द्रिय, 3. कषाय, 4. लेश्या, 5. योग, 6. उपयोग, 7. ज्ञान, 8. दर्शन, 9. चारित्र, 10. वेद।

1.गति परिणाम– गति का अर्थ जीव का एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना हैं। मृत्यु के पश्चात् चार स्थितियां संभव है - नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इन रूपों में उत्पन्न होना गति रूप परिणमन है।

2. इन्द्रिय परिणाम– एक निश्चित विषय का ज्ञान करने वाली चेतना इन्द्रिय कहलाती है। ज्ञान आत्मा का धर्म है इसलिये आत्मा और ज्ञान दो नहीं हैं। बद्धावस्था में आत्मा का विषय के साथ सीधा सम्पर्क नहीं होने से ज्ञान-प्राप्ति में कठिनाई होती है। उस समय ज्ञान - प्राप्ति का माध्यम बनता है– इन्द्रिय। इन्द्रिय रूप परिणमन दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त प्राप्त होता हैं। इन्द्रियां पांच हैं–

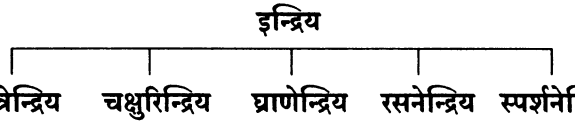

3. कषाय परिणाम– कषाय आत्मा की एक उत्तप्त अवस्था है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। जब तक मोह से मुक्ति नहीं होती है तब तक क्रोधादि रूप में परिणमन होता रहता है। इसी को कषाय परिणाम कहा जाता है। इसके मुख्य चार प्रकार हैं -क्रोध, मान, माया और लोभ।

4. लेश्या परिणाम– तैजस् शरीर के साथ काम करने वाली चेतना अथवा भावधारा

और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है। योग स्थूल स्पंदन है, यह वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम तथा नामकर्म के उदय से होता है। योग रूप परिणमन ही योग परिणाम है।

6. उपयोग परिणाम– यह जैनों का परिभाषिक शब्द है। 'उवओगलक्खणो जीवो कहकर भगवती आदि में उपयोग को जीव का लक्षण माना गया है। ज्ञान और दर्शन रूप चेतना का व्यापार ही उपयोग है। साकार-अनाकार (ज्ञान-दर्शन) उपयोग रूप परिणमन उपयोग परिणाम है।

7. ज्ञान परिणाम– ज्ञान का अर्थ है– जानना। यह जीव-अजीव का विभाजक तत्त्व है। संसार के सभी जीवों में न्यूनतम ज्ञान की मात्रा अवश्य होती है। ज्ञान के 5 भेद है। मतिज्ञानादि रूप परिणति ज्ञान परिणाम है।

8. दर्शन परिणाम– दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धा। सम्यक् श्रद्धा रूप परिणमन दर्शन परिणाम है।

9. चारित्र परिणाम– चारित्र मोहनीय कर्म के विलय से चारित्र प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं। उनमें अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और सम्यकत्व

मोहनीय, मिश्रमोहनीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय का सम्बन्ध सम्यक्त्व से है। चारित्र का सम्बन्ध है सोलह कषाय और नोकषाय से। कषाय-नोकषाय का जितना-जितना क्षयोपशम, उपशम और क्षय होता है, चारित्र की उज्ज्वलता उतनी ही बढ़ती जाती है। चारित्र के 5 प्रकार हैं– 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापनीय 3. परिहारविशुद्धि 4. सूक्ष्म-संपराय 5. यथाख्यात। चारित्र रूप परिणति चारित्र परिणाम है।

10. वेद परिणाम– यह नोकषाय का एक प्रकार है। वेद अर्थात् विकार। काम-वासना का जागृत होना वेद कहलाता है। वेद का अस्तित्व नौवें गुणस्थान तक है। स्त्रीवेद, पुरूष वेद और नपुंसक वेद। स्त्री की पुरूषाभिलाषा, पुरूष की स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा और नपुंसक की उभयमुखी अभिलाषा वेद है। जीवों का वेद रूप परिणमन वेद परिणाम है।

अजीव परिणमन

परिणमन जीव-अजीव दोनों में घटित होता है। जीव की तरह अजीव परिणमन के भी दस प्रकार हैं– बंध, गति, संस्थान, भेद, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरु, लघु, शब्द।

(1) बंध– बंध-श्लेष भी पुद्गल का परिणमन है। 'संश्लेष: बंध:' अर्थात् बंध का अर्थ संश्लेष, मिलना है। अवयवों का अवयवी के रूप में परिणत होना ही बंध है।[14]

संयोग और बंध में अन्तर है। संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थिति होती है बंध में एकत्व होता है। बन्ध में पदार्थ का स्निग्धत्व एवं रूक्षत्वगुण निमित्त बनता है।[15] इन गुणों की जघन्य मात्रा से बंध नहीं होता।[16] बंध के दो प्रकार हैं– स्वाभाविक एवं प्रायोगिक।[17] स्वभाविक बंध भी दो प्रकार का है - सादि एवं अनादि।[18]

अनादिबंध– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय के प्रदेशों का परस्पर सम्बन्ध अनादिकालीन है।[19] ये तीनों अस्तिकाय व्यापक हैं। प्रत्येक अपने स्थान पर अवस्थित हैं। उनका संकोच-विस्तार नहीं होता। इनके प्रदेशों का परस्पर देशबंध है, सर्वबंध नहीं।[20]

सादिबंध– सादि विस्रसा बंध के तीन प्रकार हैं -1 बंधन प्रत्ययिक, 2. भाजन प्रत्ययिक 3. परिणाम प्रत्ययिक।

बंधन प्रत्ययिक– यह स्कंध निर्माण का सिद्धांत है। दो परमाणु मिलकर द्विप्रदेशी स्कंध, तीन परमाणु मिलकर त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त परमाणु मिलकर अनन्त

प्रदेशी स्कंध की रचना करते हैं। इस बंधन के पीछे तीन हेतुओं का उल्लेख है– 1. विमात्र स्निग्धता 2. विमात्र रूक्षता 3.विमात्र स्निग्ध-रूक्षता। प्रथम दो हेतु सदृश बंध के नियम को सूचित करते हैं। तीसरा विसदृश बंध का प्रर्त क है। भगवती में लिखा है–

सम निद्धयाए बंधो न होइ, समलुक्खयाए वि न होइ।
वेमायनिद्ध लुक्खत्तणेणं बंधो उ खंधाणं।।[20(ख)]

प्रज्ञापना में विसदृश और सदृश– दोनों प्रकार के बंधनों का निर्देश है।[21] स्निग्ध रूक्ष गुणों में दो मात्रा का अन्तर होने पर उनमें बंध अवश्यंभावी है। जैसा कि कहा गया है– 'द्वयाधिकादिगुणानान्तु[22] 'गुणसाम्ये सदृशानाम्[23] जिन परमाणुओं या स्कंधों में स्निग्ध या रूक्ष गुण समान मात्रा में होते हैं उनमें बंध संभव नहीं हैं। स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओं के बंध प्रक्रिया यह है– स्निग्ध आदि परमाणु का बंध रूक्ष परमाणुओं के साथ जघन्य मात्रा को छोड़कर होता है। जघन्य का अर्थ एकमात्रा है। जघन्य मात्रा वाले इस प्रकार रूक्ष और स्निग्ध परमाणु को छोड़कर, दो मात्रा स्निग्ध परमाणु का दो मात्रा वाले रूक्ष के साथ बंध होता है। विरोधी स्वभाव वाले परमाणु स्कंध, जिनमें दो या उससे अधिक स्निग्धता या रूक्षता होती है, उनमें बन्ध संभव है। स्निग्ध-रूक्ष गुण को विज्ञान की भाषा में घन विद्युत् और ऋण विद्युत् कहा जा सकता है। प्रोटोन का क्वार्क स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और भारी ऋणाणु रूक्ष के साथ रूक्ष के बंधन की पुष्टि करता हैं। इस प्रकार बन्ध के हेतुभूत दो गुण हैं - स्निग्धता और रूक्षता। गुणों की इन मात्रा में तरतमता होने पर परमाणु और स्कंधों के अनन्त-अनन्त प्रकार हो जाते हैं। बंध की प्रक्रिया में स्निग्ध या रूक्ष में जो गुण अधिक मात्रा में होगा। नया स्कंध उसी गुण में परिणत हो जाएगा। जैसे एक स्कंध में 21 मात्रा स्निग्ध गुण की है और दूसरे स्कंध में 19 मात्रा रूक्ष गुण की है तो दोनों का संयोग होने पर नया स्कंध स्निग्ध गुण युक्त होगा। स्वतंत्र परमाणुओं में गुण एवं गुणों की मात्रा में परिवर्तन होता रहता है। उसी प्रकार स्कंधों में गुण एवं गुणों की मात्रा में भी परिवर्तन संभव है। इन सारे परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप पुद्गल जगत में पर्यायों का अकल्पित रूपान्तरण निश्चित है। विज्ञान के अनुसार भी यदि किसी परमाणु में से ऋणाणु (इलेक्ट्रोन) निकाल दिया जाये तो वह घन विद्युत आवेशित और एक ऋणाणु जोड़ दिया जाये तो वह ऋण विद्युत आवेशित हो जाता है।

जैन तत्वज्ञ यही कहते है, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, दो से लेकर अनन्त गुणांशों की तरतमता से बंध होता है। प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन और भगवती जोड़ के अनुसार बन्ध की शर्ते निम्नलिखित चार्ट से समझी जा सकती हैं–

क्रमांक	गुणांश	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य +एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्य +द्वयाधिक	है	नहीं
4.	जघन्य +त्र्याधिक	है	नहीं
5.	जघन्येतर +समजघन्येतर	है	है
6.	जघन्येतर + एकाधिकतर	है	है
7.	जघन्येतर + द्वयधिकतर	है	है
8.	जघन्येतर + त्र्यादि अधिकतर	है	है

तत्वार्थ सूत्र के आधार पर बंध की शर्ते निम्नानुसार हैं–

क्रमांक	गुणांश	सदृश	विसदृश
1.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
2.	जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
3.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
4.	जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
5.	जघन्येतर + द्वयधिक जघन्येतर	है	है
6.	जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

भाजन-प्रत्यनिक

भाजन का अर्थ है– आधार।[24] किसी भाजन में रखी हुई वस्तु का स्वरूप दीर्घ काल में बदल जाता है, उसे भाजन प्रत्ययिक बंध कहते हैं। जैसे लम्बे समय से रखी हुई पुरानी मदिरा अपने तरल रूप को छोड़ गाढ़ी बन जाती है। पुराना गुड़, पुराने तंदुल भी पिण्डीभूत हो जाते हैं।[25]

परिणाम प्रत्ययिक बंध

परिणाम का अर्थ है - रूपान्तरण। परमाणु स्कंधों का बादल आदि अनेक रूपों में परिणमन होता है, वह परिणाम प्रत्ययिक बंध है।

ये तीनों बंध पौद्गलिक हैं। इनमें बंध प्रत्ययिक प्रमुख है। तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति में विस्रसा बंध को सादि एवं अनादि उभयरूप माना है। अनादि विस्रसा बंध में धर्म, अधर्म, आकाश का उल्लेख है।[26] सादि परिणमन में कार्य-कारण की संभावना रहती है। सादि विस्रसा परिणमन का कालमान भिन्न-भिन्न है–

	बन्ध	जघन्य	उत्कृष्ट
1.	बंधन प्रत्ययिक	एक समय	असंख्यकाल
2.	भाजन प्रत्ययिक	अन्तर्मुहूर्त	संख्येयकाल
3.	परिणाम प्रत्ययिक	एक समय	छह मास

पुद्गल द्रव्य सक्रिय है। सक्रियता में संयुक्त-वियुक्त की क्रिया स्वाभाविक है। किसी भी क्रिया से नई उत्पत्ति नहीं, केवल पदार्थ का रूपान्तरण मात्र होता है। विज्ञान की दृष्टि से भी पदार्थ की मौलिकता कभी नष्ट नहीं होती, केवल रूपान्तरण होता है। जैसे - मोमबत्ती को जलाने पर कुछ कार्बन उसके नीचे मौलिक रूप में एकत्रित हो जाता है। कुछ वाष्प रूप में बदल कर हवा में चला जाता है। यदि कांच का पात्र उस पर रख दिया तो वाष्प में परिवर्तित कार्बन पुनः प्राप्त हो जाता है।

(2) गति– गमन रूप परिणमन गति परिणाम है। वह दो प्रकार का है–स्पृशद् गति परिणाम और अस्पृशद् गति परिणाम।

स्पृशद् गति– बीच में आने वाली दूसरी वस्तुओं का स्पर्श करते हुए जो गति होती है, उसे स्पृशद् गति कहलाते है। जैसे - जल पर प्रयत्नपूर्वक तिरछी फैकी हुई वस्तु बीच-बीच में जल का स्पर्श करती हुई गति करती है, यह उस वस्तु की स्पृशद् गति परिणाम है।

अस्पृशद् गति– आकाश प्रदेशों का स्पर्श न करते हुए गति का होना अस्पृशद् गति परिणाम है। जैसे– मुक्त जीवों की या परमाणुं की तीव्रतम गति। प्रकारान्तर से गति के अन्य दो भेद भी हैं– दीर्घगति परिणाम और ह्रस्वगति परिणाम। अति दूरवर्ती देश की प्राप्ति का कारणभूत जो परिणाम है, वह दीर्घ गति और निकटवर्ती देश की प्राप्ति का कारणभूत जो परिणाम है, वह ह्रस्वगति परिणाम है।

(3) संस्थान– आकृतिः संस्थानम्।[27] संस्थान का अर्थ आकृति है। पौद्गलिक रचना विशेष को संस्थान कहते हैं। यह भी पुद्गलों का आकार विशेष में परिणमन है।

संस्थान के अनन्त भेद हो सकते हैं। संक्षिप्त में इसके दो प्रकार हैं– इत्थं संस्थान, अनित्थं संस्थान।

इत्थं संस्थान– इत्थं अर्थात् जिसका निश्चित आकार है, वह इत्थं संस्थान है। उसके मुख्य पांच प्रकार है जिन्हें निम्नांकित चित्र में दर्शाया गया है–

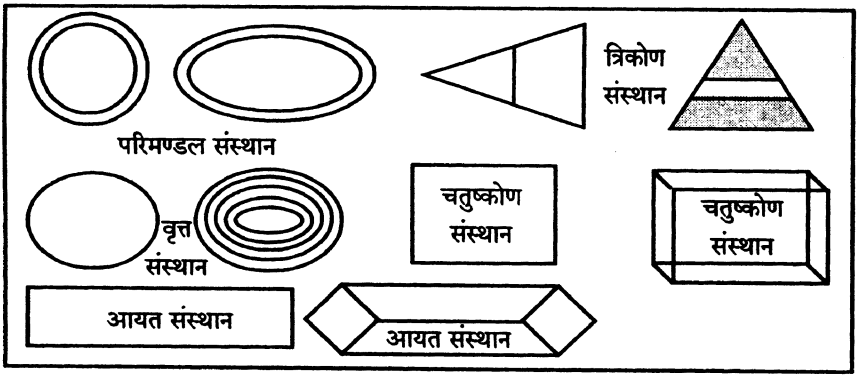

अनित्थं संस्थान– जिसका कोई निश्चित आकार नहीं। उसे अनगढ़ आकार भी कहा जा सकता है।[28] जीवों के संदर्भ में भी संस्थान की चर्चा मिलती है। वहां संस्थान का अर्थ अस्थि-रचना विशेष है। उसके छः प्रकार हैं। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

(4) भेद– 'विश्लेषः भेदः' भेद का अर्थ है– विश्लेष।[29] स्कंध का अनेक स्कंधों में अथवा परमाणुओं में विभक्त हो जाना भेद है। यह विघटन वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से दो प्रकार का है।

स्वाभाविक विघटन वैस्रसिक है। विज्ञान जगत् में रेडियो धर्मी तत्त्वों में से विकिरण का उत्सर्जन भी वैस्रसिक भेद का उदाहरण हैं। वायु, वर्षा, जल-प्रवाह आदि नैसर्गिक परिबलों द्वारा होने वाला विघटन भी इस कोटि में समाविष्ट है। प्रयत्न से किसी वस्तु या स्कन्ध का विभाजन प्रायोगिक है। निमित्त की विविधताओं के कारण भेद के पांच प्रकार किये गये हैं[30] तत्त्वार्थ सूत्र की टीका 'सर्वार्थ सिद्धि' में भेद के छः प्रकार भी मिलते हैं–

(1) उत्कर– टूट-टूट कर ऊंचा उठे, वह उत्कर कहलाता है। जैसे मूंग की फली का टूटना।

(2) चूर्ण– टूटने पर चूर्ण हो जाना चूर्ण कहलाता है। जैसे गेहूं आदि का आटा।

(3) खण्ड-तोड़ने से छोटे- छोटे टुकडे होना, खण्ड कहलाता है। जैसे पत्थर, लोहे आदि के टुकड़े।

(4) प्रतर -परत दर परत उतरने को प्रतर कहा जाता है, जैसे अभ्रक के दल।

(5) अनुतटिका-टूटने के साथ वस्तु में दरार का पड़ जाना अनुतटिका है, जैसे तालाब की दरारें।

स्कंध की प्रक्रिया

' भेदसंघातेभ्य:' और ' भेदादणु:'[31] सूत्रों से स्पष्ट है कि स्कंधों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात दोनों से होती है। कुछ परमाणुओं का एक स्कंध से पृथक् होना भेद है। दो स्कंधों या परमाणुओं का संयोग संघात है। इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ होना भेद-संघात है।

दो परमाणु पुद्गल के संयोग से द्विप्रदेशी स्कंध बनता है और द्विप्रदेशी स्कंध पृथक् होकर दो परमाणु बन जाते हैं। तीन परमाणु का संयोग त्रिप्रदेशी स्कंध होने पर उसके दो विकल्प बनते है– अलग-अलग तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और द्विप्रदेशी स्कंध। इसी प्रकार चार परमाणु के मिलने से चतु:प्रदेशी स्कंध बनता है, उसके विभाजन के चार विकल्प हैं– एक परमाणु और त्रिप्रदेशी स्कंध। दो द्विप्रदेशी स्कंध। दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध। चारों पृथक् - पृथक् परमाणु।

(5) स्पर्श– स्पर्श भौतिक पदार्थों का अनिवार्य गुण है। स्पर्श के आठ प्रकार हैं– शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, गुरु-लघु और मृदु-कर्कश।[32] स्निग्ध और रूक्ष तथा शीत और उष्ण गुणों की मात्रा में तारतम्य होने पर शेष चार स्पर्शों की उत्पत्ति होती है।

शीत-उष्ण– विज्ञान की भाषा में ये तापमान के वाचक हैं। तापमान पदार्थों में भी पाया जाता है। पदार्थों का ठोस, द्रव या गैस रूप धारण करना तापमान पर निर्भर है। तापमान शून्य डिग्री से करोड़ो डिग्री उपर तथा कई डिग्री नीचे तक पाया जाता है।

स्निग्ध-रूक्ष– स्निग्ध और रूक्ष ये दो संयोजक शक्तियां हैं। आधुनिक विज्ञान की भाषा में घन आवेश और ऋण आवेश की संज्ञा दी गई है। घन (+) और ऋण (-) विद्युत् शक्ति परमाणु से लेकर स्थूल द्रव्य में सर्वत्र विद्यमान है। वैज्ञानिक अभिमत से ब्रह्माण्ड में प्रत्येक कण दूसरे कणों को आकर्षित करते रहते हैं, इसे गुरूत्वाकर्षण कहा

है। चुम्बकत्व किसी भी अणु का स्वाभाविक गुण है। अणु-परमाणु में यह चुम्बकीय शक्ति उसके भीतर विद्युत आवेशित कणों की गति के कारण है।

गुरू-लघु– गुरू-लघु भार और भारहीनता के सूचक गुण हैं। विज्ञान में हल्केपन-भारीपन को द्रव्यमान कहते हैं। स्थूल पदार्थों में भार या संहति होती है। कुछ ऐसे पदार्थ भी है जिनमें भार नहीं होता। पारा, सोना भारी द्रव्य हैं। जबकि ऑक्सीजन, हाईड्रोजन जैसी गैसें हवा से भी हल्की हैं। लीथियम धातु सभी ठोस पदार्थों में अधिक हल्की मानी जाती है। जहां एक घन फुट अल्मुनियम का भार 169 पौंड है, वहां एक घन फुट लीथियम का भार केवल 33 पौंड है। आधुनिक विज्ञान ने भी इस तथ्य को उजागर किया है कि स्थूल से सूक्ष्म की और प्रस्थित परमाणु के छोटे-छोटे कण भार आदि गुणों से रहित हो जाते हैं। जैसे - प्रोटोन, न्यूट्रॉन आदि। यहां लगता है जैन दर्शन और विज्ञान शब्द भेद से एक ही तथ्य का निरूपण कर रहे हैं।

समासीकरण और व्यायतीकरण भी उसकी मौलिक विशेषता है। संकोच - विस्तार गुण के कारण ही कभी-कभी थोड़े से परमाणु विस्तृत आकाश खण्ड को घेर लेते हैं तो कभी वे ही परमाणु घनीभूत होकर बहुत छोटे से आकाश प्रदेश में समा जाते हैं। यह क्रमशः उनका व्यायतीकरण और समासीकरण है। असंख्यात प्रदेश वाले लोक में अनन्तानंत पुद्गल परमाणु रहे हैं? सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण ये परमाणु स्कंध निर्विरोध रह सकते हैं।

मृदु-कर्कश

कोमलता और कठोरता भी पुद्गल के परिणमन हैं। वैज्ञानिकों ने परमाणुओं की सूक्ष्म परिणति को मान्यता दी है। उनके अनुसार पृथ्वी के परमाणु यदि सघनता धारण करे तो वे बच्चे के खेलने वाली छोटी सी गेंद के समान बन जाये। सबसे छोटे तारे के एक क्युबिक इंच में 16740 मन भार आंका गया। वह घनीभूत होकर छोटे से आकाश देश में समा सकता है।

परमाणु अति सूक्ष्म है। इस संदर्भ में अनेक संवादी तथ्य सामने आये हैं, जैसे– बालु के छोटे से कण में दस पद्म से अधिक परमाणु हैं। एक पिन के सिरे में 55,000,000,000,000,000,000 परमाणु समाविष्ट हो जाते हैं। सोडावाटर को गिलास में डालने पर जो छोटी-छोटी बूंदें निकलती है उनमें से एक बूंद के परमाणु को गिनने के लिये संसार के तीन अरब व्यक्तियों को बिठाया जाये और वे प्रति मिनिट 300

की रफ्तार से अनवरत गणना करे तो उस बूंद के समस्त परमाणुओं की संख्या को समाप्त करने में 4 महीने लग सकते हैं।[33] विज्ञान के नवीन अन्वेषणों से हाइड्रोजन के परमाणु की रचना पर विचार किया गया है। उसका व्यास 1/200,000,000 इंच अर्थात् 1 इंच का करोडवां अंश है। उसका समूचा भार 164/100,000,000,000, 000, 000,000,000,0 ग्राम हैं। हाइड्रोजन परमाणु के ऋणाणु और धनाणु का स्वरूप भी इसी प्रकार है– ऋणाणु (इलेक्ट्रोन) व्यास् 1/500,000,000,000,0 इंच अर्थात् इंच का 50 खरब वां भाग है। भार - हाईड्रोजन परमाणु का 1/2000 वां। धनाणु का - व्यास-लगभग ऋणाणु से दस गुना अधिक भार 1/64100, 000,000,000, 000,000,000,000,0 ग्राम है।[34]

रस

पुद्गल का रस परिणमन पांच प्रकार का है - तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर।[35] जीभ पर करीब 9 हजार स्वाद- कलिकाएं होती है। अवस्था बढ़ने के साथ उनकी संख्या कम हो जाती है। मुंह में वस्तु रखते ही सभी कलिकाएं एक साथ प्रभावित नहीं होती। उनकी अपनी अलग व्यवस्था है। मीठे का अनुभव जीभ के अग्रभाग पर स्थित कलिकाओं से होता है। कड़वे का पिछले भाग से। खट्टे का अनुभव जीभ के दोनों पार्श्ववर्ती कलिकाओं से अनुभव होता है। नमकीन का स्वाद सभी कलिकाओं से सम्बन्धित है। स्वाद की प्रक्रिया बड़ी जटिल है। इन संवेदनाओं का कोई निश्चित नियम नहीं। कभी-कभी उनमें परिवर्तन भी देखा जाता है। एक स्थान से अनेक एवं अनेक स्थानों से एक स्वाद का भी ग्रहण होता है।

वैज्ञानिकों ने इस तथ्य को मान्य किया है कि इन्द्रिय-विषयों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। स्वाद भी इसका अपवाद नहीं। स्वाद में ध्वनि, ताप, रूप, रंग, गंध, स्पर्श आदि के संवेदन का पूरा योग है। परिपार्श्व में तीव्र कोलाहल, रोने-चीखने की आवाज या अधिक शोर की आवाज हो तो स्वाद में अन्तर आ जाता है। विश्व में असंख्य प्रकार के रस हैं। जैन दर्शन में मूल रसों के रूप में पांच को मान्यता देकर असंख्य प्रकारों का पांच में समावेश किया गया हैं।

गंध

जैन दर्शन में गंध को वर्ण के समान ही पुद्गल का परिणमन माना है। वर्ण की तरह गंध का भी रूपान्तरण संभव है। वैज्ञानिक जगत् में कोलतार जैसी वस्तु से सुगंध के

घटक प्राप्त कर उन्हें वाञ्छित रूप से मिश्रित करके अनेक उच्चस्तरीय सुगंध बनाने में सफलता प्राप्त की गई है।

प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ में गंध अवश्य पाई जाती है। पृथ्वी, जल, हवा, वनस्पति आदि में भी गंध पाई जाती है। अग्नि की गंध नासिका द्वारा भले ग्राह्य न हो किन्तु गंध वाहक यंत्र का आविष्कार हुआ है जो गंध को लक्ष्य भी करता है और प्रेषित भी। यह यंत्र नासिका की अपेक्षा अधिक संवेदनशील है।

वर्ण

वर्ण भी पदार्थ का गुण हैं। वर्ण पांच हैं - कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत। वैज्ञानिकों ने इन्हें प्रयोगों से सिद्ध किया है कि किसी पदार्थ को गर्म करने से उसका तापमान बढ़ता जाता है। सबसे प्रथम वह वस्तु ताप विकिरण करती है तो 500^{C} तक इसका रूप नहीं होता इसलिये वह काली ही दिखाई देती है। उसके बाद कुछ परिवर्तन होता है 700^{C} पर लाल, 1200^{C} पर पीला और 1500^{C} पर सफेद रंग की बन जाती है। अधिक तापमान से अन्त में नीला रंग प्राप्त होता है। तात्पर्य की भाषा में पांचों वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण है जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों पर आर्विभूत हो सकते हैं। इसलिये इन्हें पुद्गल का मूल गुण माना गया है। 1859 में वैज्ञानिक किरचोय ने वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के विश्लेषण की खोज की। शोध का निष्कर्ष यह है कि किसी पदार्थ से निकलने वाला या उसके द्वारा ग्रहण किया जानेवाला वर्णक्रम उस पदार्थ की प्रकृति पर निर्भर करता है।[36]

जैन दर्शन के अनुसार वर्ण के अनन्त भेद-प्रभेद हैं। एक वर्ण में भी न्युनाधिकता के आधार पर अनेक प्रकार हो जाते हैं। आधुनिक विज्ञान ने दस लाख वर्ण खोजे हैं तथा सौरवर्ण पटल के वर्णों का तरंग प्रमाणों की विभिन्न अवस्थितियों की दृष्टि से चिंतन करें तो तरंगें अनन्त हैं और वर्ण भी अनन्त हैं। क्योंकि यदि प्रकाश तरंग प्रमाण में दूसरी प्रकाश तरंग से अनन्तवें भाग हीनाधिक हो तो वे दो असमान वर्णों की द्योतक होगी। इस प्रकाश वर्णों की संख्या अनन्त हो जाती है। जितने पर्याय उतने वर्ण।

शब्द

एक स्कंध के साथ दूसरे स्कंध के टकराने या स्कन्ध के टूटने से उत्पन्न ध्वनि रूप परिणाम शब्द है।[37] उदाहरणार्थ कमरे या खिड़की के दरवाजे बंद करते है तो आवाज होती है। दो कपाटों का परस्पर संघात होता है। इसी प्रकार दरवाजे एक दूसरे से अलग होते है, तब भी आवाज होती है। जब भी दो वस्तुओं का संघात या भेद होता है, शब्द

या ध्वनि अवश्य होती है। वैशेषिक शब्द को पुद्गल की पर्याय नहीं मानते। वे इसे आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं। इससे विपरीत सांख्य दर्शन शब्द-तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति मानता है। जैन दर्शन की मान्यता इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। उसका मन्तव्य है कि शब्द पौद्गलिक है। वह इन्द्रिय का विषय बनता है। अपौद्गलिक आकाश पौद्गलिक शब्द को पैदा नहीं कर सकता और न पौद्गलिक शब्द अपौद्गलिक आकाश का गुण हो सकता है। शब्द पुद्गल है यह विज्ञान सम्मत है। इसके अलावा निम्नोक्त आधारों पर भी शब्द को आकाश का गुण मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

(1) आकाश अमूर्त्त है, शब्द मूर्त। अमूर्त्तिक द्रव्य का गुण अमूर्त ही होगा, मूर्त नहीं।

(2) शब्द टकराता है। प्रतिध्वनि होती है। वह अमूर्त आकाश का गुण हो तो न टकरायेगा, न प्रतिध्वनि ही होगी।

(3) शब्द को रोका और बांधा जा सकता है। आकाश का गुण मानने से रोकने और बांधने की बात युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती है। शब्द गतिमान है, आकाश निष्क्रिय है। इस दृष्टि से भी आकाश के गुण होने की संगति नहीं बैठती।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्द ऐसे आकाश में गमन नहीं कर सकता, जहां किसी प्रकार का पुद्गल न हो। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो वह आकाश के हर कोने में गमन कर सकता क्योंकि गुण अपने गुणी के प्रत्येक अंश में व्याप्त रहता है।[38]

जैन आगम साहित्य में शब्द पौद्गलिक कहने के साथ उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोक-व्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओं पर भी विस्तृत विवेचन किया गया है।[39]

उच्च श्रवणोत्तर ध्वनि

50 हजार से अधिक गति वाली ध्वनि हाई अल्ट्रा सोनिक मानी जाती है।

लघु श्रवणोत्तर ध्वनि

मनुष्य प्रति सैकिन्ड 2000 से कम और 20 हजार से अधिक चक्र वाली ध्वनि को सुन नहीं सकता। शब्द नाना स्कंधों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। यही कारण है ध्वनि का स्वरूप कंपन युक्त होता है। जैसा कि कहा है– It is a common experience

that a source of sound is in a state of vibration for example the strings of a piano and the air in an organ pipe are all in a state of vibration when they are producting sound.[40] इस प्रकार विज्ञान के अनुसार शब्द तरंगात्मक है।

शब्द के प्रकार

जैन दर्शन में शब्द के तीन प्रकार हैं - जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द।

जीव के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला शब्द जीव शब्द है, जैसे– मनुष्य का शब्द। जड़ पदार्थों से निकलने वाला शब्द अजीव है, जैसे - टूटती हुई लकड़ी का शब्द।

जिस शब्द की उत्पत्ति जीव के प्रयत्न के साथ यंत्र आदि का योग होता है, वह मिश्र शब्द है। दूसरे शब्दों में सचित्त और अचित्त दोनों के योग से जो शब्द होता है, वह मिश्र शब्द कहलाता है। जैसे वाद्ययन्त्रों– बांसूरी आदि का शब्द।

वैज्ञानिकों ने शब्द को दो वर्गों में बांटा है– संगीत ध्वनि और कोलाहल ध्वनि

शब्द की गति

शब्द की गति के विषय में जैनाचार्यों का विलक्षण मन्तव्य हैं।

है गौतम ! जो भाषा भिन्नत्व (भेद प्राप्त- भेदन किये हुए) से निसृत या प्रसारित होती है,वह अनन्तगुणी वृद्धि पाकर लोक के अन्तिम भाग को स्पर्श करती है। जो भाषा अभिन्न (भेदन नहीं किये हुए) रूप से निसृत होती है, वह असंख्यात योजन जाकर भेद को प्राप्त होती है।[41]

ज्ञातव्य यह है कि अभिन्न भाषा परिवर्द्धन को प्राप्त नहीं होती। स्वाभाविक गति से असंख्यात योजन तक जाकर नष्ट हो जाती है। शब्दों के बिखर जाने से भाषा रूप नहीं रहती। रूपान्तरित भिन्न भाषा अनन्त गुण परिवर्द्धित होकर लोक की चरम सीमा तक पहुंच जाती है। वक्ता बोलने से पूर्व भाषा वर्गणाओं का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन करता है। उत्सर्जित भाषा वर्गणा के पुद्गल आकाश में फैल जाते हैं। किन्तु वे वक्ता के मंद प्रयत्न के कारण अभिन्न रहकर अन्त में शक्ति हीन बन जाते हैं। वक्ता का तीव्र प्रयत्न हो तो वे ही पुद्गल भिन्न होकर नये स्कंधों को ग्रहण करते-करते बहुत दूर तक फैल जाते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य का समर्थक प्रतीत होता है। उसमें भी ध्वनि का मूल रूप और परिवर्तित रूप माना गया है। मूल रूप में ध्वनि वस्तु, व्यक्ति, वाद्य आदि से जिस रूप में निकलती है, उसी रूप में चारों और फैल जाती है। इसकी प्रसारण गति 1100 मील प्रति घंटा है। आगे चलकर वह ध्वनि नष्ट हो जाती है। लेकिन मूल ध्वनि को जब रेडियो स्टेशन आदि पर यंत्रों द्वारा विद्युत तंरगों में रूपान्तरित कर दिया जाता है, तब उसकी गति में असाधारण वृद्धि हो जाती है वह प्रति सेकिण्ड 1,86000 मील अर्थात् 3 लाख कि.मी. गति से ब्रह्माण्ड में प्रसरित हो जाती है।[42] रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, तार का तार, ग्रामोफोन और टेप-रिकार्डर प्रभृति अनेकानेक यंत्र हैं। इन सभी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये सब शब्द की अद्‌भुत शक्ति और तीव्र गति के परिणाम हैं। यह भी कहा जा सकता है– ये सब शब्द की रूपान्तरित (भिन्नत्व) शक्ति के तीव्र गति का परिणाम है।

जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार सुघोषा घंटा का शब्द बिना किसी तार की सहायता लिये असंख्य योजन पर रहे घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है। [43]यह वर्णन वैज्ञानिक अनुसंधान से पूर्व का है। आधुनिक टेलीफोन की घण्टियों को इस संदर्भ में समझा जा सकता है। पुद्‌गल के परिणमन छाया, प्रकाश, अंधकार, उद्योत आदि भी पुद्‌गल के परिणमन माने जाते हैं।

छाया

पुद्‌गलों का प्रतिबिम्ब रूप परिणमन छाया है। जैन दृष्टि से प्रत्येक इन्द्रिय गोचर भौतिक पदार्थ से प्रतिपल तदाकार प्रतिछाया प्रतिबिम्ब के रूप में निकलती रहती है। वह पदार्थ के चारों ओर आगे बढ़ने में जहां कहीं अवरोध या आवरण पैदा होता है, वहीं दृश्यमान हो जाती है। छाया अंधकार की कोटि का ही एक रूप है। यह प्रकाश का अभाव नहीं, पुद्‌गल का परिणमन विशेष है। प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है।[44] प्रकाश पथ पर अपारदर्शक वस्तुओं का आ जाना आवरण है। विज्ञान इसे ऊर्जा का रूपान्तरण मानता है। ऊर्जा ही छाया और वास्तविक एवं अवास्तविक प्रतिबिम्बों के रूप में परिलक्षित होती है। व्यक्तिकरण पट्टियों पर गणनायंत्र यदि चलाया जाये तो काली पट्टी में से भी विद्युत अणुओं का निकलना सिद्ध होता है। सारांश यह है– काली पट्टी केवल प्रकाश का अभाव रूप नहीं हैं, उसमें भी ऊर्जा है। इसीलिये उसमें से विद्युत अणु निःसरित होते हैं।

प्रकाश पथ में दर्पणों और अणुवीक्षों का आ जाना एक प्रकार का आवरण है।

आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिबिम्ब बनते हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है– वर्णादि-विकार परिणत और प्रतिबिम्ब मात्रात्मक।[45]

वर्णादि विकार-परिणत छाया में विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जाते हैं, जो विपर्यस्त हो जाते हैं और जिनका परिमाण परिवर्तित हो जाता है। प्रतिबिम्ब मात्रात्मक प्रकाश-रश्मियों के मिलने से बनते हैं और प्रकाश की ही पर्याय होने से स्पष्ट रूप से पौद्गलिक हैं।

ध्वनि जैसे विद्युत तरंगों के रूप में लोकान्त का स्पर्श करती है, वैसे छाया भी विद्युत तरंगों के रूप में आकाश में व्याप्त हो जाती है। लाखों मील दूर से प्रसारित ध्वनि रेडियों द्वारा ग्रहण कर सुनी जाती है। उसी प्रकार लाखों मील दूर से प्रसारित प्रतिच्छाया टेलिविजन से ग्रहण कर पर्दे पर देखी जाती है। चन्द्रमा पर उतरे अंतरिक्ष यानों द्वारा वहां के दृश्यों के प्रसारित प्रतिबिम्ब पृथ्वीवासियों के द्वारा परदे पर देखना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

निष्कर्ष यह है कि छाया-प्रतिच्छाया तरंग रूप होती है। तरंगें शक्ति या पदार्थ है- विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धांत है। दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब, पानी में परछाई आदि भी छाया के रूप और पुद्गल की पर्याय हैं। विज्ञान ने परछाई को पदार्थ तो माना ही है, उसे भारयुक्त भी माना है।

प्रकाश-अंधकार

पुद्गल का परिणमन प्रकाश और अंधकार रूप में भी होता है। प्रकाश का विरोधी अंधकार है।[46] पुद्गलों का सघन कृष्णवर्ण के रूप में जो परिणमन होता है, उसे अंधकार कहते हैं।[47] नैयायिक आदि दार्शनिकों ने अंधकार को भावात्मक द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभाव माना है। जैन दार्शनिकों ने अंधकार को प्रकाश की भांति भावात्मक तत्त्व स्वीकार किया है। प्रकाश का रूप है, अंधकार का भी अपना रूप है।

आधुनिक विज्ञान ने भी अंधकार को पृथक् तत्त्व माना है। वैज्ञानिक दृष्टि से अंधकार में भी उपस्तु-किरणों का सद्भाव है। जिनसे उल्लु और बिल्ली की आंखें तथा कुछ विशिष्ट चित्रित पट प्रभावित होते हैं। इससे सिद्ध है कि अंधकार का प्रकाश से अलग अस्तित्व है।[48]

जिसका प्रत्यक्ष होता है जिसमें वर्ण इत्यादि पाये जाते हैं उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। वर्ण किसी वस्तु का ही होगा, अवस्तु का नहीं। जब वर्ण प्रत्यक्ष है तो

उसके स्पर्श, रस, गंध भी स्वत: प्रमाणित हैं क्योंकि ये सब सहचारी हैं। वर्ण की तरह अंधकार का स्पर्श भी अनुभूत सत्य है। धूप से संतप्त व्यक्ति अंधकार में सहज शीतलता का अनुभव करता है। शीतलता, उष्णता आदि स्पर्श के अभाव में संभव नहीं। इसी प्रकार गंध और रस भी अंधकार में विद्यमान है। तात्पर्य की भाषा में प्रकाश की तरह अंधकार भी वर्ण, गंध आदि से युक्त है। अत: अंधकार प्रकाश का अभाव नहीं बल्कि द्रव्य की स्वतंत्र पर्याय है।

वर्तमान विज्ञान ने प्रकाश के सम्बन्ध में काफी अनुसंधान और प्रयोग किये हैं। उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं– लेसर किरणों की खोज। लेसर किरणें प्रकाश का घनीभूत रूप है। उसकी शक्ति का अनुमान है– एक वर्ग सेंटीमीटर प्रकाशीय क्षेत्रफल में 60 करोड़ किलोवाट शक्ति पाई जाती है। लेसर एक शुद्ध प्रकाश है। इसमें केवल एक ही आवृत्ति की तरंगें होती है। प्रत्येक तरंग एक दूसरी के समानान्तर चलती है। साधारण प्रकाश अपने स्रोत से निष्कासित हो चारों और फैलता है। लेसर प्रकाश एक दिशागामी होता है, फैलता नहीं।

वैज्ञानिक प्रकाश को तरंग मानते थे, कण नहीं। लेकिन क्वांटम सिद्धांत ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रकाश न तो पूर्णत: सूक्ष्म कण है, न तरंग। वह दोनों है। विभिन्न परिस्थितियों में कभी वह कण की तरह व्यवहार करता है, कभी तरंग की तरह। प्रकाश विद्युत चुम्बकीय तत्त्व है। यह एक वर्ग मील क्षेत्र में प्रति मिनट आधी छटांक मात्रा में सूर्य से गिरता है। यदि सूर्य-प्रकाश के पूरे ताप का वजन लिया जाये तो वह प्रति मिनट 250,000,000 टन निकलता है। विज्ञान ने प्रकाश को भी अन्य पदार्थों की तरह एक भौतिक पदार्थ और गतिमान माना है। प्रकाश की गति सदा एक सी (Constant) रहती है। प्रकाश चाहे सूर्य के आतप के रूप में हो या चन्द्र के उद्योत में हो, मणि की प्रभा या बिजली की चमक के रूप में हो, अपने-अपने केन्द्र के चारों और सतत प्रति सेकेण्ड 186294 मील की गति से चलता है।

आतप

'सूर्यादीनामुष्ण: प्रकाश आतप:'[49] उष्ण प्रकाश का नाम ताप या आतप है।[50] यह पुद्गल का एक परिणमन है। आतप सूर्य या अन्य उष्ण पदार्थों का गुण नहीं है। कारण पौद्गलिक होने से प्रकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है। अन्यथा उसे पुद्गल की पर्याय कहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है।

उद्योत

'चन्द्रादीनामनुष्ण: प्रकाश उद्योत:।'[51] चन्द्रमा, जुगनू आदि का शीतल प्रकाश उद्योत कहलाता है। जिसमें ताप का पूर्ण अभाव या अल्प मात्रा होती है, उसे उद्योत कहते है।

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने प्रकाश को दो रूपों में विभक्त किया है– आतप और उद्योत। वैज्ञानिकों ने प्रकाश को गतिशील माना है। ब्रह्माण्ड में घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि को मापने का मानदण्ड प्रकाश-किरण को स्वीकार किया है। उसकी गति सदा समान रहती है। प्रकाश को पहले भारहीन पदार्थ के रूप में देखा जाता था। अब सिद्ध हो चुका है कि वह शक्ति का भेद होने पर भी भारयुक्त है।

जीव और अजीव में होने वाले परिणमन भी तीन-तीन प्रकार के हैं–

1. वैस्रसिक परिणमन	उल्कापात आदि
2. प्रायोगिक परिणमन	जीवच्छरीर
3. मिश्र परिणमन	मृत शरीर

1. वैस्रसिक परिणमन

विस्रसा– स्वभाव: प्रयोग निरपेक्षो विस्रसाबंध:। प्रयोग निरपेक्ष परिवर्तन को विस्रसा कहा जाता है[52] यह वस्तु में स्वत: होता है। अप्रयत्नजन्य परिणमन– जैसे आकाश में बादलों की घटा का बनना, मिट्टी के लाखों-करोंड़ों कणों का मिलकर पत्थर या चट्टान बन जाना, वैस्रसिक परिणमन है। ये स्वाभाविक रूप से बनते है। इन्हें बनाने का किसी द्वारा कोई प्रयत्न नहीं रहता।

2.प्रायोगिक परिणमन

प्रयत्नजन्य परिणमन प्रायोगिक है, जैसे - दो कपाटों को मिलाना। दो कपड़ों के टुकड़े को परस्पर जोड़ना। इसमें जीव का प्रयत्न काम आता है। जीव के संयोग से परिणमन को प्राप्त प्रयोग परिणत है। इसी प्रकार इन्द्रिय, शरीर, रक्त, आदि का निर्माण प्रायोगिक परिणमन है। शरीर आदि की संरचना जीव के प्रयत्न से होती है। [53] सिद्धसेनगणी ने प्रयोग का अर्थ जीव का व्यापार किया है।[54]अकलंक ने 'पुरूषकायवाङ् मन: संयोगलक्षण:' कहकर प्रयोग का अर्थ पुरूष का शरीर, वाणी और मन का संयोग

किया है।[55] जीव अपने प्रयत्न से शरीर, इन्द्रिय, वर्ण और संस्थान का निर्माण करता है। गंध, रस, स्पर्श की विविध परिणति में भी उसका योगदान रहता है।[56] जीवकृत सृष्टि का नानात्व पुद्गल द्रव्य के संयोग से होता है। इसलिये जीव के निरूपण में शरीर, इन्द्रिय, वर्ण आदि का निरूपण है। जीव का वीर्य (प्रयत्न) दो प्रकार का होता है– आभोगिक और अनाभोगिक। इच्छा प्रेरित कार्य करने के लिये वह आभोगिक वीर्य का प्रयोग करता है। अनाभोगिक वीर्य स्वचालित है। शरीरादि की रचना अनाभोगिक वीर्य से होती है।[57]भगवती में प्रयोग परिणत के प्रकरण में निम्नोक्त परिणमनों का निर्देश किया गया है– शरीर–5, इन्द्रिय–5, वर्ण–5, गंध–2, रस–5, स्पर्श–8, संस्थान 8 =5 + 5 + 5 + 2 + 5 + 8 + 8 = 38 का वर्णन है।

3.मिश्र परिणमन

जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिसका जीव के प्रयोग से हुआ, परिणमन बना रहता है, उसे मिश्र परिणमन कहते हैं। कटे हुए नख, केश, मल-मूत्रादि मिश्र परिणमन के उदाहरण हैं। अथवा जो परिणमन जीव के प्रयत्न और स्वाभाविक दोनों प्रकार से होता है उसे मिश्र कहते हैं, जैसे– मृत शरीर।[58]

अभयदेसूरि ने इसके लिए मुक्त जीव के शरीर का उदाहरण दिया है। उनके मत से औदारिकादि वर्गणा स्वभाव से निष्पन्न हैं। जीव के प्रयोग से वे शरीर रूप में परिणत होती हैं। इसमें जीव का प्रयोग और स्वभाव दोनों का योग है। सिद्धसेन गणी के अनुसार मिश्र परिणमन में प्रयोग और स्वभाव दोनों का प्राधान्य विवक्षित है।[59] अकलंक के अभिमत से प्रयोग परिणमन स्वाभाविक परिणमन भी है, किन्तु वह विवक्षित नहीं है।[60]

आचार्य सिद्धसेनगणी और अकलंक के अभिमत में विसंगति प्रतीत होती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने दोनों व्याख्याओं में कार्य - कारण के रूप में संगति दिखाई है। उन्होंने मिश्र परिणमन को घट और स्तंभ के उदाहरण से समझाया है। घट के निर्माण में मनुष्य का प्रयत्न है। मिट्टी में घट बनने का स्वभाव है इसलिये घट मिश्र परिणत द्रव्य है। इसकी तुलना वैशेषिक सम्मत समवायी कारण से की जा सकती है।[61]

घट ही नहीं सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् प्रयोग परिणत द्रव्य का उदाहरण है। मोटे स्तर पर जगत् पांच प्रकार के द्रव्यों का परिणाम हैं– एकेन्द्रिय-जीवच्छरीर-परिणत द्रव्य, द्वीन्द्रिय-जीवच्छरीर-परिणत द्रव्य, त्रीन्द्रिय-जीवच्छरीर-परिणत द्रव्य, चतुरिन्द्रिय-जीवच्छरीर-परिणत द्रव्य, पंचेन्द्रिय-जीवच्छरीर-परिणत द्रव्य।

इनके अवान्तर भेद असंख्य भी बन जाते हैं।[62] प्रयोग, मिश्र और वैस्रसिक - ये सृष्टिरचना के आधारभूत परिणमन हैं। प्रथम दो परिणमन जीवकृत सृष्टि है। स्वाभाविक परिणमन अजीव कृत सृष्टि है। वर्ण आदि का परिणमन पुद्गल में स्वभावत: होता है। इसमें जीव का कोई सहयोग नहीं।[63] प्रयोग परिणमन बाह्य निमित्त निरपेक्ष है। वह जीव के आन्तरिक प्रयत्न जन्य है। मिश्र परिणमन में जीव के प्रयत्न के साथ बाह्य निमित्त का भी योग होता है। स्वाभाविक परिणमन जीव का प्रयत्न और निमित्त दोनों से निरपेक्ष है। [64] प्रयोग परिणमन से पुरुषार्थवाद और वैस्रसिक स्वभाव से स्वभाववाद फलित होता है। जैनदर्शन अनेकांतवादी है, अत: उसे दोनों मान्य है।

वैस्रसिक और मिश्रपरिणमन का सिद्धांत कार्य-कारण के क्षेत्र में नई दृष्टि प्रदान करता है। विस्रसा परिणत द्रव्य कार्य-कारण के नियम से मुक्त हैं। प्रयोग परिणत द्रव्य निमित्त कारण से मुक्त है। मिश्र परिणत द्रव्य में निर्वर्तक और निमित्त कारण का योग है। इस प्रकार जैनदर्शन में कार्य-कारण का सिद्धांत भी सापेक्ष है। कार्य-कारणवाद और सृष्टिवाद की मीमांसा प्रयोग, मिश्र और स्वभावजन्य परिणमन के संदर्भ में की जा सकती है।

परिणमन और काल

परिवर्तन की इस श्रृंखला में काल भी निमित्त कारण है। काल स्वयं परिवर्तनशील है। अन्य द्रव्यों के परिणमन में उदासीन भाव से सहयोगी बनता है। काल के आश्रय से प्रत्येक द्रव्य अपने योग्य पर्यायों में परिणत होता रहता है इसलिए काल का लक्षण वर्तना किया गया है। 'वर्त्तनालक्षणो कालो।'[65] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये सब काल द्रव्य के उपकार हैं।[66] वस्तुत: वर्तना काल का उपलक्षण है। उसमें क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि का अन्तर्भाव हो जाता है। वर्तनाशील होना, अर्थाभिव्यंजना है। उत्पत्ति, अप्रच्युति और विद्यमानता रूप क्रिया वर्तना है। कोई भी पदार्थ इससे पृथक् नहीं है। काल के निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में निर्माण-ध्वंस सतत चलता है। काल का यही स्वरूप घटनाओं को जन्म देता है। काल पदार्थ मात्र के समस्त परिणमनों, क्रियाओं, घटनाओं में सहकारी कारण है।

आधुनिक विज्ञान भी इस सत्य से सहमत है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जीन्स का अभिमत है कि दृश्य जगत् की सारी क्रियाओं का एक मात्र मंच देश और काल है। देश और काल परस्पर स्वतंत्र सत्ताएं हैं।[67]

रिमैन की ज्यामिति और आइंस्टीन के सापेक्षवाद में देश और काल भौतिक पदार्थ की रचना करने वाले तत्त्व सिद्ध होते हैं। काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को कुछ

आचार्यों ने व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति, क्षेत्र आदि की दृष्टि से सापेक्ष रूप में समझने का प्रयास किया है।

काल का वर्तना, परिणाम और क्रिया लक्षण स्वयं उसी पदार्थ में प्रकट होते हैं। परत्व-अपरत्व के लिये सापेक्षता की अपेक्षा रहती है। पदार्थ की दीर्घ आयु का अल्प होना, अल्प का दीर्घ होना परत्व-अपरत्व है। दूसरे शब्दों में पदार्थ की अपनी आयु का संकोच-विस्तार परत्व-अपरत्व है। लगता है तत्कालीन व्याख्याकार आचार्यों के समक्ष ऐसा कोई हेतु नहीं होगा जिससे वे काल की परिणाम, क्रिया आदि अन्य लक्षणों के समान परत्व-अपरत्व को भी पदार्थ में प्रमाणित कर सके।

वैज्ञानिक जगत में भी इसे केवल गणित के जटिल समीकरणों से ही समझा जा सकता है। आइंस्टीन और लारेन्सन ने समीकरणों से प्रमाणित किया कि गति के तारतम्य से पदार्थ की आयु में संकोच-विस्तार होता है। एक नक्षत्र जो पृथ्वी से 40 प्रकाश वर्ष दूर है। पृथ्वी से वहां तक प्रकाश जाने में 40 वर्ष लगते हैं यदि राकेट 24,0000 कि.मी. प्रति सेकण्ड की गति से चले तो सामान्य गणित की अपेक्षा उसे वहां तक पहुंचने में 50 वर्ष लगेंगे। कारण प्रकाश की गति प्रति सेकण्ड 3,00000 कि.मी. है। अत: 300000 × 24,0000 40 = 50 वर्ष होते हैं किन्तु जगेराल्ड के संकुचन-सिद्धांत से प्रकाश की गति से चलने पर काल की विमिति में संकुचन हो जायेगा और यह संकोच 10:6 के अनुपात में होगा अत: 6 ×50/10 = 30 वर्ष लगेंगे, इससे प्रमाणित होता है कि काल पदार्थ के परिणमन और क्रिया की तरह उसकी आयु को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दर्शन में प्रतिपादित काल के परत्व-अपरत्व लक्षण को आधुनिक विज्ञान गणितीय समीकरणों के आधार पर स्वीकार करता है। वैज्ञानिकों द्वारा निरूपित काल विषयक मन्तव्य जैन दर्शन के काल-स्वरूप से आश्चर्य जनक समानता रखता है। आइंस्टीन ने कहा– देश-काल की संयुक्त विमिति ही वास्तविक है और सम्पूर्ण विश्व इस संयुक्त विमिति का ही परिणाम है।[68] काल के स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है।

हेमचन्द्राचार्य ने कहा– पदार्थों के परिणमन क्रिया आदि में सहायभूत द्रव्य वास्तविक काल है और इन्हीं परिणामों, क्रियाओं व घटनाओं के अन्तराल का अंकन व मापन करना व्यवहारिक काल है। अतीत, वर्तमान और भविष्य– यह व्यवहार भी काल के आधार पर होता है। पदार्थ यदि एक रूप रहे तो उसमें अर्थक्रिया का अभाव होने से वस्तुत्व का ही अभाव हो जाता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से काल के आधार पर ही

वस्तु जगत् टिका हुआ है। दूसरे शब्दों में परिणमन का सिद्धांत ही विश्व का आधार है। परिणमन के नियम से कोई बाहर नहीं हैं।

परिणमन और सौरमण्डल

सूर्य सौरमण्डल की मुख्य धुरी है। सूर्य की रोशनी और गर्मी के पीछे सौर ऊर्जा कार्य करती है। ऊर्जा का उत्पादन सूर्य के केन्द्र में न्युक्लियर क्रिया से होता है। उसके परिणाम स्वरूप हाईड्रोजन गैस हीलियम में बदलती रहती है। सूर्य के केन्द्र में 5640 लाख टन हाईड्रोजन एक सेकेण्ड में 5600 लाख टन हीलियम में रूपान्तरित हो जाती है। सूर्य प्रति सेकेण्ड 3.8 + 10-26 जो ऊर्जा अन्तरिक्ष में उत्सर्जित करता है।

सूर्य कभी शान्त नहीं रहता। उसके भीतर हलचले होती ही रहती हैं। कभी-कभी उसकी गति इतनी तीव्र हो जाती है कि सूर्य की सतह पर ज्वालाएं फूट पड़ती है। सौर ज्वालाएं अन्तरिक्ष में काफी दूर तक फैल जाती हैं। अब तक सौर ज्वालाओं का उग्र रूप 28 फरवरी 1942, 19 नवम्बर 1949, 13 सितंबर 1971 तथा अप्रैल 1990 को देखा गया है। धरती पर तूफानों का विध्वंसक रूप तो कभी - कभी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु सूर्य पर इससे भी भयंकर और तेज तूफान चलते रहते हैं। तूफान के फल स्वरूप ही सूर्य पर विद्यमान सौर कलंक की सक्रियता प्रत्येक 11 वें वर्ष में अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। इससे सूर्य के आभामंडल के आकार में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। सौर में उत्पद्यमान अभिक्रियाओं से निसृत किरणें पृथ्वी के अयन तक पहुंच जाती है। पृथ्वी का भू-चुंबकीय क्षेत्र उससे अप्रभावित नहीं रहता। सौर हलचलों की अधिकतम तीव्रता पृथ्वी के आयनोस्फ़ीयर में उथल-पुथल मचा देती है। इस आधार पर ही धरती में चुंबकीय तूफान आने की संभावना बढ़ जाती है। इससे रेडियो संचार में बाधा पड़ती है। विद्युत आपूर्ति के अस्त-व्यस्त होने की आशंका बढ़ जाती है। कई बार धरती इन घटनाओं के कटु अनुभवों को झेल चुकी है। सूर्य में होने वाली ये हलचलें व्यापक परिवर्तन की परिचायक है। वैज्ञानिकों के अभिमत से उनके परिणाम स्वरूप अनागत में धरती पर बड़ी मात्रा में परिवर्तन होगा। धरती की आकृति वही रहेगी किन्तु प्रकृति का पूरा रूपान्तरण हो जायेगा।

जैनदर्शन में उपलब्ध परिणमन का सूक्ष्म विवेचन जैन तीर्थंकरों की अतीन्द्रिय चेतना का बहुत बड़ा साक्ष्य होने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्रिया के परिणमन का यह सिद्धान्त वैज्ञानिकों को भी भावी शोध की अनेक दिशाएं दे सकता है।

संदर्भ सूची :

1. प्रमाण मीमांसा; पृ. 61
2. तत्त्वार्थसूत्र; 5/28
3. भगवती भाष्य; 1/3/133
4. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन; पृ.141
5. योग भाष्य; 3/13
6. स्वतंत्र चिन्तन; पृ. 2/4/15
7. भगवती; 25/350
8. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन; पृ. 35
9. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन; पृ. 36
10. द लिमिटेशन्स ऑफ साइन्स; पृ. 140
11. भगवई भाष्य; 5/150
    परमाणु पोग्गले णं भंते ! एयति वेयति चलति फंदह घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमति ?
    गोयमा ! सिय एयति वेयति जाव तं तं भावं परिणमति, सिय नो एयति जाव नो तं तं भाव परिणमति।।
12. भगवई; 5/169
    असंखेज्जं कालं ति असंख्येय कालात्पर: पुद्गलानामेकरूपेण स्थित्यभावात्।, पृ.196
13. प्रज्ञापना; मलयवृत्ति; पत्रांक 3/2/22
14. जैन सिद्धांत दीपिका; 1/15 संश्लेषः- बंधः।
    अयमपि प्रायोगिक: सादि: वैस्रसिकस्तु सादिरनादिश्च।
15. तत्त्वार्थ सूत्र ; 5/33
16. वही; 5/34
17. भगवई; 8/345
18. वही; 8/346
19. वही; 8/375
20. वही; 8/348
20. (ख) भगवती वृत्तिपत्र, 395
21. प्रज्ञापना; 3/2/22
22. तत्त्वार्थसूत्र; 5/36
23. वही, 5/35

24. भगवती वृत्ति पत्र, 365 भाजनं आधारः।
25. वही; पत्र. 365 - जीर्णगुडस्य जीर्णतंदुलानां च पिण्डीभवन लक्षणः।
26. तत्त्वार्थाधिगम भाष्यवृत्ति 5/24 पृ. 360
27. जैन सिद्धान्त दीपिका; पृ. 12
    आकृति : संस्थानम्। तच्चचतुरस्रादिकं इत्थंस्थम्, अनियताकारं अनित्थंस्थम्
28. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 5/14/16
29. जैन सिद्धान्त दीपिका; पृ .12
30. वही, सूत्र.15 विश्लेषः - भेदः। स च पञ्चधा -
    1. उत्करः मुद्गशमीभेदवत्। 2. चूर्णः गोधूम चूर्णवत्।
    3. खण्डः लोहखण्डवत्। 4. प्रतरः अभ्रपटभेदवत्।
    5. अनुतटिका - तटाकरेखावत्।
31. तत्त्वार्थ सूत्र; 5/26
32. उत्तराध्ययन; 36/19-20
    फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया।
    कक्खडा मउया चेव, गरुया लहुया तहा।।
    सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया।
    इइ पुसपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया।।
33. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान; पृ.47
34. जीव-अजीव वैज्ञानिक विश्लेषण
35. उत्तराध्ययन; 36/8
    रसओ परिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया। तित्त, कडुय, कसाया, अंबिला महुरा तहा।।
36. कादम्बिनी; अगस्त 1967 पृ.40
37. पंचास्तिकाय;. 71
    सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो। पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो।।
38. जैन दर्शन: स्वरूप और विश्लेषण; पृ . 181 - 182
39. प्रज्ञापना सूत्र; पद 11 सू. 880
40. Text Book of Physics, p. 249
41. प्रज्ञापना पद - 11, सूत्र 880
42. जीव-अजीव वैज्ञानिक तत्त्व; पृ. 226 से उद्धृत
43. जंबुद्वीप; अ. 5 पृ. 285

44. (क) सर्वार्थसिद्धि ; 5/24 छाया प्रकाशवरणनिमित्ता
(ख) जैन.सिद्धान्त दीपिका; 1/15 प्रतिबिम्ब रूप : पुद्गलपरिणाम: छाया।
45 (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 5/24, 20-21
(ख) सर्वार्थ सिद्धि; 5/24
46. वही, 5/24 -तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधी।
47. जैन सिद्धान्त दीपिका; 1/15 कृष्णवर्णबहुल: पुद्गलपरिणामविशेष: तम:।
48. जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण; पृ.185
49. जैन सिद्धान्त दीपिका; 1/15
50. सर्वार्थ सिद्धि; 5/24,
51. जैन सिद्धान्त दीपिका; 1/15
52. तत्त्वार्थाधिगम भाष्यवृत्ति; 5/24 पृ. 360
53. भगवईवृत्ति पत्र; 328
54. तत्त्वार्थाधिगम भाष्यवृत्ति; 5/24 पृ. 360 जीवव्यापारेण शरीरादितया परिणता :।
55. तत्त्वार्थ वार्तिक;.5/24 पृ. 487
56. भगवई; 8/2/39
57. तत्वार्थ सूत्र; 8/3, पृ. पत्र- 128
58. भगवई 8/1/1
59. तत्त्वार्थाधिगम भाष्यवृत्ति; 15/24, पृ. 360
60. भगवती वृत्ति पत्र; 328 प्रयोग परिणतेषु विस्रसा सत्यपि न विवक्षिता इति य।
61. अवस्थी, नरेन्द्र शाश्वत, 1997, पृ. 2/4-5
62. भगवई खण्ड 2, 8/32-41 का भाष्य
63. वही; पृ. 59
64. तत्त्वार्थाधिगम भाष्यवृत्ति; .5/24, पृ. 360
65. उत्तराध्ययन; 28/10
66. तत्त्वार्थसूत्र; 5/22
67. ज्ञानोदय विज्ञान अंक पृ. 114
68. वही; पृ. 59

सप्तम अध्याय
क्रिया और शरीर-विज्ञान

हमारा अस्तित्व चेतन एवं अचेतन तत्त्वों का जटिलतम संयोग है। शरीर मुक्त आत्मा की भौतिक जगत के साथ अनुक्रिया संभव नहीं है। सांसारिक क्रिया-प्रतिक्रिया और भोग शरीराधीन हैं। शरीर का निर्माण जीव स्वयं करता है और उसके माध्यम से क्रिया-प्रतिक्रिया करता है। पन्नवणा के बारहवें पद में शरीर के सम्बन्ध में काफी चिंतन किया गया है।

जैन दर्शन में शरीर की अवधारणा

जो उत्पत्ति के समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है, जिसके द्वारा भौतिक सुख दु:ख का अनुभव होता हैं तथा जो शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसे शरीर कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा भी गया है– 'विशिष्टकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि'[1] जो विशेष नामकर्म के उदय से मिलते हैं, वे शरीर हैं। आचार्य तुलसी ने शरीर को परिभाषित करते हुए लिखा है– 'पौद्गलिक सुख-दु:खानुभव साधनम् शरीरम्' अर्थात् जिसके द्वारा पौद्गलिक सुख-दु:ख का अनुभव हो, वह शरीर कहलाता है।[2]

शरीर के प्रकार

जैन-तत्त्व-मीमांसा में पांच प्रकार के शरीरों का उल्लेख है– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण।

इन्हें हम क्रमश: स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इन चार भागों में विभाजित कर सकते हैं– औदारिक शरीर स्थूल है। वैक्रिय और आहारक शरीर सूक्ष्म हैं। तैजस् अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर एवं कार्मण सूक्ष्मतम शरीर है।

(1)औदारिक शरीर

उदार शब्द से उक् प्रत्यय करने पर औदारिक शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है– स्थूल। औदारिक शरीर को औदारिक कहने के सन्दर्भ में अनुयोगद्वार की हारिभद्रीया वृत्ति में चार हेतु बतलाये हैं–

(1) उदार अर्थात् प्रधान। शरीरों में औदारिक शरीर प्रधान है; क्योंकि तीर्थंकर एवं गणधर भी इसे धारण करते हैं।[3]

(2) उराल अर्थात् विशाल। औदारिक शरीर से अन्य कोई शरीर अवगाहना की दृष्टि से बड़ा नहीं हो सकता।[4]

(3) उरल– जो आकार में बड़ा और प्रदेश-उपचय में अल्प होता है उसे उरल कहा जाता है। औदारिक शरीर आकार में बड़ा है किन्तु प्रदेशोपचय अल्प होने से औदारिक कहा जाता है।[5]

(4) उरालिय– जो मांस, अस्थि, स्नायु आदि अवयवों से निर्मित होता है, वह औदारिक है।[6]

औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों से निर्मित है। यह रस आदि सप्त धातुमय है। इसमें चयापचय की क्रिया निरन्तर होती रहती है। इसका छेदन-भेदन संभव है। यह मृत्यु के बाद भी अवस्थित रहता है। देव और नारक के अतिरिक्त सभी जीवों को यह शरीर प्राप्त है। देवता और नारक को छोड़कर गर्भज और सम्मूर्च्छन सभी प्राणियों में औदारिक शरीर ही पाया जाता है।

(2) वैक्रिय शरीर

अनेक प्रकार के रूप बनाने में समर्थ शरीर वैक्रिय कहलाता है। वैक्रिय अर्थात् विक्रिया। विभिन्न प्रकार की क्रियाएं जिसमें घटित हो सकती है, वह वैक्रिय शरीर है। विक्रिया, विकार, विकृति और विकरण– ये सभी एक ही अर्थ के द्योतक हैं।[7]

वैक्रिय शरीर में विशिष्ट प्रकार की शक्ति होने के कारण वैक्रिय शरीरधारी प्राणी छोटा-बड़ा, सुरूप-कुरूप, एक-अनेक, रूप बना सकता है। यह रक्त आदि धातुओं से निर्मित नहीं होता है, मृत्यु के बाद पारे की तरह बिखर जाता है।

देवता और नारकी में वैक्रिय शरीर जन्म से प्राप्त है। मनुष्य एवं तिर्यञ्चों में लब्धिजन्य होता है। वायुकाय में भी वैक्रिय शरीर पाया जाता है।[8] दिगम्बर परम्परा में तैजस्काय आदि में भी वैक्रिय शरीर माना है।[9]

(3) आहारक शरीर

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों का आहरण करता है, उसको आहारक शरीर कहते हैं।[10] यह संप्रेषण की अद्भुत क्षमता रखता है। आहारक शरीर एक विशिष्ट प्रकार की शारीरिक संरचना है। यह विशिष्ट लब्धि सम्पन्न चतुर्दशपूर्वी मुनि के द्वारा निर्मित होता है। विशेष उद्देश्य से आहारक लब्धि सम्पन्न मुनि अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर प्रक्षेप कर आहारक शरीर का निर्माण करते हैं। आत्म-प्रदेश चौड़ाई और मोटाई में शरीर-प्रमाण तथा लम्बाई में संख्यात योजन प्रमाण दण्ड के रूप में होते हैं। सिद्धसेनगणी के अनुसार उस शरीर का जघन्य प्रमाण एकरत्नि (बंधी मुट्ठी वाले हाथ जितना होता है) और उत्कृष्ट पूरे हाथ प्रमाण होता है।[11] आहारक शरीर अन्तर्मुहूर्त्त में ही अपना कार्य संपादित कर पुनः औदारिक शरीर में विलीन हो जाता है।

धवला के अनुसार आहारक शरीर एक हस्त प्रमाण, सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, हंस के समान धवल, रूधिर आदि सप्त धातुओं से रहित, विष, अग्नि, शस्त्र आदि समस्त बाधाओं से मुक्त और अव्याघाती है।[12] इस शरीर से न हिंसात्मक प्रवृत्ति होती है और न यह सावद्य प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है। न किसी का विनाश करता है और न किसी से विनष्ट होता है।[13]

आहारक शरीर निर्माण का प्रयोजन

द्रव्य-संग्रह की टीका के अनुसार आहारक शरीर का प्रयोग करने वाला अपने मस्तिष्क से एक निर्मल स्फटिक जैसा अत्यन्त स्वच्छ एक हाथ का पुतला निकालता है। पुतले को वह तीर्थंकर के पास भेजता है। अपनी शंका का समाधान प्राप्त कर वह शरीर पुनः प्रयोक्ता के मूल शरीर में समाविष्ट हो जाता है।[14] कदाचित् उस स्थान में तीर्थंकर न हो तो उस शरीर से पुनः एक दूसरे पुतले का निर्माण होता है। वह जहां तीर्थंकर होते हैं वहां जाता है। समाधान प्राप्त कर प्रथम पुतले में प्रविष्ट होता है। प्रथम पुतला प्रयोक्ता मुनि के औदारिक शरीर में विलीन हो जाता है। यह सारी क्रिया अत्यन्त शीघ्र सम्पादित हो जाती है। इस शरीर का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त मात्र स्वीकृत है। आचार्य अकलंक ने आहारक समुद्घात के तीन प्रयोजनों का उल्लेख किया है--

(अ) आहारक लब्धि के सद्भाव का ज्ञान
(ब) सूक्ष्म पदार्थ का निर्धारण
(स) संयम - परिपालन[15]

अनुयोग द्वार की चूर्णि में इसके चार प्रयोजनों का संकेत है–[16]

(अ) प्राणी दया। (ब) अर्हतों की ऋद्धि का दर्शन।

(स) नवीन अर्थ का अवग्रहण (द) संशय का अपनयन।

सिद्धसेन गणी ने आहारक समुद्घात के संदर्भ में चतुर्दशपूर्वी की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है– (अ) भिन्नाक्षर (ब) अभिन्नाक्षर। जिसे प्रत्येक अक्षर के श्रुतगम्य पर्यायों का परिस्फुट ज्ञान होता है, वह भिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी कहलाता है। उसे श्रुतकेवली भी कहा जाता है। उसके मन में श्रुतज्ञान विषयक कोई संशय नहीं रहता इसलिये वह आहारक शरीर का प्रयोग नहीं करता।

अभिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी को अक्षर-पर्यायों का परिस्फुट ज्ञान नहीं होने से उन्हें श्रुत-विषयक संदेह होता है और यदि वह आहारकलब्धि सम्पन्न हो तो आहारक शरीर निर्माण का प्रयोग कर अपने संशय का समाधान करता है।[17] वायु पुराण में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। जैसे सूर्य अपनी किरणों को प्रत्यावृत कर लेता है वैसे ही योगी एक शरीर से बहुत से शरीरों का निर्माण कर फिर मूल शरीर में खींच लेता है।

'विज्ञान के क्षेत्र में टेलीपेथी तथा प्रोजेक्सन ऑफ एस्ट्रल बॉडी' सम्बंधी परीक्षण और चर्चा आहारक शरीर की अवधारणा को पुष्ट करते हैं।

(4) तैजस् शरीर

तैजस् शब्द अग्नि का वाचक है। तेजोमय परमाणुओं से निष्पन्न शरीर तैजस् शरीर कहलाता है। स्थूल शरीर की आभा, कान्ति, तेजस्विता, दीप्ति, पाचनक्रिया आदि का कारण यही शरीर है। सूक्ष्म शरीर है स्थूल शरीर में व्याप्त है ऊर्जा प्रदान करने वाला यही शरीर है। शरीर-विज्ञान के अनुसार भी हर कोशिका में ऊर्जा का निर्माण होता है। तैजस् शरीर हमारी ऊष्मा, सक्रियता एवं शक्ति का स्रोत है।

यह दो प्रकार का है– स्वाभाविक एवं लब्धिजन्य। लब्धिजन्य तैजस् शरीर में दूसरे का हित-अहित संपादित करने का सामर्थ्य होता है। स्वाभाविक तैजस शरीर सभी प्राणियों में होता है। उसके द्वारा सामान्य क्रियाओं का सम्पादन होता है। तैजस् शरीर के बिना पाचन, हलन-चलन आदि नहीं हो सकता।[18] स्थूल शरीर की सभी क्रियाओं का संचालक भी यही है। तैजस् शरीर के मुख्य दो कार्य हैं– (अ) शरीर तंत्र का संचालन (ब) अनुग्रह - निग्रह की क्षमता।

प्राण-शक्ति का मूल स्रोत तैजस् शरीर है। यद्यपि यह सम्पूर्ण स्थूल शरीर में व्याप्त है फिर भी दो केन्द्र विशेष हैं– मस्तिष्क और पृष्ठभाग। वहां से निकलकर तैजस् शक्ति शारीरिक क्रियाओं के संचालन में निमित्त बनती है। तैजस् शरीर की प्राण-शक्ति एक होते हुए भी स्थूल शरीर के साथ मिलकर अनेक प्रकार के कार्य संपादित करती है। इसका अपना कोई निश्चित आकार-प्रकार नहीं है। औदारिक और वैक्रिय शरीर का जैसा आकार, प्रकार होता है वैसा ही इसका बन जाता है।

योग के आचार्य इसे प्राणमय कोष तथा वैज्ञानिक ऊर्जा शरीर (Vital Body) और बायो इलेक्ट्रिकल प्लाज्मा कहते हैं। एक शब्द में कहे तो यह विद्युत शरीर है तथा ऊर्जा का असीम भंडार है।

(5) कार्मण शरीर

कर्मों के सूक्ष्म–स्कंधों के संग्रहक शरीर का नाम कार्मण शरीर है।[19] शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि का मूल कारण तथा सब कर्मों का आधार, उत्पादक और सुख-दु:ख का बीज यही शरीर है।[20] नाड़ीतंत्र या मस्तिष्क के न्यूनाधिक विकास का कारण भी कर्म-शरीर है। कार्मण शरीर संस्कारों का संवाहक शरीर है। ज्ञानावरण आदि कर्म– वर्गणा के सूक्ष्मतम परमाणुओं से इसका निर्माण होता है। औदारिक आदि शरीरों का निमित्त होने से उसे कारण शरीर भी कहा जाता है। यह सूक्ष्मतम शरीर है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान, दृष्टि, संवेदनशीलता, आसक्ति, शरीर-सौष्ठव, बाह्य परिवेश, विघ्न-बाधाएं और जीवन की अवधि आदि सभी का निर्धारक कार्मण शरीर है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार कार्मण शरीर का स्थूल शरीर में संवादी-तंत्र अन्त:स्रावी ग्रंथितंत्र है।

अन्य शरीरों की तुलना में तैजस् और कार्मण शरीर प्रत्येक संसारी आत्मा से अनादि संलग्न हैं। कर्मों के अनुसार गति विशेष में जीव कभी औदारिक या वैक्रिय शरीर को प्राप्त करता है, कभी नहीं करता है और आहारक शरीर तो कादाचित्क है। लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर भी कादाचित्क है किन्तु कार्मण और तैजस् शरीर तो हमेशा प्राप्त रहते हैं। जब तक जीव मुक्त नहीं होता तब तक इनका योग सतत बना रहता है। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है ? यह समस्या कई आत्म - वादियों को भी उलझन में डाल देती है। किन्तु कार्मण शरीर का रहस्य ज्ञात होने पर समस्या स्वत: समाहित हो जाती है।

कुछ आचार्य कर्म और कार्मण शरीर को एक ही मानते है।[21] किन्तु दोनों एक नहीं। कर्म की उत्पत्ति नाम कर्म तथा मोहकर्म से होती है। जबकि कार्मण शरीर का विपाक कार्मण शरीर को ही पुष्ट करता है। इस हेतु इन्हें सर्वथा एक नहीं माना जा सकता। शरीर नाम कर्म की प्रकृति कर्मों से भिन्न नहीं, इस अपेक्षा से कर्म और कार्मण को एक भी कह सकते हैं।

कर्म शरीर संस्कारों का संग्राहक है। जन्म-जन्मान्तरों की संस्कार-परम्परा इसके साथ जुड़ी है। जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति के चारित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व आदि के बीज कर्म शरीर में निहित हैं। जेनेटिक साइंस के अनुसार व्यक्ति के आकार-प्रकार, संस्कारों का मूल जीन है।

सहावस्थान और क्रम-व्यवस्था में कम से कम एक साथ दो शरीर व अधिकतम चार शरीर पाये जाते हैं। उनका योग निम्नानुसार है–

(1) एक साथ दो शरीर – तैजस्, कार्मण।

(2) एक साथ तीन शरीर – तैजस्, कार्मण, औदारिक। अथवा तैजस्, कार्मण, वैक्रिय।

(3) एक साथ चार शरीर – तैजस्, कार्मण, औदारिक, आहारक। अथवा तैजस्, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय।

औदारिक आदि शरीरों का क्रम भी समीचीन है। स्वल्प-पुद्गलों से निष्पन्न तथा बादर-परिणति के कारण औदारिक शरीर का स्थान प्रथम है। वैक्रिय आदि क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होने से उन्हें बाद के क्रम में रखा गया है। इस प्रकार क्रम-व्यवस्था का हेतु उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है।

सूक्ष्म शरीर और आधुनिक विज्ञान

परामनोविज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर के संदर्भ में काफी प्रयोग और परीक्षण हुए हैं। इससे सूक्ष्म शरीर के बारे में अनेक रहस्य अनावृत हुए हैं। किरिलियन फोटोग्राफी के विकास के पश्चात् तो विज्ञान जगत् में यह धारणा स्पष्ट हो गई है कि स्थूल शरीर के परे सूक्ष्म शरीर भी है। मृत व्यक्ति का फोटो लेने पर ज्ञात हुआ कि शरीर जैसी ही एक आकृति शरीर से बाहर निकलती है। पहले उसे आत्मा माना जाता रहा किन्तु वह आत्मा नहीं, सूक्ष्म शरीर था। आत्मा अमूर्त्त है, वह चर्म चक्षु का विषय नहीं बन सकती।[22]

जैन दृष्टि से सूक्ष्म शरीर चतु:स्पर्शी परमाणु स्कंधों से निर्मित हैं। चतु:स्पर्शी पुद्गल भारहीन होते हैं। उनमें विद्युत आवेश नहीं होता। परामनोविज्ञान की भाषा में सूक्ष्म शरीर, 'पोषकतत्व कणों से निर्मित हैं। चतु:स्पर्शी पुद्गलों की तरह ही 'न्यूत्रिलोन (Neutrilone) कणों में भी भार, विद्युत-आवेश और प्रस्फुटन नहीं होता। विज्ञान उन कणों को भौतिक नहीं मानता किन्तु जैन दर्शन सम्मत सूक्ष्म शरीर भौतिक है, पौद्गलिक है। 'न्यूत्रिलोन' के कण भी सीधे नहीं देखे जाते। दूसरे कणों के साथ जब उनका संघर्ष होता है तब वे पकड़ में आते हैं। इससे भी सूक्ष्म-कणों से हमारे सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।[22(ख)]

जैनदर्शन में शरीर-रचना

जैन दर्शन आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं मानता। संसार दशा में दोनों का गहरा सम्बन्ध है। जिस जीव में इन्द्रिय और मानसज्ञान की जितनी क्षमता होती है उसी के अनुरूप उसकी शरीर-रचना होती है और शरीर-रचना के अनुसार ही शारीरिक प्रवृत्ति होती है। जैन दर्शन में शरीर-रचना और उसके आकार-प्रकार के विषय में गहन चिन्तन किया गया है। रचना की दृष्टि से संहनन और आकार की दृष्टि से संस्थान का विचार मननीय है।

संहनन

संहनन का तात्पर्य है– अस्थि रचना।[23] यह मत श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से एकेन्द्रिय जीवों में अस्थि रचना नहीं होती फिर भी उनमें सेवार्त[24] तथा दिगम्बर मतानुसार उनमें असंप्राप्त सृपाटिका[25] नामक संहनन होता है। देवता और नारक जीवों में एक भी संहनन नहीं होता। उनके शरीर में अस्थियां, शिराएं और स्नायु नहीं होते।[26] अस्थि-रचना आदि का अभाव इसलिए है कि वे वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। किन्तु वे प्रथम संहनन से युक्त भी होते हैं। इस संदर्भ में आचार्य हरिभद्र की परिभाषा यौक्तिक प्रतीत होती है। उन्होंने अस्थि-संचय से उपचित शक्ति-विशेष को संहनन कहा है।[27] शरीर विज्ञान के अनुसार मानव का पूरा ढांचा अस्थियों से निर्मित है। अस्थियों की लम्बी, गोल, चपटी, पतली आदि विभिन्न आकृतियां हैं। अस्थि-रचना में मुख्य योगदान 'पेराथाइराइड ग्रंथि' का है। इस ग्रंथि का मुख्य स्राव 'पेराथोर्मोन' है जो शरीर में कैल्शियम की मात्रा का निर्धारण कर हड्डियों के समुचित विकास में सहायक बनता है।[28] इस ग्रंथि को संहनन नाम कर्म का संवादी कहा जा सकता है। संहनन-संरचना में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

संहनन के प्रकार–

1. वज्रऋषभ नाराच 2. ऋषभ नाराच 3. नाराच
4. अर्धनाराच 5. कीलिका 6. सेवार्त।

(1) वज्रऋषभ नाराच संहनन– इसमें तीन शब्द प्रयुक्त हैं– वज्र, ऋषभ और नाराच। अस्थिकील के लिये वज्र, परिवेष्टन अस्थि के लिये ऋषभ और परस्पर गुंथी हुई अस्थि के लिये नाराच शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस शरीर में हड्डियां परस्पर गुंथी हुई और परिवेष्टित हो तथा अस्थिकील द्वारा कसी हुई हो उसको वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन कहते हैं। यह सर्वोत्तम और सबसे शक्तिशाली संहनन है।

(2) ऋषभ नाराच– इसमें परस्पर गुंथी हुई दो अस्थियों के छोरों पर तीसरी अस्थि का परिवेष्टन होता है।

(3) नाराच– इसमें नाराच (मर्कटबंध) पूरा होता है– अस्थियां दोनों ओर से गुंथी हुई होती है।

(4) अर्ध नाराच– अस्थियों के छोर परस्पर एक ओर से गुंथे हुए होते हैं। नाराच (मर्कट-बंध) आधा होता है।

(5) कीलिका– इसमें अस्थियों के छोर परस्पर एक दूसरे का स्पर्श किये होते हैं।

(6) सेवार्त– इस संहनन में अस्थियां परस्पर जुड़ी हुई नहीं होती हैं। केवल बाहर से शिरा, स्नायु, मांस आदि लिपट जाने से संघटित होती है। यह सबसे अधिक दुर्बल अस्थि-रचना है। धवला में इसकी तुलना परस्पर असंप्राप्त और शिराबद्ध सर्प की अस्थियों से की है। उपर्युक्त छः प्रकार की अस्थि-रचना को अग्रांकित चित्र के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है–

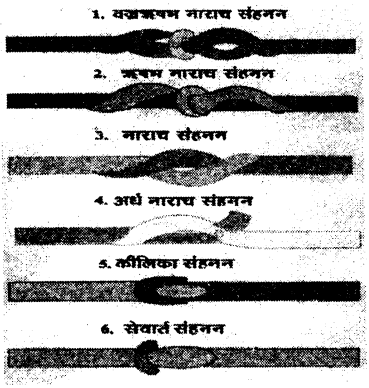

साधना और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से अस्थि-रचना का विशेष महत्त्व है। त्रेसठ शलाका पुरुषों (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) का शरीर वज्र-ऋषभ-नाराच होता है। मोक्ष की उत्कृष्ट साधना और सातवीं नरक के हेतुभूत क्रूर कर्म करने में समर्थ यही अस्थि-रचना है। वैक्रिय शरीर में अस्थियां नहीं होती, अत: नारक व देवों में संहनन भी नहीं होता। सिद्धों के शरीर ही नहीं है। शरीर बिना संहनन कैसे होगा ? पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, (मन-रहित) असंज्ञी तिर्यञ्च, असंज्ञी मनुष्य में एक मात्र सेवार्त संहनन पाया जाता है। संज्ञी (मनसहित) तिर्यञ्च और मनुष्य में छहों प्रकार के संहनन पाये जाते हैं।[29]

चिकित्सा शास्त्र में अस्थि - संरचना पर काफी ध्यान दिया गया है। उसमें 'स्वस्थ' शब्द के दो अर्थ है– स्वयं में रहना और अस्थियों का मजबूत होना। संहनन की तुलना शरीर विज्ञान के संधि संबंधी वर्गीकरण से की जा सकती है। शरीर विज्ञान में संधि के तीन प्रकार हैं–(1) सूत्र संधि (2) उपास्थि (3) स्नेहक।

संस्थान

संस्थान का अर्थ है– शारीरिक अवयवों की आकार-रचना या आकृति संस्थान इसके छ: प्रकार हैं। [30(क)] 1. समचतुरस्र 2. सादि 3. वामन 4. न्यग्रोध-परिमंडल 5. कुब्ज 6. हुण्डक।

(1) समचतुरस्र– अस्र का अर्थ है– कोण। जिस शरीर के चारों कोण प्रमाणोपेत हों, वह समचतुरस्र संस्थान है। जिस शरीर-रचना में ऊर्ध्व, अध: एवं मध्यभाग सम हो, उसे समचतुरस्र संस्थान कहा जाता है। एक कुशल शिल्पी के द्वारा निर्मित चक्र की सभी रेखाएं समान होती हैं। इसी प्रकार इस संस्थान में शरीर के सब भाग समान होते हैं।[30(ख)] भगवती वृत्तिकार के अनुसार– सम-नाभि के ऊपर और नीचे के अवयव सकल पुरूष-लक्षणों से युक्त होने के कारण तुल्य होते है।[30(ग)]

चतुरस्र का एक अर्थ है- प्रधान। जिसके अवयव सम और प्रधान हों उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। वृत्तिकार ने इसके तीन वैकल्पिक अर्थ किये हैं–

शारीरिक अवयवों के जो प्रमाण कहे गये हैं, चारों कोण उसी के अविसंवादी हो तो उसे समचतुरस्त्र संस्थान कहा जाता है। कोण का अर्थ है– चारों दिशाओं से उपलक्षित शरीर के अवयव। शरीर के चारों ही कोण न न्यून और न अधिक हों, उसे समचतुरस्त्र कहा जाता है। इस विषय में वृत्तिकार के मत से पर्यंकासन में बैठे हुए व्यक्ति के–

दोनों जानुओं का अन्तर समान हो। अथवा आसन और ललाट के ऊपरी भाग

का अन्तर समान हो। अथवा दक्षिण स्कंध से वाम जानु का अन्तर समान हो। अथवा वाम स्कंध से दक्षिण जानु का अन्तर समान हो। अथवा पर्यंकासन में बैठने पर जिसकी ऊंचाई और विस्तार समान हों, उस संस्थान को समचतुरस्त्र कहा जाता है। धवला के अनुसार समान, मान और उन्मान वाला शरीर-संस्थान समचतुरस्र है[30(घ)] समचतुरस्र की अनेक व्याख्याएं उपलब्ध हैं। इनमें वृत्तिकार द्वारा व्याख्यायित दूसरा और तीसरा विकल्प अधिक संगत प्रतीत होता है।

(2) सादि– जिस शरीर में ऊपर का भाग छोटा और नीचे का बड़ा हो, वह सादि संस्थान कहलाता है।

(3) वामन– जिस शरीर के सभी अंग - उपांग छोटे हो, वह वामन है।

(4) न्यग्रोध परिमंडल– न्यग्रोध का अर्थ है- बरगद का वृक्ष। जिस शरीर की संरचना में वटवृक्ष की तरह नाभि से ऊपर का भाग बड़ा और नीचे का भाग छोटा हो वह न्यग्रोध परिमंडलाकार कहलाता है।

(5) कुब्ज– जिस शरीर रचना में हाथ - पैर, शिर और गर्दन प्रमाण के अनुसार नहीं होते, शेष अवयव प्रमाणोपेत होते हैं और पीठ पर पुद्गलों का अधिक संचय हो वह कुब्ज है।

(6) हुण्डक– जिस शरीर में कोई भी अवयव प्रमाणोपेत नहीं है। अंग - उपांग हुण्ड की तरह संस्थित हों, वह हुण्डक संस्थान कहलाता है।

इस प्रकार संहनन का सम्बन्ध शरीर-संरचना से, विशेषत: अस्थि-जोड़ों की सुदृढ़ता से है जबकि संस्थान का सम्बन्ध शरीर के आकार-प्रकार अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई से है।

संस्थान

जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक दृष्टि से संस्थान को अधिक महत्त्व नहीं दिया क्योंकि मोक्ष प्राप्ति में कोई भी संस्थान बाधक नहीं है किन्तु संहनन की बात पर विशेष बल दिया है। सुदृढ़ शरीर यानी वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन बिना जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस अर्थ में संहनन का महत्त्व व्यक्ति के आत्मिक विकास की दृष्टि से विशेष अर्थ रखता है।

जैनेतर दर्शन में शरीर की अवधारणा

जैनेतर भारतीय दर्शनों में भी शरीर के संदर्भ में चिन्तन मिलता है। उपनिषदों में आत्मा के पांच कोषों की चर्चा हैं जो जैनदर्शन सम्मत पांच प्रकार के शरीरों से साम्यता रहते हैं। वे कोष हैं–

(1) अन्नमय कोष – स्थूल शरीर, जो अन्न से बनता है (अन्न मय वलय)

(2) प्राणमय कोष – शरीर के अन्तर्गत प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान आदि प्राणों की अवस्थिति। (प्राणमय वलय)

(3) मनोमय कोष – मन की संकल्प-विकल्पात्मक क्रिया।

(4) विज्ञानमय कोष – बुद्धि की विवेचनात्मक क्रिया।

(5) आनन्दमय कोष – आनन्द की उपलब्धि

अन्नमय कोष से औदारिक शरीर की तुलना की जा सकती है। [31]

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन में मुख्य दो तत्त्व हैं - प्रकृति और पुरूष। पुरूष कूटस्थ नित्य है। जगत् के संपूर्ण विकास और विस्तार में प्रकृति की मुख्य भूमिका रहती है। प्रकृति से महत्, अहंकार, मन, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच तन्मात्रा एवं पांच भूत उत्पन्न होते हैं।

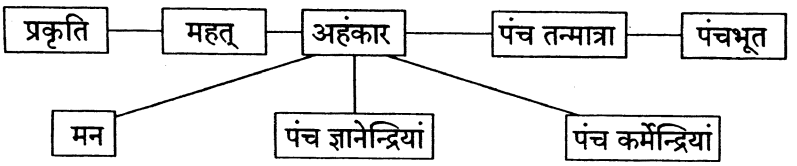

इन्ही तत्त्वों से शरीर का निर्माण होता है। प्रकृति सृष्टि के प्रारंभ में एक विशेष प्रकार का शरीर निर्मित करती है, जिसे लिंग शरीर कहते हैं। लिंग शरीर सदा साथ रहता है, उसकी गति अप्रतिहत है।

लिंग शरीर के कारण ही पूर्वजन्म, पुनर्जन्म होता है। पूर्व स्थूल शरीर का त्याग कर जीव नये स्थूल शरीर को धारण करता है। सांख्य दर्शन भी लिंग शरीर के अभाव में स्थूल शरीर की उत्पत्ति नहीं मानता। लिंग शरीर के कारण स्थूल शरीर भो ा करता है।[32] स्थूल शरीर पांचों स्थूल भूतों के योग से बनता है। यह प्रत्यक्ष है। कुछ लोग आकाश रहित चार भूतों से स्थूल शरीर की सृष्टि मानते हैं।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त में सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। ईश्वर से आकाश का उद्भव होता है। आकाश से क्रमशः स्थूल तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। यह क्रमिक विकास सूक्ष्म से स्थूल की ओर होता है। वेदान्त में स्थूल शरीर का निर्माण सत्रह अवयवों से माना है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, मन और बुद्धि ये स्थूल शरीर के अवयव हैं।[33] सूक्ष्म शरीर मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय कोष से युक्त है जो क्रमशः क्रिया, इच्छा, ज्ञान, शक्ति संपन्न होने से कार्य रूप है। कर्मेन्द्रिय के समूह को प्राणमय कोष के नाम से अभिहित किया है। इसमें क्रियाशीलता का प्राधान्य है।[34]

वेदान्त में मान्य सूक्ष्म एवं स्थूल लिङ्ग शरीर की आंशिक तुलना जैन के कार्मण शरीर एवं स्थूल शरीर की औदारिक शरीर से हो सकंती है। वेदान्त सूक्ष्म शरीर में ज्ञान, चारित्र, सुख - दुःख, व्यवहार, कर्तृत्व, व्यक्तित्व आदि के संस्कार संचित मानता है। कार्मण शरीर औदारिक आदि शरीरों का कारण है वैसे ही लिंग शरीर भी स्थूल शरीर का कारण है। कार्मण शरीर की तरह लिंग शरीर भी अप्रतिघाती है। संसार में परिभ्रमण का हेतु कार्मण शरीर की तरह लिंग शरीर ही है। जैन दर्शन सम्मत वैक्रिय, आहारक और तैजस् शरीर के समकक्ष शरीर का उल्लेख सांख्यदर्शन में उपलब्ध नहीं होता।

गर्भ - विज्ञान

भवन-निर्माण में अनेक पदार्थों की अपेक्षा रहती है वैसे ही गर्भ का निर्माण मातृज, पितृज, रसज एवं सत्वज तत्वों पर आधारित है।[35] इस संदर्भ में भगवती सूत्र में कुछ प्रश्न उठाये गये हैं जो शरीर-रचना-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा– गर्भस्थ जीव माता से कितने अंग प्राप्त करता है ?[36] भगवान महावीर ने कहा– मांस, शोणित और मस्तुलुंग (मस्तिष्कीय मज्जा)– ये तीन अंग मातृज हैं। इसी प्रकार अस्थि, अस्थिमज्जा, केश (श्मश्रु, रोम, नाखून) पितृज हैं। शेष अंग रज तथा वीर्य के सम्मिश्रण से निर्मित है।[37]

अष्टांग-हृदय में रक्त, मांस, मज्जा, गुर्दा, वस्ति आदि मृदुभाग मातृज एवं शुक्र, धमनी, अस्थि एवं केश, दाढी, नख,दांत, स्नायु आदि स्थिर भाग में पितृज योग माना है।[38]

चरक संहिता में इसकी विस्तृत तालिका मिलती है।[39]आयुर्वेद के अनुसार शरीर-निर्माण,बुद्धि, बल आदि रसज हैं। इसी प्रकार सत्व, रज और तमोगुण से विभिन्न प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का निर्माण होता है।

आयुर्वेद के अनुसार प्रथम मास में कलल तथा दूसरे मास में पिण्ड के तीन प्रकार बन सकते हैं– 1. पिण्ड, 2. पेशी, 3. अर्बुद। पिण्ड से पुरूष, पेशी से स्त्री तथा अर्बुद से नपुंसक का गर्भ तैयार होता है।[40] पांचवें मास में पांच अंग व्यक्त और उपांग अव्यक्त रहते हैं। यहां भ्रूण को सुख-दु:ख की अनुभूति होने लगती है। चेतना की अभिव्यक्ति होती है। छठे माह में स्नायु, शिरा, रोम, नख, त्वचा आदि तथा सातवें माह में सर्वांग पूर्णता और 8-9 वें माह शरीर की पुष्टि हो जाती है।[41]

जैन दर्शन के अन्तर्गत भगवती आराधना में भी इसी प्रकार का वर्णन है।[42]

आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार शास्त्र शरीर 46 क्रोमोसोम (गुणसूत्र) का समवाय है। इसमें 23 गुणसूत्र माता एवं 23 पिता से ग्रहण करता है।[43] भ्रूण के लिंग का निर्धारण पिता के शुक्र पर निर्भर है। Y क्रोमोसोम से पुत्र तथा X से पुत्री बनती है। माता के रज में केवल X रहता है जबकि पिता के शुक्र में X तथा Y दोनों होते हैं। माता के X पिता के Y का संयोग पुत्र पैदा करता है। दोनों X हो तो पुत्री पैदा होती है।

प्राचीन जैनाचार्यों ने बिना यंत्र के भी अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा गर्भस्थ प्राणी के विकास क्रम को निम्नानुसार बताया है–

प्रथम सप्ताह में कलल, दूसरे सप्ताह में अर्बुद, तीसरे सप्ताह में पेशी, चौथे सप्ताह में चतुष्कोण मांस पिण्ड के रूप में प्रकट होता है। दूसरे मास में अवयवों की रचना होती है। तीसरे मास में मासपेशियों, नाड़ी संस्थान का विकास हो जाता है।

चतुर्थ मास में माता के अंग पुष्ट होते हैं। पांचवें महीने में दो हाथ, दो पैर, सिर बनते हैं। छट्ठे मास में सर्वांगों का विकास होता है। सातवें में 900 नसें, 500 पेशियां तथा 9 धमनियां और 99,000,00 रोम कूप का विकास हो जाता हैं। सिर, दाढ़ी-मूच्छों के बालों को मिलाकर साढ़े तीन करोड़ रोम कूप कहे जाते हैं। आठवें में गर्भ प्राय : पूर्ण हो जाता है।[44]

जैनागमों में गर्भ - विज्ञान

आधुनिक विज्ञान ने सोनोग्राफी-टु -डेट-अल्ट्रा-साउंड यंत्र (2-D-USG) का आविष्कार किया है। उसके द्वारा वीडियो स्क्रीन पर गर्भस्थ शिशु के विकास की पूरी प्रक्रिया देखी जा सकती है।

यंत्र का आधार अति सूक्ष्म ध्वनि-तरंगें हैं। इनके माध्यम से फिल्म की तरह गर्भस्थ शिशु के प्रत्येक स्पंदन, स्थिति का प्रत्यक्ष संभव है। इस सारी प्रक्रिया को वीडियो कैसेट में स्थायी रूप में रिकार्ड भी किया जा सकता है। 12 या 13 सप्ताह के गर्भ में कहीं विकृति दिखाई देने पर निवारक उपायों का प्रयोग भी हो सकता है।

एक कोशिका से गर्भाधान प्रारंभ होता है। कोषों के विभाजन एवं विकास की प्रक्रिया में एक सप्ताह में ट्युब (गर्भनाल) बनता है उसके द्वारा गर्भ का माता के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। तत्पश्चात् मस्तिष्क, नर्वस सिस्टम, त्वचा, बाल, आंख और मुंह का निर्माण होता है। क्रमश: Meodrem में से हृदय, अस्थियां, गुदा आदि का विकास होता है। दो महीने के बाद विकास की गति तीव्र हो जाती है, प्रजननतंत्र का लिंग निर्धारण के साथ पूरा आकार बन जाता है।

तीसरे महीने में अंगुली जितना कद, त्वचा का आवरण अपारदर्शक तथा स्पर्श की अनुभूति होने लग जाती है। चौथे महीने से भ्रूण में हलन - चलन की प्रक्रिया उत्पन्न होती है। माता खड़ी होती है या बैठती है, चलती है या सोती है, प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया बालक करता है। यह उसके विकास-वृद्धि में सहायक बनता है। पांचवें महिने में स्वाद की अनुभूति करता है। शोधकर्ताओं के अभिमत से जन्म के समय बालक की जीभ पर 10,000 स्वाद कणिकाएं हो जाती हैं। ऑक्सीजन युक्त शुद्ध वायु गर्भनाल से प्राप्त होता है। मल-मूत्र की प्रक्रिया की शुरुआत हो जाती है। फेफड़ों की क्रिया सबसे अन्त में होती है इसलिये बच्चों को श्वास लेने का अभ्यास नहीं होता। सद्यजात शिशु में श्वसनतंत्र की तकलीफ अधिक देखने को मिलती है। जन्म से पूर्व ही बच्चा माता की आवाज से परिचित हो जाता है। माता के हृदय की धड़कन, पाचनक्रिया के समय होने वाली आवाज सुन लेता है। नींद और जागृति की क्रिया के साथ वह स्वप्न भी देखता है। माता की मानसिक और शारीरिक परिस्थिति का अनुभव भी करता है।

शरीर विज्ञान में शरीर-रचना और उसके कार्य

शरीर के विभिन्न अवयवों की कार्य-प्रणाली के अध्ययन को शरीर-क्रिया-

विज्ञान कहते हैं। शरीर क्रिया-विज्ञान को समझने के लिये शरीर रचना विज्ञान का ज्ञान भी अनिवार्य है।

मनुष्य का शरीर प्रकृति की एक विलक्षण चमत्कारिक कृति है। इसकी संरचना अत्यन्त जटिल बहुकोषीय संस्थान के रूप में है। उसके जीवित रहने का आधार भीतर में चलने वाली विभिन्न जैव-भौतिक एवं जैव-रासायनिक क्रियाओं का सम्यग् समायोजन है।

शरीर की संरचना सिमेंट, कंकरीट से बने भवन के समान है। यह अत्यन्त शक्तिशाली यंत्रों से सुसज्ज है। हृदय और फुफ्फुस निरन्तर कार्यरत पंप हैं। आंख आश्चर्यजनक कैमरा एवं प्रोजेक्टर है। कान अद्‌भुत ध्वनि व्यवस्था है। पेट रासायनिक लेबोरेटरी है। नाड़ीतंत्र संचार व्यवस्था है। मस्तिष्क कम्प्युटर है। विशेष बात यह है कि सभी यंत्र सहज रूप से एक दूसरे के सहयोग से क्रिया कर रहे हैं।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से शरीर करीब 600 खरब कोशिकाओं से निर्मित है। कोशिका शरीर की सबसे छोटी संरचनात्मक एवं क्रियात्मक इकाई है। जिसे जीव-अणु भी कहा जाता है। उसका सबसे बड़ा आकार एक पिन की टोपी से भी छोटा होता है। एक मिलीमीटर के शतांश जितने व्यास में एक महानगर की तरह सारे तंत्र है।

कोशिकाएं अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। उन्हें देखने के लिये सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की अपेक्षा रहती है। छोटी से छोटी कोशिका की लम्बाई-चौड़ाई करीब 1/200 मिली मीटर और बड़ी से बड़ी 1/4 मि.मी. होती है। कोशिकाओं के आकार-प्रकार में भिन्नता होती है। कुछ कोशिकाएं वेलनाकार, कुछ शंखाकार तथा कुछ चपटी होती है।

कोशिका की मूल संरचना में सबसे बाहर आवरण झिल्ली के आकार का होता है, जिसे कोशिका-भीत्ति कहते हैं। उसके अन्दर गाढ़ा तरल पदार्थ होता है, जिसे जीव-द्रव्य कहा जाता है। जीव द्रव्य को श्लाइडेन ने एक प्रकार का गोंद बताया है। दुजार्डिन ने इसका सार्कोड नाम दिया और कहा कि यह केवल प्राणियों में पाया जाता है। जे.ई.पार्किन्जे ने 1941 में सार्कोड को जीव द्रव्य नाम दिया।[45]

जीव द्रव्य कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिकों का मिश्रण है तथा इसमें स्वयं की कुछ विशेषताएं पाई जाती हैं। ये विशेषताएं जीव द्रव्य के जैविक गुण कहलाते हैं तथा यही जीवधारियों के नियामक होते हैं। इनकी विशेषताएं निम्नांकित हैं–

(1) गति
(2) पोषण
(3) श्वसन
(4) उत्सर्जन
(5) चयापचय
(6) वृद्धि
(7) सचेतनता
(8) प्रजनन

कोशिका का विभाजन भी आश्चर्यजनक है। एक डिम्बाणु कोशिका से करोड़ों कोशिकाओं का निर्माण होता है। इससे बड़ा आश्चर्य है निषेचित डिम्बाणु में संग्रहित असंख्य सूचनाओं का हस्तान्तरण ज्यों का त्यों सभी कोशिकाओं को कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया विद्यमान जीन के माध्यम से होती है। जीन बहुत सूक्ष्म जीवन-तत्त्व है। वह आनुवंशिक गुण-दोषों का संवाहक होता हैं।

कोशिका के केन्द्र में डी.एन.ए. यानि जीन की संरचना करने वाले 'प्रधान अणु' तथा आर.एन.ए पाये जाते हैं। वास्तु शिल्पी एवं ठेकेदार की तरह डी.एन.ए. कोशिकाओं का अधिनायक है, यह उनके क्रियाकलापों को नियंत्रित करता है। कोशिकाओं के संघटक को उसके द्वारा ही सारे आदेश दिये जाते हैं। शरीर के रंग - रूप, आकार, बनावट आदि से सम्बन्धित सभी सूचनाएं सांकेतिक रूप में जीन में अंकित है।

प्रतिक्षण लाखों-करोडों कोशिकाएं नष्ट होती हैं और नई कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। नई कोशिकाओं का निर्माण जीर्ण कोशिकाओं के विभाजन द्वारा होता है। यही शरीर की चयापचय क्रिया है। जैन दर्शन के अनुसार शरीर-रचना का मुख्य हेतु है– नामकर्म। नामकर्म चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार अपनी कल्पना से नये - नये चित्रों का निर्माण करता है। वैसे ही यह कर्म अनेक प्रकार की शारीरिक संरचना के लिए जिम्मेदार है। नामकर्म के अनेक भेद-प्रभेद हैं। उनके द्वारा विभिन्न प्रकार के शरीर सम्बन्धी कार्य सम्पादित होते हैं। जैसे– गति नाम कर्म के प्रभाव से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च आदि गतियों में जाता है। जाति नाम कर्म से जीव को आंख, कान आदि इन्द्रियों की ज्ञानात्मक शक्ति प्राप्त होती है। शरीरनाम कर्म से औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर उपलब्ध होते हैं। वर्ण नामकर्म से शरीर के गौर, कृष्ण आदि विविध वर्ण निर्धारित होते हैं। उच्छ्वास नामकर्म श्वासोच्छ्वास के तंत्र की रचना करता है।[46]

विभिन्न तंत्र और उनकी क्रियाएं

वैज्ञानिक आधार पर शरीर-रचना का मूल कोशिका है[47]कोशिकाओं से ऊत्तक, ऊत्तकों से अवयव एवं अवयवों के समूह से तंत्रों का निर्माण होता है। शरीर के विशिष्ट

कार्य संपादन में विभिन्न तंत्रों का योगदान होता है। इनका संगठित रूप ही मानव शरीर-संरचना का आधार है। तंत्रों की रचना और क्रिया निम्नानुसार है। तंत्र दस हैं–

(1) अस्थि तंत्र
(2) पेशी तंत्र
(3) त्वचातंत्र
(4) तंत्रिका तंत्र
(5) रक्तपरिसंचरण तंत्र
(6) श्वसन तंत्र
(7) पाचनतंत्र
(8) उत्सर्जन तंत्र
(9) ग्रंथि तंत्र
(10) प्रजनन तंत्र

(1) अस्थि तंत्र– अस्थि तंत्र (कंकाल तंत्र) 206 अस्थियों से निर्मित है। यह कोमल ऊतकों को सुरक्षा एवं सहारा देने में आधार भूत गतिशील ढ़ांचा है। जहां दो या दो से अधिक अस्थियां मिलती है, वहां जोड़ या संधि बनती है, हलन चलन वहीं होती है। यदि अस्थियों में जोड़ या संधि का अभाव होता तो हम प्रतिमा की भांति गतिहीन बन जाते। अस्थियों को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया गया है– (अ) सिर की अस्थियां (ब) धड़ की अस्थियां (स) भुजा की अस्थियां और (द) पैर की अस्थियां अधिकांश अस्थियां भीतर से पोली है। इनमें महत्त्वपूर्ण लाल रक्त कणों का उत्पादन होता रहता है। केल्सियम, फास्फोरस, आइरन जैसे रसायन भी इनमें रहते हैं ये अस्थियों को मजबूती प्रदान करते हैं। अस्थियों की वृद्धि 20 से 23 वर्ष की आयु तक होती हैं।

कंकाल तंत्र

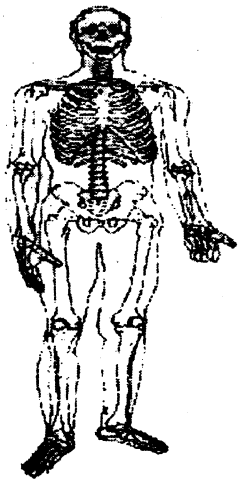

(2) पेशी तंत्र– शरीर में स्नायुओं की रचना जाल की तरह होती है। इनका वजन शरीर के वजन का 50 प्रतिशत है। स्नानु पेशियां तंतुओं से निर्मित है जो हलन - चलन में सहयोगी बनती हैं। स्नायु संयुक्त रूप से कार्य करते हैं। वे दो प्रकार के हैं– ऐच्छिक व अनैच्छिक।

ऐच्छिक– ऐच्छिक स्नायु अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते है। जैसे हाथ-पैर, पेट, मस्तक, आंख, मुंह आदि के स्नायु।

अनैच्छिक– अनैच्छिक स्नायु स्वाभाविक रूप से क्रियाशील हैं। वे हमारी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करते। जैसे– श्वासोच्छ्वास, पाचन, अवशोषण आदि।

(3)त्वचा तंत्र– त्वचा शरीर पर प्लास्तर की तरह है। त्वचा अंदरूनी ऊत्तकों की सुरक्षा करती है। त्वचा दो प्रकार की होती है– बाह्य त्वचा और अंदरूनी त्वचा। ये विभिन्न प्रकार के संवेदनों - ऊष्मा, ठंड, कोमल, कठिन, दर्द आदि स्पर्श की सूचना मस्तिष्क तक पहुंचाती हैं। त्वचा स्नायु और चर्बी का रक्षण करती है। शरीर का तापक्रम नियंत्रित करती है। अपशिष्ट पदार्थों का उत्सर्जन करती है। इसमें अल्ट्रा वायलेट किरणों की क्रिया द्वारा विटामिन डी का निर्माण होता है।

यह संवेदनों को ग्रहण करने का मुख्य साधन है जिससे हम वातावरण के प्रति सचेत रहते हैं। स्वेद-ग्रंथियां, केश, नाखून और वसामय ग्रंथियां आदि इसके सहायक अंग हैं।

(4) तंत्रिका तंत्र– यह शरीर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तंत्र है।[48] सभी तंत्रों का नियंत्रण और संयोजन इसी के द्वारा होता है। यह शरीर के समग्र क्रिया कलापों का संचालक है। किसी कारण से यदि नाड़ीतंत्र विफल हो जाये तो शरीर की सूक्ष्म एवं स्थूल सभी क्रियाएं बंद हो जाती हैं। इसके अभाव में आंखों का उन्मेष - निमेष तथा श्वासोच्छ्वास भी लेना संभव नहीं है। तंत्रिका - तंत्र के संरचनात्मक ढांचे को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– 1. केन्द्रिय तंत्रिका-तंत्र 2.परिधिगत-तंत्रिका-तंत्र।

1. केन्द्रिय तंत्रिका-तंत्र– यह तंत्र शरीर में विभिन्न अंगों का नियंत्रण, संचालन के लिये सूचना और संपर्क का काम करता है। इसके मुख्य दो अंग हैं– (अ) मस्तिष्क (ब) सुषुम्ना या मेरूदण्ड। मस्तिष्क और सुषुम्ना का सेतु है– कपालरन्ध्र ।उसके ऊपर का भाग मस्तिष्क तथा नीचे का हिस्सा सुषुम्ना है।

मस्तिष्क-रचना– सजगता के साथ की जाने वाली सभी क्रियाओं का निर्देशन मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्क अनैच्छिक क्रियाओं का संचालक भी है। अन्त:स्त्रावी ग्रंन्थियों के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है।

मस्तिष्क को शरीर का टेलीफोन एक्सचेंज, सुपर कम्प्यूटर और एटॉमिक रिअक्टर कह सकते हैं। इसकी रचना तीन खरब न्यूरोन्स एवं उससे पांच या दस गुनी संख्या में रही धूसर रंग कोशिकाओं से होती है। मस्तिष्क की न्यूरोन्स संख्या न्यून या अधिक नहीं होती है। मस्तिष्क का वजन लगभग डेढ़ किलो ग्राम है। मस्तिष्क तीन भागों में विभक्त है– (1) अग्र मस्तिष्क, (2) मध्य मस्तिष्क, (3) पश्च मस्तिक।

निम्नांकित चित्र से मस्तिष्कीय रचना और मस्तिष्कीय संचालन प्रणाली का सरलता से संबोध मिलता है–

मस्तिष्क चित्र

मस्तिष्क चित्र

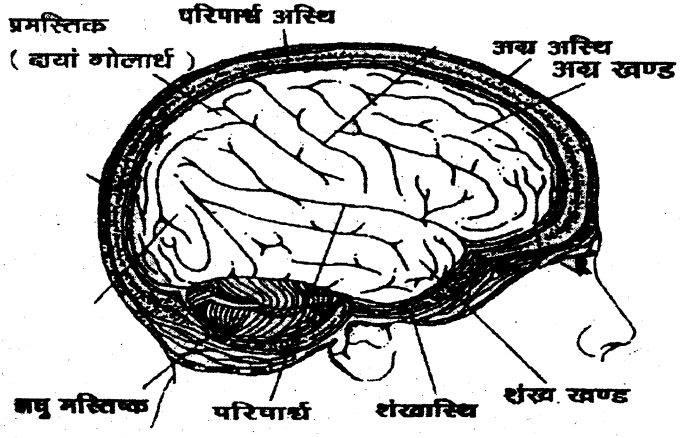

अग्र मस्तिष्क– यह व्यक्तित्व, आचरण एवं संचालन का निर्वाहक है। इसका निम्नतम बायां हिस्सा हमारी वाणी का नियंत्रक केन्द्र है।

बृहद् मस्तिष्क– अग्र मस्तिष्क एवं मध्य - मस्तिष्क मिलकर बृहद् मस्तिष्क बनाते हैं। मस्तिष्क का अधिकांश द्रव्य बृहद् मस्तिष्क में होता है। इसकी बाह्य रचना धूसर रंग के परत से और भीतरी रचना श्वेत रंग के ऊत्तकों से होती है। मस्तिष्क में

विद्यमान न्यूरोन हमारे चिन्तन - क्रिया के आधार भूत तत्त्व हैं। यह समानान्तर दो गोलार्द्धों में विभक्त है। प्रत्येक गोलार्द्ध शरीर के दूसरी ओर के समस्त ऐच्छिक क्रिया-कलापों, संचालकों का नियंत्रण करता है।

बृहद्मस्तिष्क सुपर कम्प्यूटर है। इसमें लगभग बीस हजार चीप्स हैं। हम केवल 10 प्रतिशत का ही उपयोग करते हैं। तर्क, गणित, भाषा के विकास में बायां पटल सक्रिय रहता है। अनुशासन, सहिष्णुता, समरसता, संयम, उदारता आदि में दायां पटल का योगदान है। अध्यात्म के विकास में भी यहीं पटल सहयोगी है। दोनों संवेदनों के विश्लेषण में संलग्न रहते हैं तथा शरीर के परिपार्श्व की सारी परिस्थितियों के संदर्भ में शरीर की अपेक्षाओं की देखभाल करते हैं।[48(ख)]

बृहद्मस्तिष्क के गोलार्द्धों के तल पर चेतक और अवचेतक हैं। चेतक मध्यरेखा के समीप है। यह सिर, धड़, हाथ - पैरों के समग्र संवेदनात्मक सूचनाओं को ग्रहण कर आवश्यक कार्यवाही करता है तथा उन्हें बृहद्मस्तिष्क प्रान्तस्था एवं सुषुम्ना तक पहुंचाता है। अवचेतक चेतक के नीचे अवस्थित है। हमारे शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्थितियों में यह महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसके मुख्य कार्य हैं–

(1) हृदयगति और रक्तचाप का नियमन। (2) तापवृद्धि एवं तापहानि का नियंत्रण। (3) आहार की मात्रा, भोजन - प्रणाली का नियमन। (4) जल के ग्रहण एवं विसर्जन का नियमन। (5) सजगता एवं निद्रा का उत्प्रेरण। (6) काम-वृत्ति का उद्दीपन। (7) मनोवृत्तियों (क्रोध,ज्ञान, भय आदि) का नियमन।[48(ग)]

पश्च मस्तिष्क– यह लघु मस्तिष्क एवं मस्तिष्क डण्डी का संयुक्त रूप है। यह बृहद् मस्तिष्क के नीचे तथा मस्तिष्क के नीचे पीछे की ओर है। शरीर के संतुलन और सूक्ष्म संचालन में लघु-मस्तिष्क का नियंत्रण रहता है। मांसपेशियां अनावश्यक संकुचन न करे तथा बृहद् मस्तिष्क के आदेश का उचित रूप से पालन करे, यह सारा दायित्व लघु-मस्तिष्क पर है।

मध्य मस्तिष्क, नि:सेतु एवं आयताकार अन्त:स्था या सुषुम्ना शीर्ष इन तीनों का संयुक्त नाम ही मस्तिष्क डण्डी है। शारीरिक हलन - चलन से सम्बन्धित अनेक नियोजक केन्द्र इसमें है। नि:सेतु श्वेत द्रव्य से निर्मित है और प्रसारण केन्द्र के रूप में कार्य करता है।[48(घ)]

मस्तिष्क में विद्युत तरंगों की विशेषता

तरंग	आवृत्ति	वोल्टेज	स्थिति
अल्फा	10 - 12	50	जब आंखे बंद होती है, उस समय पृष्ठ मस्तिष्क कार्यरत रहता है। अन्य विचारों का संपर्क नहीं रहता।
बीटा	13 - 25	5-10	संवेदना और मानसिक कार्यों से जब अग्र-मस्तिष्क उत्तेजित होता है।
डेल्टा	1 - 5	20-200	निद्रा में और मस्तिष्क में कुछ क्षति हुई हो उस समय ये तरंगें उत्पन्न होती हैं।
बीटा	5 - 8	10	मानसिक तनाव और पश्चखण्ड अत्यधिक उत्तेजित अवस्था में हो, उस समय में तरंगें उत्पन्न होती हैं।

मस्तिष्कीय तरंगें

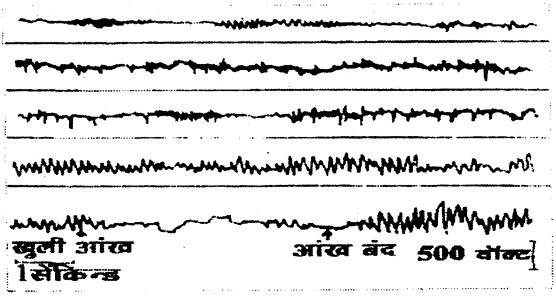

मस्तिष्कीय कार्य

संवेदन के समस्त केन्द्र मस्तिष्क में है। आंखें देखती है, जीभ स्वाद लेती है किन्तु इनके संवेदन केन्द्र इनके पास नहीं, मस्तिष्क में हैं। मस्तिष्क एक कारखाना है। इसमें अनेक जटिल एवं शक्तिशाली यंत्र सतत कार्यरत हैं। उनमें पांच संवेदी यंत्र हैं– 1. स्पर्श 2. स्वाद 3. गंध 4. दृश्य 5. ध्वनि संवेदन।

स्पर्श संवेदन

इसे दर्शन की भाषा में स्पर्शनेन्द्रिय कहा जाता है। त्वचा से जो संवेदन होता है उनमें मुख्य है– दबाव, वेदना, उष्ण, शीत आदि। त्वचा की मुख्यतः तीन परतें हैं– 1. बाह्य त्वचा 2. अन्तस्त्वचा और 3. अधस्त्वचा।

संवेदन के संग्राहक तंत्रिकाएं अन्तस्त्वचा में सर्वाधिक होती हैं। रासायिक उद्दीपकों से प्राप्त उत्तेजना जब ग्राहक कोशिकाओं द्वारा तंत्रिका तंतुओं में पहुंचती है और वे तांत्रिकी आवेग जब मस्तिष्क के पार्श्विक खण्ड में पहुंचते है तब त्वक् संवेदन की अनुभूति होती है।

त्वचा जन्य अनुभूति में त्वचा के केश कण जवाबदार है। इनका सम्बन्ध ज्ञान तंतुओं से है, उनके द्वारा अनुभवों को मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं।

स्वाद संवेदन

स्वाद का संवेदन जीभ से होता है किन्तु इसमें गले का अगला भाग, कंठ नली और तालु भी सहयोगी हैं। जीभ के ऊपरी सतह पर स्वाद कण होते हैं। खुराक के रासायनिक तत्त्वों से स्वादकण उत्तेजित होते हैं। उनके साथ जुड़े हुए ज्ञान तंतु संदर्भगत संदेशों को मस्तिष्क तक पहुंचाते हैं, तब स्वाद का बोध होता है। विज्ञान के आधार पर प्राथमिक स्वाद चार हैं– खट्टा, मीठा, नमकीन और कड़वा। जीभ के अग्र भाग मीठे एवं नमकीन, दोनों किनारे खट्टे तथा पिछला भाग कड़वे स्वाद के लिए विशेष संवेदन शील है। स्वाद कलिकाएं जिह्वा के गर्तों में पाई जाती है, जिन्हें रसांकुर भी कहते हैं।

गन्ध संवेदन

गंध की संवेदना नाक के द्वारा होती है। घ्राणेन्द्रिय का सीधा सम्बन्ध प्रमस्तिष्क से है। मनुष्य में करीब 60,000 गंधों में भेद करने की क्षमता है। नाक के अंदर घ्राण-तंत्रिका हैं। प्रत्येक तंत्रिका में लाखों सूक्ष्म-तंत्रिका अंतांग होता है। गंध तंत्रिका पर एक परत है जिसे म्युकष मेम्ब्रेन्स कहा जाता है। जब हवा द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म रासायनिक तत्त्व नाक में प्रविष्ट होते हैं, तब श्लेष्म परत में ही हुई श्लेष्म ग्रंथियों से स्राव होता है। यह स्राव गंध तंत्रिका के ज्ञान तंतुओं को उत्तेजित करता है, जिससे गंध का अनुभव होता है।

दृश्य संवेदन

नेत्रपट के ज्ञानतंतु दो प्रकार के हैं प्रथम प्रकार के संग्रहक सली आकार की पतली और लम्बी कोशिकाएं हैं जो मंद और साध्य प्रकाश में कार्य करती है। दूसरी, शंकु आकार में छोटी मोटी कोशिकाएं जो दिन के तेज प्रकाश में काम करती है।

मनुष्य के नेत्र में लगभग बारह करोड़ सली और करीब पच्चास लाख शंकु कोश

होते हैं। दोनों कोषों के साथ जुड़ी हुई तंत्रिका तंतुओं की संख्या लगभग दस लाख हैं। जिनके माध्यम से दोनों नेत्रों के दाएं भागों में तंत्रिका आवेग प्रमस्तिष्क के दायें खण्ड में तथा बायें भागों के बाएं दृष्टि खण्ड में पहुंचते है और दृष्टि बोध होता है। मनुष्य की आंखें 3,40,000 रंगों को देखने की क्षमता रखती है। आंख के उपर्युक्त स्वरूप को निम्नांकित चित्र में दर्शाया गया है–

नेत्र संरचना

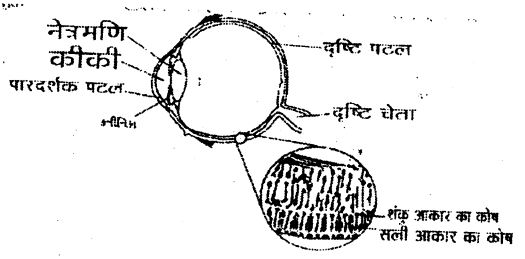

शब्द संवेदन

शब्द ग्रहण का साधन कान है। वैज्ञानिक दृष्टि से कान के तीन विभाग है।[49] (1) बाह्य कान (2) मध्य कान(3) आन्तरिक कान।

बाह्य कान

बाह्य कान में मुख्य कर्ण पल्लव, कर्णनली और कर्णपट्ट का समावेश है। बाह्य दृश्य कर्ण पल्लव श्रवण की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण काम नहीं करता। कर्ण पल्लव से संपृक्त कर्णनली की लम्बाई करीब 1 ईंच के बराबर है। उसमें से जो स्राव निकलता है, वह कर्णनली को स्निग्ध बनाये रखता है। कर्णनली के छोटे-छोटे बाल हानिकारक तत्त्वों को अंदर प्रवेश नहीं देते। कर्णनली के अन्तिम सिरे पर कर्णपटल है। जब ध्वनि-तरंगें कर्णनली से अंदर आकर कर्णपटह से टकराती है तब कर्णपटल प्रकंपित होता है।

मध्य कान

मध्य कान में अवस्थित तीन अस्थियां अन्तरकान के साथ जुड़ी है। ध्वनि प्रकंपन कर्णपटल को प्रकंपित करता है तब मध्यकर्ण में ध्वनि तरंगें अस्थि प्रवाह में बदल जाती है।

अन्तरकान

अन्तर कान की रचना विचित्र है। वह दो प्रकार की है– 1. कर्णावर्त्त नलिका 2. कर्ण शंख। कर्णावर्त्त लम्बी नलिका है जो आधार से चोटी तक क्रमशः पतली

और घोंघे के आकार में मुड़ी हुई है। कर्णावर्त ही सबसे अधिक संवेदनशील अंग है। जिसमें लगभग 24,000 लोम कोशिकाएं होती हैं। इन कोशिकाओं के माध्यम से श्रवण तंतुओं में तंत्रिकी आवेगों की उत्पत्ति होती है। आवेग मस्तिष्क तक पहुंचते है, तब ध्वनि का बोध होता है। मनुष्य के कर्ण 20,000 ध्वनि तरंगों के लिये विशेष संवेदनशील है।

श्रवण - क्रिया और संरचना

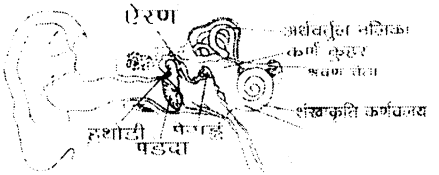

ज्ञानेन्द्रिय एवं संवेदन प्रक्रिया की जानकारी के लिए उपयोगी चार्ट निम्नानुसार है–

क्र.	संवेदन रूप	ज्ञानेन्द्रिय	उद्दीपक	सांवेदनिक अनुभव
1.	दृष्टि	नेत्र	प्रकाश	रंग, प्रकाश
2.	श्रवण	कर्ण	ध्वनि	स्वर, शोर
3.	गंध	नासिका	गंध कण	गंध
4.	रस	जिह्वा	तरल पदार्थ	मीठा, खट्टा
5.	त्वक् संवेदन	त्वचा	दबाव, स्पर्श, तापीय शक्तियां	चाप संवेदन,पीड़ा, स्पर्श शीत आदि

ये सभी संवेदी केन्द्र मस्तिष्क में है।

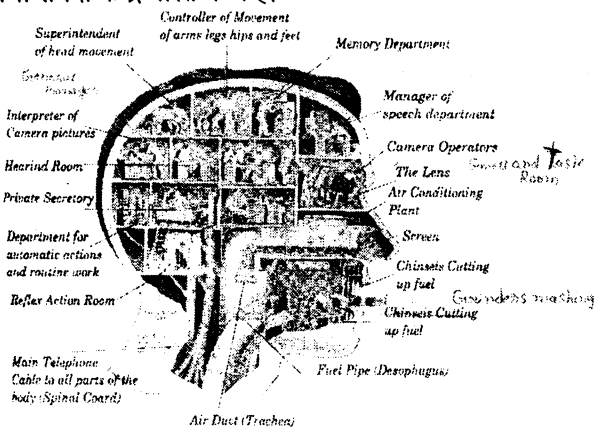

In this picture the various parts of the head are illustrated in a technical instead of a physiological way. Where the various parts of the brain are illustrated in detail and the scientific names of the various centres are given. The brain does the work of a great central telephone exchange; while in the spinal cord are groups of nerve cells acting as local exchanges.

सुषुम्ना/मेरूदण्ड की रचना और कार्य

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र का दूसरा मुख्य अंग है– सुषुम्ना। सुषुम्ना स्नायविक पदार्थों से बनी हुई वर्तुलाकार लम्बी तंत्रिका है। यह कपाल-रन्ध्र से प्रारंभ होकर मेरूरज्जु की कशेरू-नलिका में से गुजरती हुई कटि के दूसरे निलय तक पहुंचती है। अन्तिम छोर पर तंत्रिकाओं का गुच्छा सा है। सुषम्ना 45 सेंटीमीटर लम्बी है। इसकी रचना श्वेत और धूसर दो रंगों से होती है। सुषुम्ना की पूरी लम्बाई से तंत्रिका के युग्म निकलते हैं। प्रत्येक तंत्रिका युग्म में ज्ञानवाही और क्रियावाही– दो प्रकार की तंत्रिकाएं होती हैं। दोनों मिलकर सूचना के आदान-प्रदान का कार्य करती है। ज्ञानवाही तंत्रिकाएं इन्द्रियों द्वारा संग्रहित संदेशों को मस्तिष्क तक पहुंचाती है और क्रियावाही मस्तिष्क से प्राप्त संचालन-सम्बन्धी संदेशों को धड़ एवं पैर की मांसपेशियों तक पहुंचाती हैं।[49(ख)]

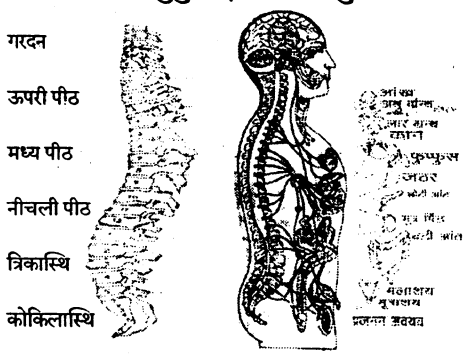

सुषुम्ना का महत्त्वपूर्ण कार्य निश्चित प्रकार के संवेदनात्मक संदेशों की अविलंब प्रतिक्रिया के लिये प्रतिवर्त सहज क्रिया– केन्द्रों का प्रबंध करना है। जो क्रिया अनैच्छिक रूप से स्वत: हो जाती हैं वे प्रतिवर्त सहज-क्रिया कहलाती है।[50] अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध सिर्फ सुषुम्ना से है। मस्तिष्क की उनमें कोई भूमिका नहीं रहती। प्रतिवर्त क्रिया अनैच्छिक क्रिया है। यह बहुत ही सरल तथा जन्म जात होती हैं।

ऐच्छिक एवं अनैच्छिक क्रियाएं

बालक जन्म के समय से ही कुछ न कुछ क्रिया एवं प्रतिक्रिया करने लगता है। इनसे वह वातावरण में अपने एकीकरण की चेष्टा करता है। अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएं

जीवनभर चलती है। उन क्रियाओं को ऐच्छिक, अनैच्छिक इन दो भागों मे विभक्त किया है।[51]

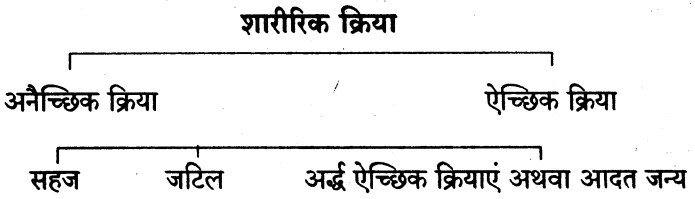

ऐच्छिक क्रियाएं अपने उद्देश्य पूर्ति अथवा रूचि-संतुष्टि के लिये चेतना रूप से की जाती है। ये क्रियाएं अर्जित होती हैं क्योंकि इन्हें सीखते हैं।

जटिल क्रिया-मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया होती हैं। इसमें ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक तीनों तरह की मानसिक क्रियाएं होती है। इसके अतिरिक्त इस क्रिया का सम्पादन शरीर के किसी एक अंग से नहीं होता, पूरा शरीर सक्रिय रहता है। चिड़ियों का घोंसला बनाना या मधुमक्खी का छत्ता बनाना एक जटिल क्रिया है।

यद्यपि मैक्डूगल ने मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया में संज्ञात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक - तीनों तरह की मानसिक प्रक्रियाओं की चर्चा की है तथापि उसने भावात्मक पहलु या संवेग पर अधिक जोर दिया है। मैक्डूगल ने मुख्य चौदह मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

प्रत्येक मूल प्रवृत्ति किसी न किसी प्रकार के भाव या संवेग से सम्बद्ध होती है। उदाहरण के लिये - भागने की मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध भय के संवेग से होता है। ऐच्छिक क्रियाएं चेतन तथा अर्जित होती हैं जबकि अनैच्छिक क्रियाओं का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। अनैच्छिक क्रियाओं में छह प्रकार की क्रियाएं समाविष्ट है।[52] (1) स्वंय संचालित क्रियाएं (2) आकस्मिक क्रियाएं (3) सहज क्रियाएं (4) सम्बद्ध सहज क्रियाएं (5) भावनाजन्य क्रियाएं (6) मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएं।

(1) स्वंय संचालित क्रियाएं– हमारे शरीर की बहुत सी क्रियाएं स्वयं संचालित हैं जो शरीर को जीवित रखने के लिये परमावश्यक है।

इनके संचालन में प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे– रक्त-संचार, हृदय की धड़कन, आहार का पाचन, श्वासोच्छ्वास। आन्तरिक अवयवों की क्रिया संचालन का क्षेत्र तंत्रिका-तंत्र के 'स्वायत्त तंत्रिका संस्थान' के अन्तर्गत आ जाता है। स्वायत्त

तंतुओं का सम्बन्ध हाइपोथेलेमस के साथ है जो मस्तिष्क का ही एक भाग है। यही उनका नियंत्रण करता है।

(2) आकस्मिक क्रियाएं– आकस्मिक क्रियाएं उद्देश्यहीन एवं अव्यवस्थित होती हैं। जैसे– शिशु का बराबर हाथ-पांव हिलाते रहना, आंख की पुतली को घुमाना आदि।

(3) सहज क्रियाएं– सहज क्रियाओं को सीखा नहीं जाता, सहज रूप से चलती है। जैसे– छींक आना, कांटा चुभने पर तत्काल हाथ-पैर हटा देना, जंभाई लेना।

सहज क्रिया के प्रकार– (1) दैहिक क्रिया (2) ज्ञानात्मक क्रिया।

दैहिक सहज क्रियाओं में पता नहीं चलता। जैसे– आंख में कुछ गिर जाने से आंसू आ जाना। तेज रोशनी से आंख की पुतली का सिकुड़ना आदि दैहिक सहज क्रियाएं शरीर में नियमित रूप से होती रहती है।

ज्ञानात्मक सहज क्रियाएं– इन क्रियाओं के होने पर व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है कि क्रिया हो रही है। जैसे– मुंह में लार आना, खांसना आदि।

(4) सम्बद्ध सहज क्रिया– इस क्रिया में उद्दीपन का बड़ा महत्त्व है। जैसे– लार का टपकना, खाने के उद्दीपन द्वारा होता है। हाथ पर पिन चुभाने (उद्दीपन) से हाथ खींचने की क्रिया होती है। यदि पिन न चुभाई जाये तो खींचने की क्रिया भी न होगी।

(5) भावनाजन्य क्रियाएं– भावना जन्य क्रियाओं में संकल्प– शक्ति का महत्त्व नहीं है। ये क्रियाएं उस समय होती हैं जब व्यक्ति आवेश में होता है। किसी कार्य का चिन्तन आते ही जो कार्य बिना किसी नियंत्रण के हो जाता है, उसे भावना जन्य क्रिया कहते हैं। जैसे– कोई व्यक्ति बात कर रहा है। सामने धरती पर पिन पड़ी है, अपनी बात-चीत का सिलसिला चालु रखते हुए पिन को उठा लेता है।

(6) मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाएं– मां के मन में बच्चे के प्रति गहरा वात्सल्य होता है। बालक के मन में मां के प्रति अनादर होने के बावजूद भी मां का प्रेम कम नहीं होता। यह मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया है।[53]

मानव शरीर की रचना एवं ऐच्छिक-अनैच्छिक क्रियाओं की दृष्टि से तो इसमें तंत्रिकातंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

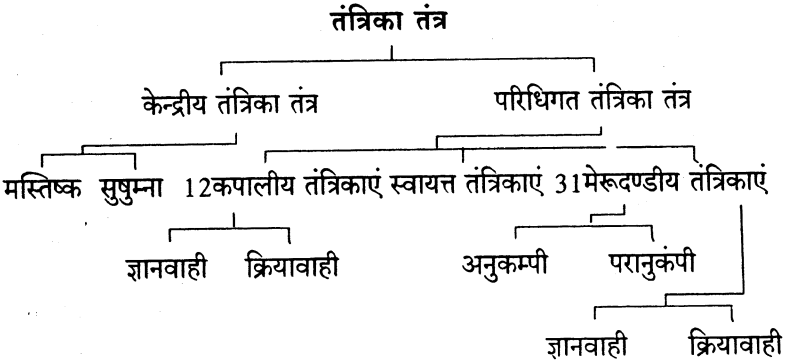

तंत्रिका तंत्र का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है– स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र। इसके द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की गतिविधियों को नियंत्रित और नियोजित किया जाता है। तंत्रिका तंत्र में जो अंग विशेष क्रियाशील हैं, वे तीन हैं– 1. स्वायत्त तंत्रिका तंत्र 2. प्रमस्तिष्क वल्क 3. हाइपोथेलेमस ।

इन तीनों की कार्य प्रणाली की संक्षिप्त जानकारी निम्नानुसार हैं–

1. स्वायत्त तंत्रिका तंत्र– यह हमारी अनैच्छिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है। स्वायत्त तंत्रिका के दो रूप हैं– (अ) अनुकम्पी तंत्रिकातंत्र (ब) परानुकंपी तंत्रिकातंत्र।

स्वायत्त तंत्रिकातंत्र के दोनों विभाग कार्य में एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। अनुकंपी क्रियाशील होता है, व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है और उसके द्वारा नियंत्रित सभी क्रियाएं तेजी से होने लगती हैं। परिणाम-स्वरूप सांस की गति, हृदय और नाड़ी की गति, खून का दौरा, रक्तचाप आदि बढ़ जाते हैं। परानुकंपी सक्रिय होकर उसे कम कर देता है।

दोनों तंत्रों की क्रियाएं एक-दूसरे के विरोधी होती हुई भी पूरक है। शान्त और प्रसन्न रहना, अनुकंपी एवं परानुकंपी की सहभागिता पर निर्भर है।

एक अवधारणा थी कि संवेग में केवल अनुकंपी तंत्र ही क्रियाशील रहता है लेकिन कुत्ते, बिल्ली, मनुष्य आदि पर किये गये प्रयोगों से अब स्पष्ट हो गया है कि विभिन्न संवेगों में परानुकंपी तंत्र भी क्रियाशील रहता है।

रक्तपरिसंचरण तंत्र– यह शरीर का परिवहन तंत्र है।[54] शरीर की प्रत्येक कोशिका को जीवित एवं कार्यक्षम रखने के लिये प्राणपोषक तत्त्वों के वितरणार्थ एक यातायात के माध्यम की अपेक्षा रहती है। रक्त-परिवहन तंत्र इस कार्य का संवाहक है। आहार,

पानी, ऑक्सीजन एवं अन्य आवश्यक तत्त्वों को ऊत्तकीय कोशिकाओं तक पहुंचाना तथा वहां अवशिष्ट पदार्थों का निष्कासन करना इसका प्रमुख कार्य है।

इसमें मुख्य सहयोगी हैं– हृदय, फेफड़े, महाधमनी, धमनियां, महाशिरा, कोशिकाएं और शिराएं।

रक्त को सतत गतिशील रखने में प्रेरक है– हृदय की धड़कन। हृदय खोखली मांसपेशी के रूप में चार खण्डों में विभाजित होता हैं। आलिन्द हृदय का छोटा ऊपरी कोष्ठ है। जिसमें शिराओं द्वारा रक्त आता है। निलय हृदय का बड़ा निचला कोष्ठ है जो रक्त को बाहर निकालता है। अर्थात् हृदय के दांयें ऊपर के कोष्ठ में अशुद्ध रक्त आता है। उसी समय बांयें ऊपरी कोष्ठ में फेफड़ों से शुद्ध रक्त आता है। वहां से वाल्व द्वारा अशुद्ध रक्त दांयें नीचे के कोष्ठ में जाता है। शुद्ध रक्त बांये नीचे कोष्ठ में पहुंचता है।

निलयों की संकोचन और प्रसारण क्रिया द्वारा अशुद्ध रक्त फेफड़ों में एवं शुद्ध रक्त पूरे शरीर में पहुंचता है। हृदय की धड़कन प्रतिमिनट करीब 70-72 होती हैं। प्रसारण 49 प्रति सैकिण्ड तथा संकोचन 36 चलता है। शारीरिक श्रम के समय धड़कन बढ़ जाती है।

हृदय का भार पुरूषों में करीब 300 ग्राम, स्त्रियों में 250 ग्राम होता है। यह एक आश्चर्यकारी पम्प है। एक मिनट में लगभग 5 लीटर का रक्त शरीर में यातायात कर लेता है और प्रतिदिन यह पम्प शरीर की रक्त नलिकाओं के माध्यम से लगभग 1 लाख कि.मी की लम्बाई में रक्त प्रवाहित कर लेता है। रक्त परिसंचरण तंत्र के अन्तर्गत रक्त वाहिकाओं लाल तथा श्वेत रक्त कणिकाओं के योगदान को रेखांकित करना भी प्रासंगिक हैं–

रक्त वाहिकाएं– रक्त वाहिकाएं मुख्यत: तीन प्रकार की है[55]– धमनियां, शिराएं और केशिकाएं।

हृदय से शरीर को रक्त पहुंचाने का कार्य धमनियों का है। शरीर से हृदय की ओर रक्त प्रवाहित करना शिराओं का कार्य है। केशिकाएं बहुत सूक्ष्म होती हैं। रक्त कणिकाओं को एक-एक की पंक्ति से गुजरना पड़ता है। वे कोशिका ऊत्तकों में व्याप्त होकर केशिकाओं से संपर्क करती है। अपने साथ लाये हुए ऑक्सीजन आदि आवश्यक पदार्थ रक्त द्वारा उन्हें सौंप देती है तथा कार्बन आदि निष्कासित पदार्थ रक्त में विसर्जित कर देती है। आदान-प्रदान की यह क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि प्रविष्ट होने वाला प्रत्येक रक्त-दल किसी एक कोशिका में एक से तीन सेंकिण्ड ही ठहर पाता है।

शरीर का और कोई अंग हृदय जितना कठोर श्रम नहीं करता, इसके लिये ऊर्जा की खपत भी अधिक होती है। खाद्य के रूप में शरीर को जो ऊर्जा प्राप्त होती है उसका प्राय: आधा भाग हृदय क्रियाशील रखने में खर्च हो जाता है। शरीर को प्राप्त होनेवाली ऑक्सीजन का 25% भाग भी उसी के निमित्त खर्च हो जाता है। हृदय को अन्य अंगों की अपेक्षा दस गुना अधिक पोषण की अपेक्षा रहती है। आलिन्द और निलय में विद्यमान रक्त से उसका संपोषण नहीं होता। उसके लिये विशेष व्यवस्था है।

दो हृदय धमनियां महाधमनी में से निकल कर हृदय के दांयें-बांयें होती हुई ऊपर तक जाती है। ये धमनियां किसी कारण से अवरुद्ध हो जाये और हृदय को पर्याप्त पोषण न मिले तो दिल का दौरा होने की संभावना रहती है।

लाल कणिका – लाल कणिकाएं और श्वेत कणिका दोनों का शरीर में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रक्त के छोटे से बिन्दु में भी पचास लाख लाल कणिकाओं का समावेश हो जाता है। रक्त में विद्यमान लोहा युक्त प्रोटीन पदार्थ रक्त को लाल बनाये रखता है। लालकणिकाओं का कार्य फुफ्फुसों से ऊत्तकों तक ऑक्सीजन लाना और कार्बन को अल्पमात्रा में वहां से ले जाना है।[55(क)]

श्वेतकणिका– ये लाल कणिका से कुछ बड़ी होती है। इनमें हिमोग्लोबिन नहीं रहता इसलिये रंग विहीन होती है। रक्त में इनकी संख्या प्रति घन मी.मी. 7000 से 10,000 होती हैं। शरीर की रोगों से रक्षा करना इनका मुख्य कार्य है। लाल-कणिका की अपेक्षा ये अधिक क्रियाशील होती हैं।

खून की सफाई किडनी में होती है। यह विजातीय तत्त्वों का मूत्र वाहिनियों द्वारा निष्कासन करती है। यदि फेफड़े व्यवस्थित कार्य नहीं करते हों तो रक्त में रहे हुए कार्बन और विजातीय द्रव्यों का पूरा निष्कासन नहीं होता जिससे किडनी को अधिक श्रम करना पड़ता है। फलस्वरूप उसकी निष्कासन क्षमता कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में अवशिष्ट विजातीय द्रव्य त्वचा द्वारा बाहर निकलते हैं इसे चर्मरोग कहा जाता है।

श्वसन तंत्र– जीने के लिये ऑक्सीजन की अनिवार्य अपेक्षा है। भोजन एवं पानी के अभाव में व्यक्ति कुछ समय तक जी सकता है किन्तु प्राणवायु के बिना संभवत: कुछ क्षणों से अधिक जी पाना संभव नहीं है।[55(ख)] शरीर की प्रत्येक कोशिकाओं को अपने कार्य सम्पादन में ऑक्सीजन जितना जरूरी है उतना ही आवश्यक कार्बन का निष्कासन जरूरी है। श्वसन-तंत्र इन दोनों की आपूर्ति करता है।

श्वसन तंत्र के सहयोगी अंग है– नाक, ग्रसनी, श्वास-प्रणाल, श्वसनी, श्वसनिका आदि। ये सभी एक दूसरे से शृंखलाबद्ध जुड़े हुए हैं। इनके माध्यम से हवा भीतर फेफड़ों तक पहुंचती है। जहां वायु का आदान-प्रदान होता है।

मनुष्य के दोनों फेफड़ों में लगभग 30 करोड़ से 65 करोड़ तक श्वास-प्रकोष्ठ होते हैं। मनुष्य अपने जीवन काल में करीब 1,3 करोड़ घन फीट हवा ग्रहण कर लेता है। रक्त फेफड़ों से ऑक्सीजन का आयात कर कोशिकाओं में निर्यात करता है। शरीर में ऑक्सीजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि मस्तिष्क को तीन मिनट ऑक्सीजन न मिले तो उसकी कोशिकाएं मृत हो जाती है। उन्हें पुन: जीवित नहीं किया जा सकता। फेफड़े कार्यक्षम रह सके इसलिये हवा के आगमन और निर्गमन पथ का साफ और विस्तृत रहना जरूरी है। इस तथ्य को निम्नांकित चित्र के माध्यम से समझा जा सकता है–

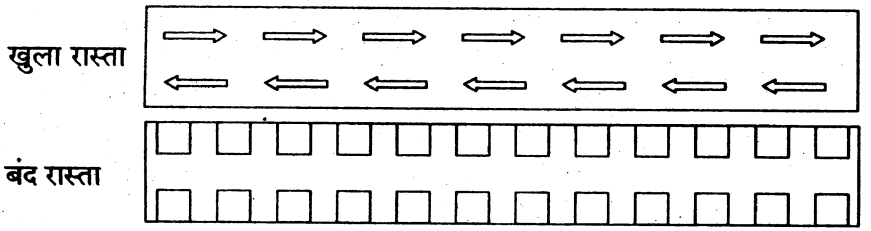

ऑक्सीजन जब प्रत्येक कोशिका में पहुंचता है तो वहां उसका ऑक्सीकरण (उपचय) होता है। ऑक्सीकरण के बाद ऊर्जा मुक्त होती है जो ए.टी.पी. (एडिनोसीन ट्राइफोस्फेट) रूप में संग्रहित की जाती है। ऊर्जा को ग्रहण एवं विसर्जन करने वाली क्रियाओं को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य (ए.टी.पी.) करता है। पदार्थों की चयापचय क्रिया से जो ऊर्जा मुक्त होती है उसका संग्रह ए.टी.पी. अणुओं में रहता है। ए.टी.पी. आवश्यकतानुसार ऊर्जा का वितरण करता है। जैसे पृथक्-पृथक् वस्तुओं के क्रय-विक्रय में धन का उपयोग किया जाता है। वैसे ही कोषीय क्रियाओं के व्यवहार में ए.टी.पी. निमित्त है।[55(ग)]

शरीर विज्ञान की दृष्टि से श्वसन-क्रिया के दो प्रकार हैं– बाह्य श्वसन, आन्तरिक श्वसन। जब फुफ्फुस की भीतरी हवा का दबाब बाह्य वातावरण के दबाव से अधिक होता है तब हवा फुफ्फुस से बाहर आती है उसे नि:श्वसन या बाह्य श्वसन कहते हैं। इससे विपरीत जब बाहर के वातावरण का दबाव भीतर के दबाव से अधिक होता है तब हवा भीतर प्रवेश करती है, उसका नाम अन्त:श्वसन है।

दोनों प्रकार के दबावों का अन्तर तनुपट एवं अन्य मांस-पेशियों की क्रिया से उत्पन्न किया जाता है। श्वसन क्रिया में मुख्य रूप से तीन अवयव संभागी हैं।

(1) तनुपट

(2) अन्तरापर्शुक (पंसलियों से संपृक्त पेशीसमूह)

(3) हंसली की मांसपेशियां

श्वास की क्रिया में इन तीनों का योगदान है। तनुपट के संकुचन से छाती का विस्तार 400 घन सेन्टीमीटर जितना बढ़ जाता है। यदि श्वास लम्बा या गहरा हो तो तनुपट को 1.5 सेंटीमीटर तक नीचे खिसकाया जा सकता है। तनुपट वक्षीय गुहा एवं उदर गुहा के बीच में स्थित रहता है। छाती के संकोच और विस्तार के साथ इसका भी संकोच-विस्तार सहज होता है। नाक श्वसन तंत्र का प्रवेश द्वार है। नथुनों में छोटे - बड़े बाल रक्षा पंक्तियां है, जो भीतर प्रवेश करने वाली हवा के अनावश्यक कणों को आगे बढ़ने से रोक देती है। नाक की गुहा में स्थित श्लेष्म-झिल्ली हवा को आर्द्र और गर्म बनाती है और सूक्ष्म कण या कीटाणुओं को भी रोकती है। ग्रसनी मुंह एवं कंठ के साथ सम्बन्ध रखती है। श्वास-प्रणाल कंठ के नीचे से प्रारंभ होकर छाती तक पहुंचती है। यह 11 सेंटीमीटर लम्बी होती है।

श्वास निरन्तर चलनेवाली अनैच्छिक क्रिया है। सामान्यत: व्यक्ति एक मिनट में लगभग 14 से 20 श्वासोच्छ्वास लेता है। किन्तु तापमान की न्युनाधिकता, दर्द, भावनात्मक प्रेरणा, वय आदि कुछ ऐसे कारण है, जिनमें श्वास की सामान्य गति में परिवर्तन हो जाता है।

श्वास के द्वारा प्राणवायु फुफ्फुस तक पहुंचती है। रक्त वाहिनियां, शिराएं और धमनियां फेफड़ों से जुड़ी हुई है। वे प्राणवायु को ग्रहण कर लेती है और कार्बन डायोक्साईड छोड़ देती है। यह विनिमय कार्य सतत् चालू रहता है।

सामान्य श्वसन-क्रिया के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रतिवर्त सहज क्रियाओं के दौरान हमारे श्वसन-पथों का उपयोग होता है। खांसना और छींकना– ये दोनों रक्षणात्मक प्रतिवर्त-सहज क्रियाएं हैं, जिनसे श्वसन-पथों की सफाई होती हैं।

पाचनतंत्र– यह शरीर का रासायनिक तंत्र है।[55(घ)] शरीर के लिये आवश्यक पोषक द्रव्यों का उत्पादन यहीं होता है। इस निर्माण में जिस ऊर्जा की खपत होती है, उसकी आपूर्ति के लिये भोजन आवश्यक है।

भोजन की पाचन क्रिया जिस अवयव से होती है, उसे भोजन - प्रणाली कहते हैं। इसका प्रथम प्रवेश द्वार है - मुंह। मुंह एक प्रकार की गुहा हैं। जीभ, दांत, लार-ग्रंथियां तीनों उसमें मददगार हैं। दांत भोजन को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर पीसते है। लार-ग्रंथियां लार-रस भोजन में मिलाकर भोजन की रासायनिक क्रिया एवं पाचन में योगदान देती है।

भोजन जब अन्ननली के माध्यम से आमाशय में जाता है, वहां तक पहुंचने में अन्ननली के संकुचन और विस्तरण की क्रिया होती है। आमाशय में पेप्सिन और रेनीन जैसे पाचक रस भोजन में मिलते हैं। रेनीन दूध को जमाकर उसके ठोस भाग को अलग करता है। पेप्सिन प्रोटीन के पाचन में क्रिया करता है। आमाशयिक रस का उत्पादन सतत् होता रहता है चाहे आमाशय खाली हो या भरा हुआ।

आमाशय की आकृति बड़े खोखले थैले की तरह है इसकी लम्बाई करीब 22 सेण्टीमीटर होती है। उसमें भोजन भरने की क्षमता 1.5 से 2 लीटर तक मानी जाती है। तीन से पांच घण्टों तक भोजन उसमें पड़ा रहता है। उसके बाद अर्धप्रवाही पक्वाशय में चला जाता है।

छोटी आंत– छोटी आंत भोजन प्रणाली का चौथा अवस्थान है। वह 7 मीटर लम्बी है। प्रारंभ का 9 इंच जितना भाग पक्वाशय कहलाता है। पक्वाशय के बाद 7 से 8 फुट लम्बा भाग मध्यांत्र है और 15 से 16 फुट लम्बे विभाग को शेषांत्र कहते हैं। पाचन क्रिया में पक्वाशय का अत्यधिक महत्त्व है।[56(क)]

मध्यांत्र छोटी आंत का 2/5 वां भाग है, इससे अधिक भाग शेषांत्र का है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट्स, वसा का जेजूनम और इलियम से गुजरते समय शोषण हो जाता है। लवण, खनिज, केल्सियम, पोटेशियम, सोडियम, लोहा, फास्फोरस, आयोडीन, विटामिन आदि मुख्य तत्त्व भोजन से प्राप्त होते हैं। विटामिन का शोषण सामान्यत: छोटी आंत द्वारा होता है तथा लवण और पानी का शोषण बड़ी आंत में।

बड़ी आंत– छोटी आंत में आहार का सार तत्त्व कोशिकाओं द्वारा शोषित हो जाता है, अवशिष्ट है वह बड़ी आंत में जाता है। बड़ी आंत सर्वोत्तम गटर व्यवस्था है। अपशिष्ट में 60% पानी और क्षार तत्त्व होते हैं। बड़ी आंत का कार्य पानी एवं लवण का शोषण तथा मल का विसर्जन करना है। बड़ी आंत का प्रथम भाग ऊर्ध्वगामी कहलाता है। अन्त का भाग मलाशय है, जहां से मल का विसर्जन होता है। मल विसर्जन की क्रिया में विलम्ब हो जाये तो मलाशय की दीवार मल में उपस्थित पानी एवं अन्य तरलांश का

अतिरिक्त अवशोषण कर लेती है जिससे मल कठोर हो जाता है। इससे कोष्ठ बद्धता पैदा होती है।

यकृत तथा पित्तीय-यंत्र– यकृत पाचन तंत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें 500 रसायन तैयार होते हैं। यकृत का मुख्य कार्य पित्त का निर्माण करना है। यह प्रतिदिन औसतन एक लीटर पित्त का स्राव करता है। उसका संग्रह पित्ताशय में होता है। यकृत की तुलना गाड़ी में लगे रेडिएटर से की जा सकती है। यकृत एक बहि:स्रावी ग्रंथि है। यदि लीवर पर्याप्त मात्रा में पित्त का निर्माण न करे तथा उसका प्रवाह मुक्त रूप से पक्वाशय से छोटी आंत में प्रवाहित न हो तो पाचनतंत्र में तेजाबी असर बढ़ जाता है। शरीर का तापमान भी अधिक हो जाता है। इससे पेट और अन्ननली में जलन महसूस होने लगती है। फलस्वरूप अल्सर हो जाता है। शरीर के अनेक अवयवों की कार्यदक्षता यकृत पर निर्भर है।

क्लोमग्रंथि आमाशय के ठीक पीछे पेट की पिछली दीवार से सटी हुई है। शरीर में सबसे बड़ी ग्रंथियों में पहला स्थान लीवर का है, दूसरा क्लोमग्रंथि का। यह प्रतिदिन 600 से 800 मिलीलीटर स्राव करती है। स्राव दो प्रकार के है– बहि:स्राव, अन्त:स्राव। बहि:स्राव में कई प्रकार के खमीर होते हैं जो स्टार्च (श्वेतसार) तथा प्रोटीन को पचाने में उपयोगी बनते हैं। क्लोम रस का एक ट्रीप्सीन नामक खमीर भोजन में स्थित प्रोटीन और पेप्टोन पोलिपेप्टाइड तथा एमिनो एसिड में बदलता है। दूसरा खमीर स्टार्च को शर्करा में तथा तीसरा खमीर वसा को फेटी एसिड और ग्लिसरीन में परिणत करता है।

क्लोमग्रन्थि के भीतर छोटे-छोटे कोष-समूह हैं जिन्हें लेंगरहेन्स के द्वीप कहा जाता है। क्लोमग्रंथि की अन्त: स्रावी क्रिया के लिये लेंगरहेन्स ही जिम्मेदार होते हैं। इनमें दो प्रकार की कोशिकाएं होती है– (अ) अल्फा और (ब) बीटा। बीटा इन्सूलीन नाम का अन्त:स्राव उत्पन्न करती है जो ग्लूकॉज को ग्लायकोजन में रूपान्तरित कर खून में शर्करा का स्तर सामान्य बना देता है। अल्फा ग्लूकोगोन अन्त:स्राव उत्पन्न कर ग्लायकोजन को आवश्यकता के अनुसार ग्लोकॉज में रूपान्तरित कर देता है, रक्त में ग्लुकॉज का स्तर बढ़ा देता है। इस प्रकार इंसुलिन और ग्लूकोगोन दोनों मिलकर रक्त में शर्करा का स्तर संतुलित रखते हैं। मानव शरीर में 100 मिलीग्राम रक्त में लगभग 0.07 से 0.12 ग्राम ग्लूकोज होता है जो जीवन के लिये आवश्यक है। उसका प्रमाण 0.14 या उससे अधिक हो जाता है तब स्थिति चिन्ताजनक बन जाती है। उससे मधुमेह (डायाबिटीज) की बीमारी हो जाती है।[56(ख)]

उत्सर्जन तंत्र– शरीर में सतत चलने वाली जैव रासायनिक प्रक्रिया चयापचय क्रिया के रूप में जानी जाती है। चयापचय का अर्थ है– उत्पादन और विसर्जन। चयापचय क्रियाओं के दौरान अनावश्यक एवं हानिकारक तत्त्व घन प्रवाही तथा वायु रूप में पैदा हो जाते हैं। घन पदार्थों का विसर्जन मलोत्सर्ग की क्रिया द्वारा किया जाता है। वायु-स्वरूप उत्पन्न कार्बन डायोक्साईड का उच्छ्वास द्वारा निष्कासन होता है। प्रवाही और नाईट्रोजन युक्त द्रव्यों को जिन अंगों द्वारा दूर किया जाता है, उसे उत्सर्जन तंत्र कहते हैं। विसर्जन करने वाले मुख्य अंग इस प्रकार है– फुफ्फुस, त्वचा, गुर्दे (किडनी), मूत्र वाहिनियां, मूत्राशय, मूत्रमार्ग आदि। फुफुसीय एवं पाचन-तंत्रीय अपशिष्ट की चर्चा पीछे कर चुके हैं। अत: यहां मूत्र-प्रणाली में सहयोगी गुर्दे आदि के सम्बन्ध में विमर्श कर रहे हैं।

शरीर में सेम के बीज के आकार वाले गुर्दों का युग्म होता है। ये सर्वाधिक श्रमशील अवयव हैं। प्रतिदिन 175 लीटर पानी इनसे गुजरता है। उससे विषैले तत्त्वों को छाना जाता है। इस क्रिया से लगभग 1.5 लीटर जितना मूत्र बनता है। मूत्राशय में उसका संग्रह होता है। मूत्र मार्ग से फिर उसे शरीर से बाहर निकाला जाता है।

प्रत्येक गुर्दे में 10 लाख से कम छेद नहीं होते। गुर्दे का कार्य मूत्र का उत्पादन और उसके माध्यम से अपशिष्ट पदार्थों का निष्कासन करना है। शरीर में एक निश्चित मात्रा में पानी का होना जरूरी है। पानी को सुरक्षित रखने में उत्सर्जन तंत्र की सहायता रहती है। मूल जलीय घोल में 16 प्रतिशत पानी और 4 प्रतिशत अकार्बनीय एवं कार्बनिक अपशिष्ट द्रव्य होते हैं। अकार्बनिक द्रव्यों में मुख्यत: नमक (सोडियम क्लोराईड) तथा अन्य लवण होते हैं। कार्बनिक में यूरिया, यूरिक एसिड, एमोनिया आदि प्रमुख हैं। 1.5 लीटर मूत्र के विसर्जन में अकार्बनिक अपशिष्ट 25 ग्राम एवं कार्बनिक 35 ग्राम रहते हैं। गुर्दों के कार्यों में अवरोध आने पर विषैले अपशिष्ट पदार्थ रक्त एवं शरीर के ऊत्तकों में बढ़कर अन्तत: शरीर को विषाक्त बना देते हैं।[56(ग)]

शरीर की रचना बड़ी अद्‌भुत है। अलग-अलग अंगों एवं तंत्रों में विविध कार्यों के लिये श्रम-विभाजन व्यवस्था नैसर्गिक है। आमाशय के पास पाचन का कार्य है, उत्सर्जन तंत्र उत्सर्जना का दायित्व संभालता है। प्रत्येक अंग अपने-अपने कार्य में स्वतंत्र होते हुए भी इनमें परस्पर सामञ्जस्य है। इस व्यवस्था में नाड़ी संस्थान और अन्त:स्रावी ग्रंथि-तंत्र जिम्मेदार हैं।

चयापचय क्रिया– शरीर में चयापचय की क्रिया भी निरन्तर चलती है। इनका स्वरूप भी निम्नानुसार ज्ञातव्य है–

अपचयात्मक अभिक्रियाएं– इन क्रियाओं के दौरान कोशिकाओं में प्रविष्ट सूक्ष्म द्रव्यों को सूक्ष्मतर तत्त्वों में विभाजित किया जाता है अथवा उनके ऑक्सीकरण के द्वारा उनमें संग्रहित रासायनिक ऊर्जा को मुक्त किया जाता है।

चयात्मक अभिक्रियाएं– इन क्रियाओं में कोशिकाओं के भीतर प्रविष्ट सूक्ष्म द्रव्यों का संश्लेषण कर शरीर के मूलभूत रसायनों का निर्माण किया जाता है। कोशिकाओं में ये दोनों विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषात्मक अभिक्रियाओं की समग्रता ही 'चयापचय' है। चयापचय क्रिया की तुलना मोटर से कर सकते हैं। मोटर पेट्रोल से चलती है। पेट्रोल ऊर्जा उत्पादन करता है। मोटर की गति में ऊर्जा का व्यय होता है किन्तु साइलेन्सर के धुआं उगलने पर अपेक्षाकृत शक्ति का अधिक व्यय होता है। चयापचय की यही स्थिति है। यह क्रिया बड़ी जटिल है। कुछ ग्रंथियां जैसे– स्वेद - ग्रंथि, लार - ग्रंथि आदि जिन स्रावों का उत्पादन करती है वे नलिकाओं के माध्यम से प्रवाहित होते हैं और उत्पादन - स्थान के निकटवर्ती स्थानों को प्रभावित करते हैं। ऐसी ग्रंथियों को बहि:स्राव ग्रंथि कहते हैं। यकृत, क्लोमग्रंथि, गुर्दे भी इसी प्रकार की ग्रंथियां हैं।

ग्रंथि का निर्माण विशेष प्रकार की कोशिकाओं के समूह से होता है। प्रत्येक ग्रंथि एक रासायनिक कारखाने के समान है जिनमें एक-एक कोशिका रासायनिक स्रावों के उत्पादन का कार्य करती है।

अन्त:स्रावी ग्रन्थि-तंत्र और उसकी क्रियाएं

अन्त:स्रावी ग्रंथियां नलिकाविहीन होती हैं। उनके स्राव सीधे रक्त-प्रवाह में छोड़े जाते हैं जो पूरे शरीर में प्रवाहित होते हैं। इन स्रावों का व्यक्ति की शारीरिक क्रियाओं, मनोदशाओं, व्यवहार, आचरणों पर प्रभाव पड़ता है। मुख्य अन्त:स्रावी ग्रंथियों का प्रेक्षाध्यान, हठयोग और शरीर विज्ञान की दृष्टि स्थान निम्नानुसार है–[56(घ)]

अन्त:स्रावी ग्रंथियां	केन्द्र	चक्र	स्थान
पीनियल	ज्योतिकेन्द्र	सहस्रार चक्र	ललाट के मध्य
पिच्युटरी	दर्शन केन्द्र	आज्ञा चक्र	भृकुटियों के मध्य
थाइराइड-पैराथाइराइड	विशुद्धि केन्द्र	विशुद्धि चक्र	कण्ठ

थायमस	आनन्द केन्द्र	अनाहत चक्र	हृदय
एड्रीनल	तैजस् केन्द्र	मणिपुर चक्र	नाभि
गोनाड्स (नाभि चक्र)	स्वास्थ्य केन्द्र	स्वाधिष्ठान चक्र	पेडू
गोनाड	शक्ति केन्द्र	मूलाधार चक्र	पृष्ठ रज्जु के नीचे का छोर

इन ग्रंथियों के स्राव जैव रासायनिक-यौगिक के रूप में होते है। स्राव को ग्रीक भाषा में हार्मोन कहते हैं। हार्मोन का अर्थ है– मैं उत्तेजित करता हूं। अल्पमात्रिक स्राव भी अधिक प्रभावी होते हैं। चयापचय, वृद्धि, प्रजनन, रूपान्तरण, काम - प्रवृतियां, जल - नियमन आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों का नियंत्रण करने का दायित्व इन्हीं स्रावों पर होता है। अन्त:स्रावी ग्रन्थियों का स्वरूप और कार्य इस प्रकार है–

पीनियल ग्रंथि– इस ग्रंथि का स्थान मस्तिष्क के मध्य में होता है। परिधिगत स्वत: संचालित नाड़ीतंत्र के साथ इसका सम्बन्ध है। इससे होनेवाला स्राव अन्य ग्रंथियों के स्रावों का नियमन करता है, सोडियम, पोटेशियम और पानी के प्रमाण को संतुलित रखता है। यह आकार में गेहूं के दाने जितनी और वजन में एक ग्राम से भी कम है। यह ग्रंथि यदि अपना कार्य न करे तो प्रतिभा का विकास नहीं होता, रक्तचाप बढ़ जाता है, समय से पूर्व काम-वृत्ति का उद्रेक हो जाता है, मस्तिष्कीय मेरूजल के परिभ्रमण पर नियंत्रण नहीं रहता। जीवन के प्रारंभिक दो-तीन वर्षों में शिशु के विकास का दायित्व इसी पर है। इस प्रकार भौतिक और मानसिक विकास को व्यवस्थित रखने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पिच्युटरी ग्रंथि– इसे मुख्य या पीयूष ग्रंथि भी कहा जाता है। अन्त:स्रावी ग्रंथियों में यह प्रधान है। सभी ग्रंथियों को कार्य सम्पादन का आदेश यहीं से मिलता है। हमारे मनोबल, निर्णायक शक्ति, स्मृति और श्रवण-शक्ति पर भी इसका नियमन है। पिच्यूटरी जागृत होकर व्यवस्थित कार्य करे तो व्यक्ति महान् प्रतिभाशाली, प्रख्यात लेखक, कवि, वैज्ञानिक, दार्शनिक बन जाता है। शरीर के विकास के लिये भी यह जिम्मेदार है। शरीर का कोई भी अंग इसके प्रभाव से वंचित नहीं है। मटर के दाने जितना उसका आकार दो भागों में विभाजित है– अग्रखण्ड और पृष्ठ खण्ड। प्रत्येक खण्ड के अपने अपने उद्‌गम स्रोत, कार्य तथा स्राव हैं। अग्रखण्ड में होने वाले स्राव । (ग्रोथ हॉर्मोन) और पृष्ठ खण्ड में (सोमेटो ट्रोपिक हॉर्मोन) है जो कार्बोहाईड्रेट के चयापचय और वृद्धि पर नियंत्रण करते है। अग्रखंड सम्पूर्ण अन्त:स्रावी तंत्र का नियामक है।[57(क)]

पृष्ठखंड नाड़ीतंत्र की ही एक शाखा के रूप में कार्य करता है। यदि किसी कारण से पिच्यूटरी में क्षति हो जाती है तो उसके फलस्वरूप अन्य अन्त:स्रावी ग्रंथियों की कार्यजा शक्ति भी गड़बड़ा जाती है। नासिका एवं मस्तिष्क के नीचे के भाग में होने वाले रक्त-संचरण के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

थाइराईड– यह ग्रंथि स्वर यंत्र के समीप श्वासनली के ऊपरी छोर पर स्थित है। इसका महत्त्वपूर्ण स्राव है– थाइरोक्सिन। थायरोक्सिन का स्राव एक दिन में एक ग्राम के दसवें हिस्से जितना होता है। थाइराईड में कमी होने पर बहुत कम मात्रा में स्राव होता है अथवा स्राव न हो तो बालक का शरीर लम्बा नहीं होता, और मस्तिष्क के कोषों पर प्रभाव होने से मंद बुद्धि होता है। थायरोक्सिन का मूल रसायन आयोडिन है।

भोजन में आयोडिन उचित प्रमाण में नहीं मिलता तब थाइराईड ग्रंथि मोटी हो जाती है। गला फूल कर बेडोल बन जाता है। थाइरोक्सिन की अनुपस्थिति से शरीर की जैविक क्रियाएं बहुत शिथिल हो जाती हैं। नाड़ी की गति मंद हो जाती है।

रक्त के आयोडिन युक्त कणों को अपनी ओर आकर्षित करने की इस ग्रंथि में विशेष क्षमता है। भय, क्रोध आदि संवेगों में इसका स्राव असंतुलित हो जाता है। रासायनिक संरचना में असामान्य परिवर्तन भी गंभीर परिणाम पैदा कर देता है। यह मस्तिष्क और प्रजनन के अवयवों के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करती है। इस ग्रंथि को विपुल मात्रा में रक्त की आपूर्ति की जाती है। थाइराईड शरीर में ऊर्जा उत्पादन का मुख्य अवयव है। इसके स्राव शरीरगत विषों का प्रतिकार करते हैं और मस्तिष्क के संतुलन को बनाये रखते हैं।

पैराथाइराईड ग्रंथि– थाइराईड के पृष्ठभाग में अवस्थित यह चार भागों में विभक्त है। इसके स्राव को 'पेराथोर्मोन' कहते हैं। यह ग्रन्थि शरीर में केल्सियम और फास्फोरस के चयापचय का नियंत्रण तथा विजातीय तत्त्वों का निष्कासन भी करता है। आत्म-संयम, संतुलित स्वभाव, हृदय की पवित्रता, प्रेम, सद्भाव, उच्च-विचार जैसे मानवीय गुणों के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। विटामिन डी की पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति होने पर इसके स्राव व्यवस्थित कार्य करते है।[57(ख)]

थायमस ग्रंथि– यह ग्रंथि छाती के मध्य में हृदय से थोड़ी सी ऊपर की ओर होती है। इसका रंग भूरा होता है। शिशुवय में शारीरिक- विकास का नियंत्रण थायमस करती है। 13 वर्ष की आयु तक विकास का अधिकतर अंश पूर्ण हो जाता है। इसका महत्त्वपूर्ण कार्य है– काम-ग्रंथि को सक्रिय न होने देना, जिससे यौवनावस्था के उन्मादों

का निरोध होता रहता हैं। मस्तिष्क के सम्यग् - विकास में भी इसकी सहायता रहती है। वृद्धावस्था में इसकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। थायमस और पिनियल ग्रंथि के स्राव समान रूप से कार्य करते हैं।

एड्रीनल ग्रंथि– यह ग्रंथि शरीर के अग्नि तत्त्व का नियमन करती है। एड्रीनल का नियामक पिच्युटरी का अन्तःस्राव (ACTH / एड्रीनोकोर्टिकोट्रोपिक हार्मोन) है। हाईपोथेलेमस का स्राव प्रोलोक्टन इन्हीविटींग हार्मोन मातृत्व प्राप्त होने से पूर्व दूध के स्राव को रोकता है। एड्रीनल ग्रंथियां जोड़े के रूप में दायें-बायें अवस्थित हैं। अन्य सभी ग्रंथियों की अपेक्षा सबसे अधिक स्राव एड्रीनल करती है। यह करीब तीन दर्जन प्रकार के स्राव करती है, जिनमें अनेक स्राव जीवन के लिये अनिवार्य होते हैं। यह यकृत, लीवर, गॉलब्लडर, पाचन, रस तथा पित्त के निर्माण कार्यों में संतुलन बनाये रखती है। इसके दो प्रकार हैं– (अ) एड्रीनल कार्टेक्स और (ब) एड्रीनल मेड्यूला।[57(ग)]

ग्रंथि के ऊपरी भाग में स्थित-ग्रंथि को एड्रीनल कार्टेक्स कहते है। इससे तीन प्रकार के स्राव निकलते हैं। इनका संयुक्त नाम है 'ऐड्रीनोकोर्टिकल हार्मोन्स। कार्टेक्स के स्राव मस्तिष्क तथा प्रजनन-अवयवों के स्वस्थ विकास को प्रेरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनसे मानसिक एकाग्रता तथा शारीरिक सहनशीलता का विकास बढ़ता है। मस्तिष्क और एड्रीनल कार्टेक्स में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मस्तिष्क का संतुलित विकास एड्रीनल कार्टेक्स की स्वस्थता पर निर्भर है। एड्रीनल मेड्युला एड्रीनल ग्रंथियों के अन्दर की तरफ़ अवस्थित है। मेड्यूला दो महत्त्वपूर्ण हार्मोन्स का स्राव करती हैं– (अ) एपीनेफ्रीन और (ब) नोर एपीनेफ्रीन (नोर एड्रेनलिन)।

भय, दर्द, निम्न रक्तचाप, भावनात्मक उद्वेग आदि स्थितियां इन होर्मोन के उत्तेजन में निमित्त बनती हैं। नोर एपीनेफ्रीन स्नायविक संचार-माध्यम का कार्य भी करता है। एड्रीनल मेड्युला का समग्र क्रिया-कलाप अनुकम्पी नाड़ी-तंत्र से सम्बन्ध रखता है। एड्रीनलिन ज्यों ही रक्त में प्रवेश करता है, नाड़ी-तंत्र के तनाव और शारीरिक बल में असामान्य वृद्धि होती है। हृदय की धड़कन, रक्तचाप और शरीर में तापमान की वृद्धि होती है। यकृत में ग्लायकोजन का ग्लुकोज में रूपान्तरण, श्वासनली के स्नायुओं के कार्यों में वेग आदि कार्य भी एड्रेनलिन करता है। इस प्रकार उत्तेजना, भय, क्रोध आदि की तीव्र स्थितियों में एड्रेनलिन संग्रहित करने वाले भंडार रिक्त हो जाते हैं। एड्रीनलिन के अभाव में अनिर्णायकता, चिन्तातुरता, रोने की अधिक प्रवृत्ति बन जाती है।

गोनाड्स काम-ग्रन्थियां– स्त्री और पुरूष के लैंगिक अवयवों को गोनाड्स कहते हैं। ये प्रजनन की अटूट श्रृंखला को चालू रखने का कार्य करते हैं, नई प्रजोत्पत्ति के बीज पैदा करते हैं। गोनाड्स अन्त:स्त्रावी ग्रंथियों के रूप में इस प्रकार के होर्मोन्स का स्राव करते हैं जिनसे स्त्रीत्व और पुरूषत्व जागृत रहता है।

शुक्रपिण्ड के अन्त:स्राव को सामूहिक रूप से एन्ड्रोजन कहते है। उनमें मुख्य स्त्राव है टेस्टोस्टेरोन / स्त्री-पुरूष के व्यक्ति और व्यवहार में पाये जाने-वाले सामान्य भेदों में टेस्टोस्टेरोन जिम्मेदार है। स्त्री की आवाज सुरीली, त्वचा में चिकनापन, शारीरिक-सौन्दर्य का हेतु एस्ट्रोजन है।

दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में लड़की के शरीर में स्थित जैविक घड़ी के रूप पीनियल ग्रंथि से संकेत मिलने पर हाईपोथेलेमस के निश्चित अंश जागृत एवं सक्रिय हो जाते हैं। स्राव के माध्यम से पिच्युटरी के अग्र खंड को निर्देश भेजा जाता है कि वह तंतु उत्तेजक स्राव (फोलिकल स्टिम्यूलेटिंग होर्मोन) के स्राव को प्रारंभ करे, पिच्युटरी से यह स्राव डिम्बाशय तक पहुंचने पर उसकी कार्यशक्ति की सक्रियता से एस्ट्रोजन का स्राव प्रारंभ हो जाता है।

स्त्रियों की तरह पुरूषों में भी पिच्युटरी के होर्मोन वृषण की क्रियाओं को नियंत्रित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

लैंगिक परिवर्तन भी गोनाड्स के स्राव पर निर्भर है। काम ग्रंथियों के सम्यग् विकास एवं कार्यक्षमता द्वारा तारूण्य सुरक्षित रह सकता है।

अन्त:स्रावी ग्रंथियों की सक्रियता या निष्क्रियता से होने वाले प्रभावों को संक्षेप में निम्न चार्ट के द्वारा भी समझ सकते हैं।[57(घ)]

सक्रियता	निष्क्रियता
1) पीनियल– यह तीसरी आंख है। काम ग्रंथियों एवं शरीर में जल संतुलन रखती हैं।	1. शिशुवय में कामवासना की जागृति, रक्तचाप, पानी की वृद्धि।
2) पिच्युटरी : यह ग्रंथियों में प्रधान है। मानसिक और शारीरिक विकास का संतुलन।	2. बालक बौना बनता है। शरीर स्थूल हो जाता है। व्यक्ति उद्दण्ड असत्यभाषी बन जाता है।

3) थाइराईड : पेराथाइराईड-केल्सियम एवं फोस्फोरस का संतुलन और शारीरिक विकास का दायित्व।	3. चर्बी में वृद्धि,जड़ता,दांत की तकलीफ, दुर्बलता, पेशियों में आंटे, चंचलता।
4) थायमस : 15 वर्ष की अवस्था तक रोगों से सुरक्षा।	4. बीमारी, जड़ता आदि।
5) एड्रीनल : पित्ताशय, लीवर, रक्त का परिभ्रमण, रक्तचाप और प्राणवायु का संतुलन, चारित्र निर्माण।	5. भीरुता, कार्यशक्ति की कमी, पित्त, एसीडिटी, सिरदर्द।
6) गोनाड्स : शरीर की गर्मी और प्रजनन के अनुरूप स्राव,संतुलन, आकर्षण शक्ति पर नियमन ।	6. प्रजनन कार्य में क्षति, कम या अधिक मासिक, स्वप्न दोष, हस्तदोष, अनाकर्षकता,चर्बी में वृद्धि आदि

इस प्रकार शरीर के नियमन एवं रक्षण में अन्त:स्रावी ग्रंथियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग की भाषा में इन्हें चक्र कहा जाता है तथा प्रेक्षाध्यान पद्धति में केन्द्र कहा जाता है। अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्राव शरीर और मन को कर्म की तरह ही प्रभावित करते हैं। ग्रंथियों के स्राव की खोज ने चिकित्सा जगत् में नई क्रांति पैदा की हैं। मानस-विश्लेषण और शारीरिक विकास की विद्या को नया आयाम दिया है।

नाड़ी ग्रन्थि और उसके कार्य

शरीर के मुख्य रूप से दो नियंत्रक तंत्र हैं—नाड़ी तंत्र और अन्त: स्रावी ग्रंथि तंत्र। दोनों तंत्रों के क्रिया-कलापों में विलक्षण सामञ्जस्य हैं। शरीर तंत्र का संचालन दोनों के संयोग से होता है।

अन्त:स्रावी ग्रंथि-तंत्र अपने कार्यों का निष्पादन रासायनिक नियंत्रक स्रावों (हार्मोन) के माध्यम से करता है। इनके स्राव सीधे रक्त में मिलकर पूरे शरीर में प्रवाहित होते हैं। प्रत्येक ग्रंथि के स्राव हमारे शरीर और मन को प्रभावित करते हैं। जिससे शारीरिक और मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। व्यक्ति की वृत्तियों का मूल स्रोत नाड़ी-ग्रंथि तंत्र (न्यूरो एण्डोक्राइन सिस्टम) है।

आवेश और आवेग केवल कामनाओं को उत्पन्न ही नहीं करते बल्कि उनकी पूर्ति के लिये बाध्य भी करते हैं। व्यक्ति अपनी क्रियाओं को संतुलित इसलिये कर पाता

है कि हार्मोन्स उसके अवयवों को गति प्रदान करते हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया गया कि ग्रंथियों को निकालने पर उसकी आंगिक क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती हैं।

गोनाड्स, एड्रीनल, थाईराइड, पेंक्रियाज, पिच्युटरी ग्रंथियों के हार्मोन्स पर प्रयोग करके शरीर वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि प्रत्येक हार्मोन्स का जीव की क्रियाओं पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। चूहों पर इंजेक्सन द्वारा हार्मोन्स की मात्रा कम या अधिक की गई। उससे चूहों की क्षमता एवं दैहिक क्रियाओं में परिवर्तन हो गया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्राव के अल्पस्रवण या अतिश्रवण से जो प्रभाव या लक्षण प्रकट होते हैं, व्यक्तित्व-निर्माण में उनका बड़ा योग है।

हमारी वृत्तियां, वासनाएं, क्रियाएं, आवेग या आवेश अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र की ही अभिव्यक्तियां हैं। ग्रंथि तंत्र ही सभी आदतों का उद्‌गम - स्थल है। नाड़ी तंत्र में तो वे अभिव्यक्त होती हैं।

नाड़ी तंत्र में मुख्य कार्य चार हैं– [58]

(अ) संज्ञापन– सूचना को वातावरण से तथा शरीर के अन्दर से प्राप्त कर उसे मस्तिष्क तक पहुंचाना एवं मस्तिष्क से पुन: शरीर तक संदेश भेजना।

(ब) समन्वय – शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करना, जिससे व्यवहार समन्वित हो सके।

(स) संचयन– अनुभवों का संचयन करना, जिससे बाद में भी वे कार्य के आधार बन सके।

(द) कार्ययोजन– भविष्य के कार्यों की योजना बनाना।

संवेगात्मक व्यवहार

मनोविज्ञान में संवेग का आधार स्व चालित तंत्रिका तंत्र तथा विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्रावों को माना गया है। सामान्य रूप से संवेग की व्याख्या तीन रूपों में की जा सकती है–

(1) संवेग एक चेतन अवस्था के रूप में

(2) संवेग व्यवहार के रूप में

(3) संवेगीय अनुभव

1. विभिन्न दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बाह्य घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण

के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की जागृत अवस्थाएं चेतन अवस्थाओं के कारण होती हैं। ये चेतन अवस्थाएं ही संवेग कहलाती हैं।

2. संवेग में विभिन्न प्रकार के व्यवहार शामिल हैं– जैसे मुस्कराना, हंसना, चिल्लाना, भागना, श्वास लेना आदि। इनके अतिरिक्त मानव या पशु में कुछ स्व संचालित व्यवहार संवेग के कारण होते हैं। उदाहरण के लिए भय के समय रक्त-चाप और चीनी की मात्रा बढ़ जाती है। संवेग की अवस्था में ग्रंथियों का स्राव बढ़ना या कम होना स्व संचालित संवेगीय प्रतिक्रियाओं के उदाहरण हैं।

3. संवेगीय अनुभव, जैसे भय, उत्तेजना आदि इतनी जटिल क्रियाएं होती है कि इनको शारीरिक आधार पर समझना कठिन है। ऐसे अनुभव अंत:स्रावी ग्रंथियों के प्रभाव से ही होते हैं।[59] प्रारंभ में संवेगों में दैहिक तथ्यों का विशेष महत्त्व रहा है। किन्तु नये अन्वेषण से इस विषय में नये तथ्य सामने आये है। कैनन तथा वार्ड जैसे मनोवैज्ञानिक जहां संवेग का मुख्य स्थान थेलेमस स्वीकार करते हैं, वहां जेम्स और लांगे के मत से संवेगों का कारण परिफेरल तत्त्व है।

संवेग से मानसिक और शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि पहले किस पर प्रभाव होता हैं ? इस निश्चय तक पहुंचने के लिये संवेग के कई सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि संवेग का प्रभाव पहले मानसिक क्रियाओं पर पड़ता है तत्पश्चात् शारीरिक क्रियाओं पर। किन्तु इसकी पुष्टि में पर्याप्त साक्ष्य नहीं मिलते। संवेगात्मक व्यवहार के लिए जिम्मेदार मुख्य शारीरिक एवं स्नायविक[60] अंग निम्नानुसार हैं। इनके स्वरूप कार्यों और प्रभावों की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है

(1) अन्त: स्रावी ग्रंथियां (Enodocrine Glands)
(2) स्वचालित तंत्रिका तंत्र (Autonomous Nervous System)
(3) मेडुला (Mudulla)
(4) मध्य-मस्तिष्क (Mid Brain)
(5) लघु-मस्तिष्क (Hypothalamus)
(6) चेतक (Thalamus)
(7) भावनातंत्र (Limbic System)
(8) प्रमस्तिष्क कार्टेक्स (Cerebral Cortex)

(9) हिपो कैम्पस (Hippocampus)

(10) दैहिक तथा आन्तरिक संस्थान (Somatic and Visceral System)

जागृत अवस्था हो या निद्रावस्था शरीर के प्रत्येक अंग सक्रिय रहते हैं। कोई भी क्रिया किसी भी अवस्था में रुकती नहीं है। इस प्रक्रिया को क्रियालय कहते हैं। अनेक प्रयोगों से प्रमाणित हो चुका है कि विभिन्न शारीरिक आवश्यकताओं,अभिप्रेरणाओं का सम्बन्ध जीव की शारीरिक क्रियाओं से होता है।

शारीरिक क्रियाओं और संवेग में भी परस्पर संबंध है। इस संदर्भ में चूहों पर प्रयोग कर निष्कर्ष निकाला गया कि चूहे को भोजन के लिये जब स्वतंत्र रूप से छोड़ दिया जाता है तो उसकी भोजन क्रिया और आंगिक क्रियाओं में लयात्मक तालमेल बना रहता है। इस प्रकार आंगिक क्रियाओं का सम्बन्ध जीव की आवश्यकताओं, अभिप्रेरणाओं और उन आधारों से है जिनसे वह अपने व्यावहारिक संतुलन को बनाये रखता है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन होता है।

शरीर में होने वाली क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तन भी दृष्टि गोचर होते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि से इन ग्रंथियों के स्राव भी मूल कारण नहीं है। मूल कारण कार्मण शरीर है। कार्मण शरीर सूक्ष्म है। ग्रंथियों के स्त्राव कर्म-शरीर की तुलना में स्थूल है।

ग्रंथि-विज्ञान और कर्म-विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन दोनों में काफी साम्यता प्रस्तुत करता है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का उदय एवं क्षयोपशम ज्ञान के ह्रास-विकास में निमित्त बनता है। पीनियल तथा पिच्युटरी ग्रंथि के असंतुलित स्राव को उदय और संतुलित अवस्था को क्षयोपशम की संज्ञा दी जा सकती है।

थाईराइड का सम्बन्ध शरीर की रचना से है। कर्म-सिद्धांत में नाम-कर्म का सम्बन्ध भी शरीर से हैं। गोनाड्, एड्रीनल-ग्रंथि मोहनीय कर्म की प्रकृत्तियों के उदय से निकटता रखती है। मोहनीयकर्म के उपभेद-काम, क्रोध, भय, लोभ आदि संवेगों के उदय से भावों में परिवर्तन होता है। ग्रंथि-विज्ञान में भी स्रावों से मानसिक एवं दैहिक परिवर्तन होता है। शरीर के क्रियातंत्र, विचारतंत्र, नाड़ीतंत्र का परिशोधन कर ग्रंथियों के स्रावों को बदला जा सकता हैं। वैज्ञानिक कारण- कार्य सिद्धांत की तरह जैन दर्शन में भी कर्म सिद्धांत के अन्तर्गत क्रिया और प्रतिक्रिया के अटूट सम्बन्धों की समुचित व्याख्या है।

कर्म क्रिया की प्रतिक्रिया है। कर्मवाद आधार क्रिया है। क्रिया के अभाव में कर्म का अस्तित्व संभव नहीं। मीमांसीय सिद्धांत का आधारभूत प्रश्न - क्रिया क्या है ? क्रिया का स्वरूप क्या है ? क्रियाएं किस प्रकार कार्य करती है ? यद्यपि क्रिया के वर्णन को अधिकाधिक विस्तृत किया जा सकता है, तथापि शारीरिक क्रियाओं के संदर्भ में क्रिया के कुछ आयाम ही प्रासंगिक प्रतीत होते हैं, जिनका यत्किञ्चित् विवेचन प्रस्तुत अध्याय में किया गया है।

मनोविज्ञान में शरीर-रचना और उसका प्रभाव

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति की चित्तवृत्ति और शारीरिक रचना देखकर उसके स्वभाव की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में जर्मन मनोचिकित्सक क्रेशमर[61] एवं कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्राध्यापक शैल्डन [62] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शरीर की रचना एवं व्यक्तित्व में क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में शैल्डन का अभिमत है कि शरीर-रचना में मुख्य तीन तत्त्व हैं– जठर, स्नायु, ज्ञानकेन्द्र। तीनों में जो जिस रूप में क्रियाशील होता है, उसी प्रकार का व्यक्तित्व बन जाता है। शरीर रचना के तीन प्रकार हैं–[63] उनके मत से शरीर रचना के साथ स्वभाव का संबंध निम्नांकित चार्ट से संक्षेप में समझा जा सकता है।

क्रेशमर : शारीरिक रचना और स्वभाव

नाम	शरीर - रचना	स्वभाव
मेद प्रधान	शरीर स्थूल, गोलाकार, वसायुक्त, छोटा कद	मिलनसार, आराम प्रिय,बात में रस, बहिर्मुखता
स्नायु प्रधान	प्रमाणयुक्त, शारीरिक गठन सुदृढ़ स्नायु संपन्न	साहसी, नीडर,प्रशासन में कुशल,समायोजन दक्षता
अस्थि प्रधान-	लम्बा शरीर, निर्बल, पतला	लगनशील, चिंतनशील, असहिष्णु, आलोचक, अन्तर्मुखता
मिश्र प्रधान	शरीर के अंग प्रमाणोपेत न हो बेड़ोल हो, वैसा शरीर	अक्कडपन, व्यवहार कुशलता से रहित, स्वार्थी

नाम	शरीर - रचना	स्वभाव
बाह्यस्तर प्रधान	शरीर गोल-मटोल, छोटा कद विकृत पाचन तंत्र	विसेरोटोनिक–आराम प्रिय, प्यार का इच्छुक, परावलम्बी, खाने का शौकीन
मध्यस्तर प्रधान	शरीर विकसित, स्नायु सुदृढ़, सुडौल	सोमेटोटोनिक– क्रियाशील साहसिक, कर्मठ अधिकार-प्रिय, आक्रामक
अन्तस्तर प्रधान	लम्बा, पतला शरीर, सुदृढ़ स्नायु वाला	सेरीब्रोटोनिक– संवेदनशील एकान्तप्रिय, संकोची,अतिश्रम से थकावट महसूस करने वाला।

शैल्डन ने शरीर रचना और व्यक्तित्व के सम्बन्ध की चर्चा की। अनेकों उपायों के द्वारा स्वास्थ्य और शरीर के आकार में परिवर्तन भी संभव है।

डॉ स्टेनर ने मनुष्य के भीतर चार शरीरों का निवास माना है।[64]

(1) भौतिक शरीर (Physical Body)

(2) कारण शरीर (Ethric Body)

(3) सूक्ष्म शरीर (Astral Body)

(4) अद्स शरीर (Id)

जीव की सात स्थितियां भी बतलाई हैं।[65]

(1) भौतिक शरीर	:	Physical Body
(2) कारण शरीर	:	Ethric Body
(3) सूक्ष्म शरीर	:	Astral Body
(4) मानसिक शरीर	:	Mental Body
(5) चेतन शरीर	:	Spiritual Body
(6) दिव्य शरीर	:	Cosmic Body
(7) जीवन मुक्त शरीर	:	Body Less Body

सात शरीरों के अपने-अपने कार्य और प्रभाव है। भौतिक (स्थूल) शरीर जन्म-जात है तथा इन्द्रिय गम्य है, कारण शरीर सूक्ष्म है, किन्तु वह कर्म प्रभावशाली नहीं है।

कला, सौन्दर्य, विज्ञान, कल्पना, वैचारिक एवं आध्यात्मिक क्रांति, मानस शरीर के अवदान है, इस अध्याय में हमने विशेष रूप से जैन सम्मत शरीर-रचना और शरीर के क्रिया-कलापों के साथ-साथ विज्ञान के संदर्भ में शरीर-रचना और शारीरिक क्रिया - कलापों का अध्ययन भी किया। क्रिया के आध्यात्मिक और वैज्ञानिक स्वरूप के बारे में अध्ययन से कहा जा सकता है– विज्ञान में केवल स्थूल शरीर का ही अध्ययन किया गया है, इसके कारणभूत अन्य शरीरों के विषय में अनुसंधान की अभी आवश्यकता है।

विज्ञान और अध्यात्म के इस समन्वित अध्ययन से शरीर के सूक्ष्म रहस्यों के अवबोध के साथ भाव जगत के सूक्ष्म प्रकंपनों को भी पढ़ सके, भाव जगत् में पैदा होने वाले स्पंदन अहिंसा की, संवेदनशीलता की चेतना को जागृत कर सके, यही सार्थकता की दिशा होगी।

संदर्भ-सूची

1. सर्वार्थसिद्धि; 2/33,36
2. जैन सिद्धांत दीपिका; 7/25
3. अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति; पृ. 87
4. अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति; पृ. 87
5. अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति; पृ. 87
6. (क) अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति;; पृ. 87
   (ख) सर्वार्थ सिद्धि; 2/45/197,यद् गर्भजं यच्च जं संमूर्च्छजं तत्सर्वमौदारिकं द्रष्टव्यं।
7. तत्त्वार्थ भाष्य; 2/49
8. तत्त्वार्थ भाष्य, टीका; 2/48
9. गोम्मटसार जीव काण्ड; गा. 232
10. धवला; 1,1-56.293-3 (आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थानिनेति आहारः)
11. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्यानुसारिणी टीका; 2/49 पृ. 209
12. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश-भा.1; पृ. 296
13. तत्त्वार्थ सूत्र; 2/49
14. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भा.1; पृ. 296

15. तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 2/49 पृ. 153
16. अनुयोग द्वार चूर्णि; पृ. 6
17. तत्त्वार्थ सूत्र; 2/49
18. तत्त्वार्थ भाष्य ; 2/37
19. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग 2 ; पृ. 75
20. सर्वार्थसिद्धि; 2.60.191.9
21. अनुयोगद्वार मलधारीय वृत्ति; पृ. 181
22. जैन धर्म जीवन और जगत् ; पृ. 48-49
22. (ख) जैनधर्म जीवन और जगत् 49
23. भगवती वृत्ति ; 1/224 अस्थि संचय रूपं च संहननमुच्यते इति।
24. समवाओ ; 190
25. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भा. 4 ; पृ. 156
26. भगवती; 1/24
27. भिक्षु आगम विषय कोश; पृ. 666-667
28. प्रेक्षाध्यान सिद्धांत और प्रयोग; पृ. 93
29. स्थानांग; 6/30
30. (क) स्थानांग; 6/31
(ख) तत्त्वार्थ राजवार्तिक; 576,577
(ग) भगवई;1/9
(घ) धवला; भाग-5,पृ.13 सू. 107पृ. 365 उद्धृत - भगवई भाष्य खण्ड, 1, पृ. 15
31. पंचदशी; 3/1/11
32. सांख्यकारिका, 39-40 संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।
33. वेदान्तसार; पृ. 35
34. वही;
35. भगवती टीका; पृ. 134-135
36. भगवती भाष्य; 1/350-360
37. वही;
38. अष्टांग-हृदय, (शरीर स्थान), 3/4-5
39. चरक संहिता, (शरीर स्थान), 3/6-7

40. अष्टांग-हृदय, 1 - 49 - 53
41. वही; 1 - 54 - 64
42. भगवती आराधना; 1007 - 1010
43. Human Anotomy and Physiology
44. तंदुल वैचारिक प्रकीर्णक; सू. 2
45. जंतु कोशिका; पृ. 3
46. प्रेक्षाध्यान : शरीर विज्ञान, पृ. 29
47. (क) शरीर लक्षी मनोविज्ञान
(ख) प्रेक्षा ध्यान : शरीर - विज्ञान, पृ. 29
48. (क) जीव विज्ञान धोरण 12
(ख) विज्ञान प्रगति, पृ. 39-40, मई 1995
(ग) वही, पृ. 30
(घ) वही, पृ. 34
49. कर्मग्रंथ; 1/31-32
(क) शरीरलक्षी मनोविज्ञान
(ख) जीव विज्ञान धोरण कक्षा- 12
50. प्रारंभिक मनोविज्ञान; पृ. 317-325
51. सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 221
52. सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 221 - 224
53. वही; पृ. 225
54. (क) प्रेक्षाध्यान : शरीर विज्ञान, पृ. 40
(ख) जीव विज्ञान धोरण ; 12
प्रेक्षाध्यान : शरीर विज्ञान, पृ. 43
वही, पृ. 48
वही, पृ. 58-63
55. (क) जीव विज्ञान धोरण ; 12, पृ. 50
(ख) प्रेक्षाध्यान - शरीर विज्ञान, पृ. 43
(ग) तंदुरस्ती तमारा हाथ मां, पृ. 40
56. (क) तंदुरस्ती तमारा हाथमां, संस्करण 20 वां

(ख) जीव विज्ञान, संस्करण पांचवां, पृ. 40
(ग) प्रेक्षा ध्यान शरीर विज्ञान (गुजराती), पृ. 48
(घ) जीवन विज्ञान की रूपरेखा
57. (क) तंदुरस्ती तमारा हाथमां
(ख) जीव विज्ञान - धोरण; 12
(ग) शरीर लक्षी मनोविज्ञान
(घ) प्रेक्षाध्यान शरीर विज्ञान, पृ. 49
58. लेश्या और मनोविज्ञान; पृ. 136
59. शरीर-मनोविज्ञान; पृ. 211-212
60. वही; 215-216
61. व्यक्तित्व अने व्यक्तित्व मापन ; पृ. 27 (गुजराती)
62 व्यक्तित्व अने व्यक्तित्व मापन ; पृ. 28 (गुजराती)
63. सलाह मनोविज्ञान;
64. After Life; पृ. 193
65. जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन; भाग-1, पृ. 86-87
66. आस्तिकता की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि-92

अष्टम अध्याय
क्रिया और मनोविज्ञान

मानव जीवन की प्रवृत्तियों के संचालन हेतु एक क्रियातंत्र है। उसके मुख्य तीन अंग है– शरीर, वाणी और मन। मन क्रिया तंत्र का एक हिस्सा है। यह कर्मचारी की तरह कार्य करता है। चित्त चेतना है। मन जड़ है। चित्त और मन में मालिक-नौकर जैसा सम्बन्ध है। मालिक नौकर से जब चाहे काम ले सकता है। नौकर की अपनी कोई इच्छा नहीं। उसका अस्तित्व मालिक की इच्छा पर निर्भर है। चित्त में जैसे संस्कार संचित हैं, मन उसी के अनुसार कार्य करता है। चित्त के निर्देशों की क्रियान्विति करना मन का प्रमुख कार्य है। मन स्थायी तत्त्व नहीं, वह चेतना से सक्रिय होता है। चेतना का क्रियात्मक अस्तित्व ही मन है।

जैन दर्शन में मन और उसके कार्य

इन्द्रियां बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध में पर्यालोचन का माध्यम है। उस पदार्थ के विषय में ईहा-अपोह आदि विशेष विमर्श तथा वाच्य-वाचक सम्बन्ध-ज्ञप्ति के लिये जिस साधन की अपेक्षा होती है उसका नाम है– मन।

मन की परिभाषा

'मननं मन्यते अनेन वा मन:' इस व्युत्पत्ति के आधार पर मनन करने वाला मन होता है। जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है। मनन के समय मन होता है। मनन से पहले या पीछे मन नहीं होता।[1] भगवती में भी कहा गया– 'मणिज्जमाणे मणे'[2] अर्थात् मन एक है किन्तु उसकी व्याख्या तीन आधारों पर की जा सकती है।[3]

1. इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों में प्रवृत्त होने से मन इन्द्रिय सापेक्ष है।
2. वह शब्द, रूप आदि समस्त विषयों को ग्रहण करने से सर्वार्थग्राही है।
3. भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों का संकलनात्मक ज्ञान करता है, इसलिये त्रैकालिक है।

जैन साहित्य में मन के लिये कालिकी संज्ञा, दीर्घकालिकी संज्ञा, सम्प्रधारण संज्ञा, नो-इन्द्रिय, अनीन्द्रिय और छठी इन्द्रिय आदि शब्दों का प्रयोग किया है।[4] मन शब्द की अपेक्षा आगम में 'संज्ञा' शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है।

मन आन्तरिक साधन है, उसका कोई नियत आकार नहीं है। चक्षु आदि इन्द्रियों के समान प्रतिनियत स्थान, विषय और अवस्थिति का अभाव होने से इसे अनीन्द्रिय भी कहा गया है। मन के लिये अन्त:करण तथा अनीन्द्रिय शब्द का प्रयोग भी होता है। चित्त, चेता, हृदय, स्वान्त: मानस ये सब मन के पर्यायवाची हैं। अभिधर्म दर्शन के अनुसार चित्त, मन, मानस, विज्ञान और हृदय समानार्थक हैं।

कुछ लोग मन और मस्तिष्क को एक ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अमेरिकन मनोवैज्ञानिक डॉ. ग्रीन ने आदमी के बहुत से हिस्से काट कर देखें। वह यह जानकर आश्चर्यचकित हुआ कि मस्तिष्क के हिस्से कट जाने के बाद भी मन के कार्य में कहीं बाधा उत्पन्न नहीं हुई। मन की क्रिया यथावत् चालू रही। इससे स्पष्ट हुआ कि मन और मस्तिष्क भिन्न है।

मन का स्वरूप

न्याय,[5] वैशेषिक,[6] एवं मीमांसा[7] दर्शन के अनुसार मन नित्य है, कारण रहित है। न्याय-वैशेषिकों का विश्वास है कि जीव शुभ-अशुभ जैसा कर्म करता है, मन पर वैसे संस्कार संचित होते जाते हैं। प्राणी जब देह त्याग करता है तब उन समस्त संस्कारों से युक्त मन उन स्थानों तक गति करता है, जिस स्थान पर उसे नया शरीर धारण करना है। मन का एक स्थान से दूसरे स्थान तक गमन ही चेतन का पुनर्जन्म है। अत: न्याय-वैशेषिकों के अभिमत से स्थानान्तरण जीव का नहीं, मन का होता है।

जैन और सांख्य दर्शन की तरह वे कोई भी कार्मण शरीर या लिंग शरीर को स्वीकार नहीं करते। उन्होंनें सूक्ष्म शरीर के स्थान पर नित्य परमाणु रूप मन को माना है। उनके मत से मन के गतिशील होने से ही पुनर्जन्म की व्यवस्था होती है।

न्याय-वैशेषिकों को दो कारणों से मन की कल्पना करनी पड़ी। पहला कारण- वे चेतन को कूटस्थ नित्य मानते हैं। दूसरा, उनके मत में आत्मा व्यापक है। अत: पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिये शुभाशुभ संस्कारों से युक्त मन का स्थानान्तरण ही ज्यादा उपयुक्त है।

सांख्ययोग और वेदान्त के आधार पर मन अनित्य है। उसकी उत्पत्ति अहंकार या अविद्या से होती है।[8] बौद्ध दर्शन मन को क्षणिक स्वीकार करता है।

मन का अस्तित्व

मन एक अदृश्य शक्ति है। सामान्यत: मन के अस्तित्व का बोध नहीं होता। यही कारण है कि उसके स्वरूप के बारे में अलग-अलग विचार धाराएं देखने को मिलती है। उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए निम्नोक्त तर्क देखे जाते हैं–

अन्नभट्ट ने सुख आदि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग (चिन्ह) माना हैं।[9]

वात्स्यायन भाष्यकार के अभिमत से स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता तथा विषय और इन्द्रियों की विद्यमानता में भी संकलनात्मक ज्ञान संभव नहीं। इससे मन का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है।[10]

न्याय सूत्रकार भी मानते हैं कि किसी भी इन्द्रिय से एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। अत: वे अनेक ज्ञान की सिद्धि के लिए मन की सत्ता स्वीकार करते हैं।[11]

जैन दर्शन के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्नज्ञान, वितर्क, सुख-दु:ख, क्षमा, इच्छा आदि मन के लिंग हैं।[12]

मन का स्थान

मन का स्थान कहां है ? इस संदर्भ में चार प्रकार की विचारधाराएं हैं–

1. कुछ दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार मन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।
2. कुछ योगाचार्यों के अभिमत से मन का स्थान हृदय से नीचे है।
3. मन का स्थान हृदय कमल है। हृदय कमल की आठ पंखुडियां हैं, वही मन का स्थान है।
4. वर्तमान शरीर-शास्त्र के अभिमत से मन का स्थान मस्तिष्क है।

न्याय, वैशेषिक और बौद्ध मत के अनुसार मन का स्थान हृदय है।[13] सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों में मन आदि अष्टादश तत्त्व लिंग शरीर कहलाते हैं। उनका स्थान

केवल हृदय नहीं, सम्पूर्ण स्थूल शरीर होना चाहिये क्योंकि सूक्ष्म लिंग शरीर का स्थान सम्पूर्ण स्थूल शरीर है।[14]

मन का स्थान हृदय है। इसके पक्षधर अनेक हैं। इसके मूलस्रोत की खोज करें तो इसका आधार औपनिषदिक परम्परा में दिखाई देता है। छान्दोग्योपनिषद् और कठोपनिषद् में आत्मा को हृदय गुहा में अवस्थित माना है।[15]

दूसरा, मन, चित्त, स्वान्त: और हृदय को अमरकोश में एकार्थक माना है। इससे भी उक्त अवधारणा का जन्म हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। योगदर्शन में भी विज्ञानवृत्तिक चित्त, आत्मा तथा परमात्मा का स्थान हृदय– ब्रह्मपुर माना गया है। ब्रह्मपुर-पुण्डरीक आकार वाले गर्त के समान है।[16]

कुछ परम्परा मन का स्थान पूरा शरीर मानती हैं। यह मान्यता भी सापेक्ष है। शरीर के स्नायु- संस्थान में जितने भी विषय-ग्राही स्नायु हैं, उनका जाल सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इसी आधार पर मन शरीर व्यापी सिद्ध होता है।

मन हृदय के नीचे है - यह भी कथन सापेक्ष है। सुषुम्ना की एक धारा का सम्बन्ध हृदय से है। इसलिये हृदय को मन का केन्द्र मानना भी युक्ति पुरस्सर है।

'यत्र पवनस्तत्रमन:' इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार– जहां श्वास है वहां मन भी है। इस दृष्टि से भी मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर में सिद्ध होता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति है। वह सार्वजनिक है। यह प्रत्येक प्राणी में अनिवार्यत: पाई जाती है। किन्तु मन-पर्याप्ति कुछ विशिष्ट पंचेन्द्रिय प्राणियों में ही पाई जाती हैं। चिन्तन,मनन, स्मृति आदि मानसिक क्रियाएं स्नायु मंडल द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होती है। जो कि मन के कार्य हैं। स्नायु का संबंध मस्तिष्क से है। मस्तिष्क के दो विभाग हैं– बृहन्मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क। मन का मुख्य केन्द्र बृहन्मस्तिष्क है। बृहन्मस्तिष्क में जो चैतन्य धारा प्रकट होती है, उसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता है, उसका नाम मन है।

जैन दर्शन के अनुसार भावमन का स्थान आत्मा है। द्रव्य मन के संदर्भ में दो अभिमत हैं। दिगम्बर परम्परा में द्रव्य-मन मनोवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित है। उसकी आकृति आठ पंखुडी वाले कमल जैसी है। वह वीर्यान्तराय एवं नो-इन्द्रियावरण के क्षयोपशम तथा नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है। वह हृदय प्रदेशवर्ती है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मनन काल में मनोवर्गणा के पुद्गलों की जो आकृतियां बनती हैं, वे

ही द्रव्यमन है। भाव मन का स्थान आत्मा ही है। आत्मा के शरीर व्यापी होने से भावमन भी शरीर व्यापी है।[17]

मन का कारण और परिमाण

इस संदर्भ में मुख्यत: तीन दार्शनिक विचारधाराएं हैं–

(1) परमाणु रूप– न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक मत से मन परमाणु रूप तथा नित्य है।

(2) अणु रूप– सांख्य, योग एवं वेदान्त की धारणा में मन का परिमाण अणु जितना है। वह जड़ है अत: सांख्य और योग उसे प्राकृतिक विकार मानते हैं। वेदान्त में मन का उत्पत्ति स्थान माया या अविद्या है।

(3) मध्यम परिमाण– जैन व बौद्ध चिन्तन के अनुसार मन मध्यम परिमाण या देह परिमाण है। बौद्ध परम्परा में मन विज्ञान रूप है। अत: चेतन है। पूर्ववर्ती विज्ञान उसका कारण है और पश्चातूवर्ती विज्ञान का वह कार्य है। जैन दर्शन की मन के बारे में अनेकान्तिक दृष्टि है। उसके अनुसार मन चेतन एवं अचेतन की संयुक्त परिणति है।

क्र.	दर्शन	स्वरूप	परिमाण	स्थान
1.	न्याय	नित्य	परमाणु	हृदय
2.	वैशेषिक	नित्य	परमाणु	हृदय
3.	मीमांसक	नित्य	परमाणु	हृदय
4.	सांख्य	अनित्य	अणु	सूक्ष्म शरीर (स्थूल शरीर)
5.	योग	अनित्य	अणु	सूक्ष्म शरीर (स्थूल शरीर)
6.	वेदान्त	अनित्य	अणु	हृदय
7.	बौद्ध	क्षणिक	मध्यम परिमाण	हृदय
8.	जैन	परिणामी नित्य	मध्यम परिमाण	हृदय

मन का स्वरूप और भौतिकवाद

भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार मन का स्वरूप निम्नानुसार है–

(1) समता मूलक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

(2) कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

(3) गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

मन के प्रकार

जैन दर्शन के अनुसार मन के दो प्रकार हैं– (1) द्रव्यमन और (2) भावमन।

(1) द्रव्यमन – मन का भौतिक पक्ष द्रव्य मन है। चेतन पक्ष भावमन है। द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्गल-स्कंन्धों से निर्मित है। यह वर्ण-गंध-रस-स्पर्श युक्त होने के कारण पौद्गलिक वस्तुओं के समान मूर्त्त है। सूक्ष्म होने से चर्म चक्षुओं से ज्ञेय नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। यह आत्मा से भिन्न जड़ात्मक है।[18]

(2) भावमन– भावमन चेतना का अंश होने से चेतन है। वर्णादि पौद्गलिक गुणों से रहित होने से अमूर्त है। अतीत, भविष्य आदि का संकलनात्मक ज्ञान भाव मन के द्वारा ही होता है।[19(क)]

विशेषावश्यक भाष्य में द्रव्यमन को पौद्गलिक (मनोवर्गणा)और भाव मन को चिन्तन-मनन रूप कहा है। भाव मन चेतना की ही एक रश्मि है। इसलिये यह जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है और इसे आत्मिक कहा जाता है।[19(ख)]

दिगम्बर ग्रंथ धवला के अनुसार मन स्वत: नो कर्म है। पुद्गल विपाकी अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखनेवाला मन द्रव्य मन है तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रिय कर्म क्षयोपशम से जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भाव मन है।[19(ग)]

द्रव्यमन और भावमन के उपर्युक्त स्वरूप के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर में कोई मत भेद नहीं है। द्रव्यमन कब बनता है और शरीर में इसका स्थान कहां है ? विशेषत: यही विप्रतिपत्ति का विषय है। जैन विचारधारा द्रव्यमन-भावमन के माध्यम से चेतन (आत्मा) और जड़ (कर्म -परमाणुओं) में परस्पर क्रिया स्वीकार करती है। किन्तु द्रव्यमन, भावमन एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इस समस्या के निवारण के तीन उपाय हैं–

1. भौतिक और आध्यात्मिक सत्ताओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध करना।
2. उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाये।
3. दोनों में क्रिया-प्रतिक्रिया को स्वीकार किया जाये।

वैदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद में तथा सांख्यदर्शन आदि में जड़-चेतन तथा पुरूष और प्रकृति के सम्बन्ध की समस्या खड़ी नहीं होती। कारण उनमें मन को मात्र जड़ अथवा चेतन रूप माना गया है, उभयात्मक नहीं।

चेतन और जड़ के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जैन दर्शन ने मन की द्रव्य और भाव उभय अवस्था मानी है। मन की शक्ति चेतना में है। किन्तु उसका कार्यक्षेत्र भौतिक जगत् है। मन जड़-चेतन सत्ता के बीच संबंध स्थापित करने वाला तत्त्व है।

जैन दृष्टिकोण जड़ और चेतन मन में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया को स्वीकार करता है। पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी बनता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य करने में सक्षम नहीं है। दोनों के संयोग से मानसिक क्रियाएं होती है। ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्गलिक मन एवं शरीर का संचालक है।

वस्तु का स्वगुण कभी वस्तु से पृथक् नहीं होता। दो वस्तुओं के योग से तीसरी वस्तु निर्मित होती है, तब उनका गुण भी मिश्रित होता है। तीसरी वस्तु के विघटित होने पर दोनों वस्तुओं के गुण पृथक् होकर स्वतंत्र हो जाते हैं। तेजाब में हाईड्रोजन, गंधक एवं ऑक्सीजन का सम्मिश्रण है। इसका निर्माण करने वाली मूल धातुएं अलग कर दी जाये तो वे धातुएं अपने मूल गुण के साथ ही पाई जाती हैं। इसी प्रकार चेतना के अभाव में पौद्गलिक मन निष्क्रिय हो जाता है।

मन का कार्य

मन युक्त जीवों के इन्द्रियजन्य ज्ञान में मन का साहचर्य होता है। मन के कार्य में इन्द्रियों का व्यापार होता भी है, नहीं भी, किन्तु इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार नियमतः होता है। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक एवं अनालोचनात्मक है जबकि मन का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है। इस आधार पर मन के अनेक कार्य हो जाते है।[20]

मुंख्यतः संकल्प, विकल्प, निदान, स्मृति, जाति स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, कल्पना, श्रद्धान, लेश्या, ध्यान।

(1) संकल्प– कल्पना का सघन रूप संकल्प है।

(2) विकल्प– एक विषय में अनेक प्रकार की कल्पनाओं का होना विकल्प अवस्था है। 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' की हर्ष-विषादजनित अनुभूतियां विकल्प कहलाती हैं। पीड़ा की तीव्रता और मंदता की अनुभूति भी विकल्प है।

(3) निदान – सुख के लिये उत्कट अभिलाषा या उसके लिये प्रार्थना करना।

(4) स्मृति– संस्कार के जागरण से होने वाला संवेदन स्मृति है। हमने किसी वस्तु या व्यक्ति को देखा, वह चला गया। व्यक्ति के उपस्थित न रहने पर भी उसके संस्कार बने रहते हैं। कालान्तर में उस प्रकार की कोई वस्तु को देखकर पूर्वानुभूत संस्कार जागृत हो जाते हैं, वह स्मृति कहलाती है।

(5) जाति स्मृति– पूर्व जन्म की स्मृति। पूर्व दृष्ट, श्रुत, अनुभूत विषयों की स्मृति। लेश्या की विशुद्धि और चित्त की एकाग्रता होने पर जाति स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है।

(6) प्रत्यभिज्ञा – अतीत और वर्तमानकालीन वस्तु की एकता से उत्पन्न ज्ञान।

(7) कल्पना – इच्छा और अभिलाषा की अभिव्यक्ति।

(8) श्रद्धान – मानसिक रूचि। ध्येय के प्रति सघन निष्ठा।

(9) लेश्या– भावधारा जनित मानसिक परिणाम।

(10) ध्यान – मानसिक एकाग्रता। संकल्प-विकल्पों की भीड़ व्यग्रमन की देन है। व्यग्रता का एकाग्रता में रूपान्तरित हो जाना ही ध्यान है।

मन का कार्य

नन्दिसूत्र के चूर्णिकार देववाचक ने दीर्घकालिक संज्ञा के छः कार्यों का निर्देश किया है। प्रकारान्तर से ये मन के कार्य हैं।[21]

1) ईहा– सत् पदार्थ का पर्यालोचन। शब्द आदि के अर्थ के विषय में अन्वय और व्यतिरेक धर्मों से विचार करना।

2)अपोह– अन्वयी धर्मों का निश्चय करना। जैसे– यह शब्द है।

3) मार्गणा–अन्वयी धर्मों का अन्वेषण। जैसे– यह शब्द शंख का है।

4) गवेषणा– व्यतिरेक धर्मों का स्वरूपावलोकन।

5) चिन्ता– यह कार्य कैसे करना चाहिये ? कैसे हुआ ? कैसे होगा ? आदि का चिन्तन।

6) विमर्श– यह कार्य इस प्रकार हो सकता है। इसी प्रकार हुआ है, अथवा इसी प्रकार होगा। यह निर्णय विमर्श कहलाता है।

उपर्युक्त कार्यों के अलावा मन के मुख्य कार्य-संकल्प, विकल्प, स्मृति, चिंतन और कल्पना करना है। मन इन्द्रिय द्वारा गृहीत विषयों पर चिन्तन करता है। उससे आगे मन इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक भी है। मन को सभी जगह इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती है। मन जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का पर्यालोचन करता है, तब ही इन्द्रिय सापेक्ष होता है। किन्तु इन्द्रियग्राह्य विषयों के अतिरिक्त विषयों पर चिन्तन करता है, तब उसे इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती है। इन्द्रियों की गति मात्र पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।[22]

चिन्तन, मनन आदि व्यापार मन की क्रियाएं हैं। मन के अतिरिक्त किसी भी इन्द्रिय में इन क्रियाओं को करने की शक्ति नहीं। समझना यह है कि चिन्तन आदि क्रियाएं हमारे शरीर के किस भाग में होती है। शरीर-रचना और शरीर-क्रिया विज्ञान के अनुसार स्पष्ट है कि इनका आधारभूत अथवा उत्पत्ति स्थान मस्तिष्क है। सामान्य कोशिकाएं एवं मांसपेशियां चिन्तन करने में सक्षम नहीं हैं। हृदय भी मांसपेशी है, वह पम्पिंग कर सकती है, चिन्तन नहीं। मस्तिष्क में ऐसे केन्द्र हैं जहां कल्पना, चिन्तन, निर्णय तथा विभिन्न संवेदनाओं का विश्लेषण होता है। चिन्तन का केन्द्र मस्तिष्क है। किसी विषय का विशेष चिन्तन करते समय व्यक्ति अपने मस्तिष्क पर जोर देता है। उसका हाथ मस्तिष्क की ओर जाता है। इन चेष्टाओं से मस्तिष्क की मानसिक क्षमता सिद्ध होती है।

इन्द्रियां अपने-अपने प्रतिनियत विषयों को ग्रहण करती है। उनके अनुभव मस्तिष्क में अंकित होते रहते हैं। मन का कार्य गृहीत विषयों का निर्धारण या विश्लेषण करना है इसके अतिरिक्त आन्तरिक संस्कार, वृत्तियां और इच्छाएं हैं। उनका संयोजन, नियोजन, एवं वियोजन करना। उन्हें एक व्यक्ति, स्थान, वस्तु और काल से दूसरे में रूपान्तरित करना, संपर्क स्थापित करना– ये सारी मानसिक क्रियाएं हैं।

पतञ्जली के अनुसार ग्रहण, धारणा, ऊह, अपोह, तत्वज्ञान, अभिनिवेश मन के कार्य हैं।[23]

चरक शास्त्र में मन के पांच कार्य हैं– चिन्त्य, विचार्य, उह्य, ध्येय और संकल्प।[24]

इस प्रकार विचार, स्मृति और कल्पना करना, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि सभी मन के कार्य हैं।

मन और बुद्धि

मन की निर्णायात्मक शक्ति को बुद्धि कहा गया है। बुद्धि एक प्रकार से मानसिक

विकास की अग्रिम भूमिका है। बुद्धि का विकास जैन दृष्टि से चार स्तरों पर संभव है– औत्पत्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कार्मिक बुद्धि, पारणामिकी बुद्धि।

औत्पत्तिकी बुद्धि अदृष्ट अनालोचित एवं अश्रुत अर्थ को भी तत्काल यथार्थ रूप में ग्रहण करने वाली प्रज्ञा औत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है। इसमें ज्ञान एवं निर्णय में कालक्षेप नहीं होता। औत्पत्तिकी बुद्धि को समझने के लिए अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं। नन्दी सूत्र में वर्णित भरत नट के पुत्र रोहक की घटनाएं इस सन्दर्भ में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। आवश्यक चूर्णि, नंदीसूत्र की चूर्णि, नन्दीवृत्ति आदि में औत्पत्तिकी बुद्धि के दृष्टान्तों का सविस्तार वर्णन है। [25] नंदीसूत्र में उपर्युक्त स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

पूर्वमदृष्टाऽश्रुतावेदिता तत्क्षणविशुद्धगृहीतार्था।
अव्याहतफलयोगा बुद्धिरौत्पत्तिकी नाम।[26]

वैनयिकी बुद्धि

आत्म-संयम, अनुशासन या गुरू-शुश्रुषा से उत्पन्न बुद्धि वैनयिक बुद्धि कहलाती है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा है–

भर नित्थरणसमत्था, तिवग्गसुतत्तत्थगहियपेयाला।
उभयोलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि।।[27]

उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए देववाचक ने वैनयिकी बुद्धि के तीन लक्षणों का उल्लेख किया है–

(1) वैनयिकी बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति की चेतना इतनी विकसित हो जाती है कि कठिनतम कार्यों में भी वह सफलता हस्तगत कर लेता है।

(2) इस बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति सूत्र एवं अर्थ के सार को सरलता से ग्रहण कर लेता है।

(3) इस बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के प्रयोजनों में सफलता प्राप्त करता है।

वैनयिकी बुद्धि अभ्युदय एवं नि:श्रेयस दोनों की साधिका है।

कार्मिकी बुद्धि

अभ्यास के नैरन्तर्य से उत्पन्न बुद्धि कार्मिकी है। किसी भी कार्य को नित्य नियमित रूप से करने पर विशिष्ट कौशल प्राप्त हो जाता है। कहा भी गया है–

उवओग दिट्ठ सारा, कम्म पसंग परिघोलण विसाला।
साहुक्कार फलवई, कर्म समुत्था भवइ बुद्धि।। [28]

देववाचक ने कर्मजा बुद्धि के तीन लक्षण बतलाये हैं–

(1) विवक्षित कर्म को तन्मयता के साथ करना। भावक्रिया से करना। मन, वचन और शरीर की एकाग्रता से किये गये कार्य से कौशल प्राप्त होता है।

(2) निरन्तर एक ही कार्य के अभ्यास एवं चिन्तन से कार्य-दक्षता बढ़ती है।

(3) कर्मजा बुद्धि से निष्पन्न कार्य सिद्ध, प्रशंसित और अनुमोदित होता है। देववाचक ने इस संदर्भ मे सौवर्णिक, चित्रकार, तन्तुवाय, बढ़ई, कान्दविक आदि का उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है।

पारिणामिकी बुद्धि

अवस्था प्राप्ति के साथ व्यक्ति में जो बुद्धि-पाटव उत्पन्न होता है, वह पारिणामिकी बुद्धि है। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया–

अणुमाण-हेऊ-दिट्ठंतसाहिया, वयविवागपरिणामा।
हियणिस्सेयसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम।।[29]

देववाचक ने इसके भी तीन लक्षण बताये हैं–

(1) पारिणामिकी बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति कार्य सिद्धि के लिये अनुमान, हेतु एवं दृष्टान्त का सम्यक् प्रयोग करना जानता है।

(2) अवस्था के साथ पारिणामिकी बुद्धि भी उत्तरोत्तर विकसित होती है।

(3) पारिणामिकी बुद्धि से अभ्युदय और नि:श्रेयस तथा उनके साधनों को जाना जाता है।

मानसिक विकास और उसकी भूमिकाएं

प्राणीमात्र में चेतना समान है किन्तु उसके विकास में तारतम्य है। संज्ञात्मक चेतना गर्भज-पंचेन्द्रिय में ही होती है। चेतना का न्यूनतम विकास तो एकेन्द्रिय जीवों में भी होता है किन्तु सघन कर्मवर्गणाओं से आक्रान्त एवं स्त्यानर्द्धि निद्रा के तीव्र विपाक से युक्त होने के कारण वे निश्चेष्ट प्राय: रहते हैं। उनकी ज्ञान-चेतना इतनी अव्यक्त होती है कि वे अपने इष्ट के लिये प्रवृत्ति एवं अनिष्ट के लिये निवृत्ति में भी अक्षम होते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवों के मन होता ही नहीं। पंचेन्द्रिय में मन गर्भज के होता है। समूर्च्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च में मन का अभाव है। कृमि, चींटी आदि में सूक्ष्म मन विद्यमान है। वे हित में प्रवृत्ति, अनिष्ट में निवृत्ति करते हैं। किन्तु उनमें दीर्घकालीन चिन्तन शक्ति का अभाव होता है। इसलिये वे मन रहित माने जाते हैं। मन युक्त प्राणी निमित्त के योग से देह-यात्रा के अतिरिक्त पूर्वजन्म की घटनावलियों का भी स्मरण कर सकते हैं। दीर्घकालीन चिन्तन और कर्मशक्ति उनमें पाई जाती है।

बाहरी दुनियां का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। इन्द्रियां उस ज्ञान को मस्तिष्क तक पहुंचाती है। मस्तिष्क द्रव्य मन तक और द्रव्य मन भाव मन तक पहुंचाता है। भाव मन आत्मा को यह ज्ञान प्रेषित करता है।[30] इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए सब विषयों में मन की गति है।

मन का विकास कैसे हो ? इस संदर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र[31] में मनोविकास की चार भूमिकाओं तथा आचार्य तुलसी ने मनोनुशासनम् में मनोविकास की छह भूमिकाओं का उल्लेख किया है।

1. मूढ़	2. विक्षिप्त	3. यातायात
4. श्लिष्ट	5. सुलीन	6. निरुद्ध

मूढ़ – मोहकर्म के प्रबल वेग में मन की स्थिति मूढ़ होती है।[32] मूढ़ अवस्था में आसक्ति और द्वेष बहुत प्रबल होते हैं। यह तमोगुण प्रधान अवस्था है। इसमें मन की वृत्ति बहिर्मुख रहती है। वह मन बाह्य जगत् और परिस्थिति का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता रहता है।

विक्षिप्त– विक्षिप्त अवस्था में मन चंचल रहता है।[33] यह रजोगुण प्रधान स्थिति है। इसमें व्यक्ति अन्तर्मुखी बनना चाहता है किन्तु रजोगुण उसे विक्षिप्त करता रहता है। प्रारम्भ में कुछ समय के लिए मन की एकाग्रता बनती है फिर विचलित हो जाता है। अन्तर्निरीक्षण की स्थिति का उसे किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता है।

यातायात– विक्षिप्त की अगली भूमिका यातायात की है। इस भूमिका में व्यक्ति का मन अन्तर्मुखता का अनुभव करता है किन्तु लम्बे समय तक वह स्थिति बनी नहीं रहती।[34] अन्तर्निरीक्षण करते-करते वह फिर बाहर आ जाता है। इतना अवश्य है कि इससे अन्तर्निरीक्षण का बंद द्वार खुल जाता है। यातायात शब्द से ही स्पष्ट होता है कि जिस अवस्था में मन कभी बाहर कभी भीतर भ्रमण करता रहता है।

श्लिष्ट– इसमें ध्याता का ध्येय के साथ श्लेष हो जाता है। किन्तु एकात्मकता नहीं होती। स्थिर होने से आनन्दमय बना हुआ चित्त श्लिष्ट कहलाता है।[35]

सुलीन – सम्यक् प्रकार से लीन होना।[36]पांचवीं भूमिका में मन की स्थिरता चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाती है। यहां भी मन का अस्तित्व या उसकी गति समाप्त नहीं होती। हेमचन्द्राचार्य ने कहा– सम्यक् प्रकार से लीन होना ही निश्चल मति है।[37]जैसे पानी दूध में मिलकर अपना अस्तित्व खो देता है। वैसे ही इस भूमिका में ध्याता और ध्येय एक रूप बन जाते हैं। यह अवस्था एक ही दिन में प्राप्त नहीं होती। निरन्तर प्रयत्न करते रहने से एक न एक दिन यह स्थिति अवश्य प्राप्त हो जाती है।

निरुद्ध– यहां मन बाह्यालम्बनों से शून्य होकर केवल आत्मस्थ बन जाता है।[38] छट्ठी भूमिका में ध्येय की स्मृति भी समाप्त हो जाती है। यह निरालम्बन ध्यान या सहज चैतन्य के उदय की भूमिका है। इसमें प्रत्यक्षानुभूति प्रबल हो जाती है। इसमें चित्त का स्थायी निरोध हो जाता है, कोई विकल्प या, कल्पना नहीं, केवल प्रकाश है, केवल चैतन्य है।[39]

मन की पहली भूमिका में मन का झुकाव बाहर की ओर होता है। मन की दूसरी और तीसरी में विकल्प, कल्पनाओं का सिलसिला चालू रहता है। मन का आकर्षण अन्य वस्तुओं पर होता है। फल स्वरूप हम सहज चेतना के स्तर पर नहीं रहते। चौथी-पांचवीं भूमिका में विकल्पों की भीड़ कम हो जाती है। मन एक विकल्प पर स्थिर हो जाता है। उसका प्रभाव अन्त:स्रावी ग्रंथियों पर पड़ता है। फलत: आनन्द की अनुभूति अधिक होती है। अन्तिम निरोध की भूमिका में सहज आनन्द के साथ साक्षात् संपर्क स्थापित हो जाता है। पूर्व भूमिकाओं की तुलना में आनन्द की पूर्ण अनुभूति निरोध की भूमिका में ही होती है।

पातंजल योग-दर्शन में इनका चित्तवृत्तियों के रूप में उल्लेख मिलता है। वहां क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध– यह क्रम दिया गया है।[40] स्वामी विवेकानंद ने क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्रता। को मानसिक विकास के चार स्तर बताए है।

महर्षि अरविंद ने मानसिक विकास, आरोहण के चार प्रकारों का उल्लेख किया है।[41]

1.उत्कृष्ट मन
2. प्रदीप्त मन
3. अन्त: प्राज्ञ मन
4. ऊर्ध्व मन

बौद्ध दर्शन में भी चित्त की चार अवस्थाओं का निर्देश मिलता है। [42]

1. कामावचर
2. रूपावचर
3. अरूपावचर
4. लोकोत्तर

कामावचर– चित्त की वह अवस्था, जिसमें कामनाओं, वासनाओं का प्राधान्य रहता है, वितर्क- विचारों का बाहुल्य व मन बहिर्मुखी बना रहता है।

रूपावचर– इसमें वितर्क एवं विचार के साथ एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। किन्तु मन की एकाग्रता का आलम्बन स्थूल विषय ही रहता है।

अरूपावचर– इस भूमिका में चित्त की वृत्तियों में स्थिरता आती है, लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नहीं होती।

लोकोत्तर– यहां वासना– संस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का नाश हो जाता है। अर्हत् पद एवं निर्वाण की प्राप्ति इसी भूमिका से होती है।

जैन दर्शन में वर्णित विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर एवं योग-दर्शन का क्षिप्त और मूढ़ चित्त समानार्थक है। इस प्रकार जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की विभिन्न अवस्थाओं के नाम में अन्तर प्रतीत होता है, मूलभूत दृष्टिकोण में अन्तर नहीं। निम्नांकित तालिका से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है–

जैन	बौद्ध	योग
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

मन की अन्य तीन अवस्थाएं

(1) विक्षेप (2) एकाग्रता (3) अमन [43]

विक्षेप की अवस्था में स्मृतियों, कल्पनाओं, विचारों का सातत्य बना रहता है। चित्त व्यग्र रहता है। व्यग्रता की स्थिति में व्यक्ति ध्येय तक नहीं पहुंच पाता। इसमें मन किसी एक आलम्बन पर स्थिर नहीं रहता।

मन की दूसरी अवस्था है– एकाग्रता। किसी एक आलम्बन-स्मृति -कल्पना या विषय पर स्थिर हो जाना एकाग्रता है।

तीसरी अवस्था अमन की है। इसमें मन ही समाप्त हो जाता है, निर्विचार अवस्था का निर्माण हो जाता है।

अमन का अर्थ है- स्मृति-कल्पना आदि से मुक्त हो जाना। निर्विचार अवस्था में पहुंच जाना। योग की भाषा में मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख इस प्रकार है– (1) अवधान, (2) एकाग्रता और (3) ध्यान।

मनोविज्ञान भी इसी का संवादी तथ्य प्रस्तुत करता है। मन की तीन अवस्थाएं है।[44] (1) अवधान (2) एकाग्रता या धारणा (3) ध्यान।

मानसिक क्रियाएं

अवधान– मन की क्रिया को किसी वस्तु के प्रति व्यापृत करना, लक्ष्य के प्रति जागृत करना अवधान है। अवधान दो प्रकार का है– बाह्य वस्तुओं के प्रति और भीतर की ओर। अवधान भीतर में होता हैं तब अन्तर्दृष्टि और प्रज्ञा का उदय होता है। आन्तरिक चेतना प्रकट होती है।

एकाग्रता या धारणा

यह अवधान से आगे की भूमिका है। चारों ओर भ्रमणशील मन को किसी एक वस्तु या विषय पर केन्द्रित कर देना एकाग्रता है।

ध्यान

अवधान के बाद एकाग्रता और एकाग्रता के बाद ध्यान होता है। केन्द्रीकृत मन की सघन अवस्था ध्यान है। यहां लम्बें समय तक मन एक आलम्बन पर टिका रह जाता है। ध्यान वह राजमार्ग है जो बहिरात्मा से ऊपर उठाकर अन्तरात्मा में अधिष्ठित करता है। ध्यान भीतर विद्यमान परमात्मा का साक्षात्कार है।

इन्द्रियज्ञान और मानसिक क्रिया

जैन परम्परा में इन्द्रियज्ञान की पांच भूमिकाएं मानी गई है– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन्द्रिय के साथ मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। अर्थावग्रह इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना रहित सामान्य मात्र

का ज्ञान है।[45] इन्द्रिय एवं अर्थ का बोध सम्बन्ध दर्शन है। दर्शन के अनन्तर विशेष धर्मों की प्रतिपत्ति का प्रथम चरण अवग्रह है।[46] अवग्रह में वस्तु की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है। स्थानांग नंदीसूत्र आदि में अवग्रह के दो प्रकार उपलब्ध हैं–[47] (1) व्यंजनाग्रह (2) और अर्थावग्रह।

(1) व्यंजनाग्रह– इन्द्रिय और विषय के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यंजनावग्रह कहते हैं। यह अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञान है। यह अव्यक्त है। विषय-विषयी की सन्निधि होने पर ज्ञान विषय का सामान्य बोध व्यंजनावग्रह हैं। एक व्यक्ति गहरी नींद में सोया है। उसे जगाने के लिये बार-बार आवाज दी जाती है। वह तब तक नहीं जागता जब तक उसकी श्रोत्रेन्द्रिय ध्वनि-पुद्गलों से भर न जाये। इसमें असंख्य समय लग जाता है। असंख्य समय वाला प्राथमिक सम्बन्ध व्यंजनावग्रह है। इसके पश्चात् शब्द का सामान्य बोध होता है जिसे अर्थावग्रह कहते है। व्यजंनावग्रह और अर्थावग्रह में यही अन्तर है। व्यंजनावग्रह अव्यक्त है, अर्थावग्रह व्यक्त।

अवग्रह के लिये प्रयुक्त पर्यायवाची मन के योग होने पर ही संभव है। नंदीसूत्र में अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलंबनता और मेधा इन पांच पर्यायों का उल्लेख है।[48]

(1) अवग्रहणता– व्यंजनावग्रह की अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति होती है। उसके पहले समय में जो अव्यक्त झलक ग्रहण की जाती है, उसे अवग्रहणता कहते हैं।

(2) उपधारणता– व्यंजनावग्रह के द्वितीय समय से लेकर असंख्यात समयों तक होनेवाला शब्द आदि पुद्गलों का ग्रहण करने का परिणाम उपधारण है। इसमें विषय की निकटता क्रमशः बढ़ती जाती है।

(3) श्रवणता– जो अवग्रह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा हो, उसे श्रवणता कहते हैं। इसका कालमान अवग्रहण के समान एक समय है।

(4) अवलंबनता– अर्थ का ग्रहण अवलंबनता है।

(5) मेधा– मेधा सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करती है। नवीन धर्म की जिज्ञासा होने पर पुनः पुनः नवीन धर्म का अवग्रहण करना मेधा का कार्य है।

नंदीसूत्र में प्रयुक्त ये पांचों एकार्थक नाम अवग्रह की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक है। तत्त्वार्थ भाष्य में अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्दों का

निर्देश है।[49] षट्खण्डागम में अवग्रह, अवधान, अवलम्बना, और मेधा ये शब्द अवग्रह के लिये प्रयुक्त हुए है।[50]

अवग्रह के दो अन्य प्रकार उपलब्ध होते हैं– नैश्चयिक और व्याहारिक।

(1) नैश्चियिक अवग्रह– यह एक समय में होनेवाला वस्तु का प्राथमिक अवबोध है।

(2) व्यावहारिक अवग्रह– निश्चय के बाद ईहा और अवाय होता है। नैश्चयिक अवग्रह का अवाय रूप व्यवहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है।

ईहा– ईहा का अर्थ है– वितर्क। 'यह अमुक का शब्द होना चाहिये', ऐसी वितर्कमूलक ज्ञान चेतना ईहा कहलाती है। अवग्रह के पश्चात् ज्ञान ईहा में परिणत हो जाता है। यहां स्पष्ट रूप से इन्द्रियों के साथ मन का व्यापार जुड़ जाता है।

'कुछ है' से 'शब्द होना चाहिये' तक की ज्ञान -प्रक्रिया ईहा है।

ईहा और संशय में अन्तर है ?

संशय में दोनों पक्ष समान होते हैं। ज्ञान का झुकाव किसी एक ओर नहीं होता। ईहा में ज्ञान एक ओर झुक जाता है। ईहा में पूर्ण निर्णय या निश्चय नहीं होता फिर भी मन का झुकाव निर्णय की तरफ अवश्य होता है जबकि संशय में निर्णय की स्थिति बनती है। धवला में भी कहा है कि ईहा ज्ञान संदेह रूप नहीं है।[51] अनेक अर्थों के आलम्बन से आन्दोलित चेतना संशय है। जबकि ईहा असद्भूत का त्याग, सद्भूत का ग्रहण करने वाली जागृति है।

इन्द्रियों से प्राप्त विषय पर मन किस प्रकार से विमर्श करता है। इस विषय में नंदीसूत्र में इसके एकार्थक पांच नाम बतलाये हैं।[52]

(1) आभोगनता– अवग्रह के पश्चात् विशेष अर्थ की आलोचना।

(2) मार्गणता– मार्गणा अर्थात् खोजना। आभोगनता की अग्रिम भूमिका है।

(3) गवेषणा– स्वभावजन्य, प्रयोगजन्य, नित्य-अनित्य आदि का चिंतन।

(4) चिंता– अन्वयी धर्मों का बार-बार चिंतन।

(5) विमर्श– उपरोक्त चार अवस्थाओं से प्राप्त अर्थ का नित्य-अनित्य आदि धर्मों के साथ विमर्श करना।

तत्त्वार्थ भाष्य में ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा– ये शब्द एकार्थक माने गये हैं।[53]

अवाय– अवाय निश्चयात्मक ज्ञान है। इसमें न संशय रहता है, न संभावना। ईहा ज्ञान से जाने गये पदार्थ विषयक संदेह दूर हो जाना अवाय है।[54] ईहा के द्वारा गृहीत पदार्थ का निर्णय करना अवाय है।[55] इस प्रकार जैन वाङ्मय में अवाय की त्रिविध व्याख्याएं उपलब्ध होती है। नंदीसूत्र[56] षट्खण्डागम[57] और तत्त्वार्थभाष्य[58] में अवाय के अनेक पर्याय हैं–

नंदीसूत्र	षट्खण्डागम	तत्त्वार्थभाष्य
आवर्तनता	अवाय	अपगम
प्रत्यावर्तनता	व्यवसाय	अपनोद
अवाय	बुद्धि विज्ञप्ति	अपव्याध
बुद्धि	आमुण्डा	अपेत, अपगत
विज्ञान	प्रत्यामुण्डा	अपविद्ध, अपनुत

4. धारणा– अवाय द्वारा निर्णीत अर्थ को इस प्रकार धारण करना कि वह कालान्तर में भी स्मृति का हेतु बन सके। वह संख्येय-असंख्येय काल तक रह सकती है। धारणा जितनी पुष्ट होती है, वह धारणा उतनी ही शीघ्र और दीर्घकालिक हो सकती है। धारणा के तीन प्रकार हैं– (1) अविच्युति, (2) वासना, (3) अनुस्मरण।

अविच्युति– धारणा काल में ज्ञान में एक वलय का निरन्तर बना रहना अविच्युति है। विषयान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना निमित्त विशेष से उद्‌बुद्ध होकर स्मृति का कारण बनती है।[59]

वासना– वासना का दूसरा नाम संस्कार है। यह अपने आप में ज्ञान नहीं है। यह अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण बनती है। यह दो ज्ञानों को जोड़ने वाली मध्य की कड़ी है।

अनुस्मरण– भविष्य में निमित्त पाकर उन संस्कारों का स्मृति के रूप में उद्‌बुद्ध होना अनुस्मरण है।

अविच्युति, वासना और अनुस्मरण– ये तीनों धारणा के अंग है। नंदी सूत्र में धारणा के लिये - धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा, कोष्ठा शब्दों का प्रयोग हुआ है।[60]

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम होता है। अर्थग्रहण के बाद ही विचार, विचार के बाद निश्चय, निश्चय के पश्चात् धारणा होती है। इसलिये अवग्रह पूर्वक ईहा, ईहापूर्वक अवाय, अवाय पूर्वक धारणा होती है।

चित्त और मन– साधारणतया चित्त और मन को एकार्थक माना जाता है। किन्तु ये एकार्थक नहीं है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार चित्त का अर्थ है– स्थूल शरीर के साथ काम करने वाली चेतना मन क्रियातंत्र या प्रवृत्तितंत्र का अंग। चित्त क्रियातंत्र का संचालक है। चित्त चैतन्यधर्मा है। मन चैतन्यरहित है, पौद्गलिक है। मन चित्त का स्पर्श पाकर चेतन जैसा प्रतीत होता है। इस प्रकार एक अचेतन दूसरा चेतन है।

सांख्य एवं योग दर्शन में जैसे चित्त और मन की अलग अवधारणा है। पातञ्जल योग-दर्शन के भाष्यकार व्यास ने चित्त के तीन रूपों का उल्लेख किया है।[61] (1) मिथ्याचित्त (2) प्रवृत्ति चित्त (3) स्मृति चित्त ।

(1) मिथ्याचित्त– जिसमें रजो और तमो गुण की प्रधानता है। मिथ्याचित्त व्यक्ति को ऐश्वर्य, अधिकार, सत्ता से अधिक लगाव होता है।

(2) प्रवृत्ति चित्त– यह तमोगुण प्रधान है। आसक्ति, मूर्च्छा, मोह आदि उसकी क्रियाएं है।

(3) स्मृति चित्त– इसमें तमोगुण,रजोगुण समाप्त हो जाते हैं। वैराग्य, अनासक्ति आदि गुणों का आविर्भाव होता है।

जितने ही आवेग हैं, वे सब चित्त के ही उत्पादन है। चित्त हमारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ स्थायी तत्त्व है। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। उसका स्वभाव चंचल है। चित्त की अनेक वृत्तियां है।

भगवान महावीर ने आचारांग में कहा– चित्त की अनेक वृत्तियों के कारण चित्त भी अनेक हो जाते हैं।[62]

मनोविज्ञान में मन और उसके कार्य

मनोविज्ञान का विषय है– मन के समस्त क्रिया-कलापों का वैज्ञानिक अध्ययन। मनोविज्ञान का सम्बन्ध दर्शन और विज्ञान दोनों के साथ है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत संक्षेप में इन विषयों को लिया जाता है।

स्नायु मंडल संवेदना

स्नायु मंडल (Nervous System)	संवेदना (Sensation)
प्रत्यक्षीकरण (Perception)	स्मरण (Remembering)
सीखना (Learning)	अवधान (Attention)
कल्पना (Imagination)	चिन्तन (Thinking)
भाव या अनुभूति (Feeling)	संवेग (Emotion)
प्रेरणा (Motivation)	चेतना (Consciousness)
स्वप्न (Dream)	बुद्धि (Intelligence)
योग्यता (Aptitude)	व्यक्तित्व (Personality)

वंशानुक्रम और वातावरण (Heredity and Environment).

मनोविज्ञान का आचार-दर्शन से सम्बन्ध

आचार दर्शन का कार्य है– जीवन के संदर्भ में आचरण की दिशा का निर्धारण और मूल्यांकन करना। औचित्य और अनौचित्य के सभी निर्णय आचरण से सम्बन्धित होते हैं। शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं ही आचार दर्शन की विषय वस्तु है। मनोविज्ञान की अध्ययन सामग्री भी कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएं है। उडवर्थे ने मनोविज्ञान को शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का विज्ञान कहा है।[63] इस प्रकार मनोविज्ञान और आचार दर्शन की विषय वस्तु एक ही है। व्यवहार के तथ्यात्मक स्वरूप को समझना मनोविज्ञान का कार्य है और व्यवहार में आदर्श का निर्धारण करना आचार दर्शन का कार्य है। आचार शब्द-क्रिया की ही अभिव्यक्ति है। मनोविज्ञान में चेतना और मन की स्पष्ट भेदरेखा नहीं मिलती। संभवत: चित्त एवं मन के भेद का प्रश्न भी उनके समक्ष नहीं रहा। चेतना के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोणों से अध्ययन किया किन्तु उक्त दोनों की भिन्नता के संदर्भ में मुक्त चिन्तन दृष्टिगोचर नहीं होता।

चेतना के संदर्भ में ड्रेवर का मत है कि चेतना मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का परिचय देनेवाली विलक्षण क्रिया है।[64] व्यक्ति अपनी आन्तरिक अनुभूतियों से अलग कुछ भी नहीं और अनुभूतियों की व्यापक विशेषता ही चेतना है।

विलियम जेम्स चेतना को एक नदी के समान मानता है। नदी का पानी जैसे– प्रतिक्षण बदलता रहता है वैसे चेतना भी रूपान्तरित होती रहती है। उसने चेतना की विशेषताओं को चार भागों में विभक्त किया है।[65]

1. चेतना व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखती है। चेतना प्राणी का लक्षण है।

2. चेतना में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

3.प्रत्येक चेतना में अर्थपूर्ण ढ़ग से विचारों का नैरन्तर्य बना रहता है।

हमारी मानसिक क्रियाएं निरन्तर चलती रहती है। सुषुप्त अवस्था हो या मूर्च्छित, विचारों का सिलसिला कभी टूटता नहीं। इस निरन्तरता के कारण ही वस्तुओं, परिस्थितियों, व्यक्तियों, घटनाओं आदि की अवगति प्राप्त होती है। विचार व्यक्ति की अपनी निजी संपत्ति है।

4. चेतना चयनात्मक होती है। यह हमारी मनोवृत्ति एवं मूल आवश्यकताओं आदि पर निर्भर रहती है।

चेतना के स्तर

फ्रायड ने मन के तीन स्तर माने हैं– (1) चेतन (2) अवचेतन और (3) अचेतन।

(1) चेतन मन– यह मन का वह स्तर है जिसमें व्यक्ति को अपनी क्रियाओं, इच्छाओं, विचारों, घटनाओं का वर्तमान में अवबोध रहता है। इसे चेतना का केन्द्र कहते हैं। चेतन मन क्रियाओं का नियंत्रण और संचालन करता है।

चेतन मन के तीन पक्ष हैं– (1) ज्ञानात्मक, (2) भावात्मक और (3) चेष्टात्मक।

तीसरे पक्ष चेष्टात्मक का कहीं संकल्पात्मक या क्रियात्मक नाम से भी उल्लेख मिलता है। ये तीनों सम्मिलित रूप से कार्य करते है। किसी वस्तु को देखना, उसके स्वरूप को समझना ज्ञानात्मक है। उसे किसी दूसरे को देने का चिन्तन भावनात्मक है। उसे देना क्रियात्मक है। इस प्रकार चेतनमन की प्रत्येक क्रिया में तीन प्रक्रियाएं होती हैं।

(2) अवचेतन मन– अवचेतन मन, चेतन और अचेतन दोनों के बीच का स्तर है। यह सीमावर्ती प्रदेश है। इसमें अचेतन वासनाओं की घुसपैठ चलती है। अवचेतन मन सभी स्मृतियों, इच्छाओं का भंडार हैं। वर्तमान में व्यक्ति को उनका ज्ञान नहीं रहता।

(3) अचेतन मन– अचेतन मन गहरी नींव है। यही मनुष्य के जीवन की भाग्यलिपि लिखता है। यह दमित इच्छाओं, वासनाओं, भावनाओं, आवेगों का संग्रहालय है। समस्त संवेग और अनुभवों का मर्म ही अचेतन मन है। व्यक्ति जिन इच्छाओं का दमन करता है, वे चेतन मन से अचेतन मन में प्रवेश कर संरक्षित रहती है। अचेतन मन एवं अवचेतन मन के बीच एक संवेदी सम्बध रहता है। यह अचेतन मन में पड़ी दमित इच्छाओं को आगे चेतन या अवचेतन मन तक जाने से रोक देता है।

अचेतन मन का स्तर अत्यन्त शक्तिशाली है। चेतन मन उससे प्राप्त निर्देशों के अनुसार अपना कार्य करता है। अचेतन मन का स्तर बहुत सक्रिय है। हमारे व्यवहारों पर सबसे अधिक इसका प्रभाव पड़ता है।

अचेतन मन की विषय सामग्री दो स्रोतों से आती है। एक भाग पाशविक विचारों का, दूसरा, उन विचारों, स्मृतियों, इच्छाओं का, जो कभी चेतन थी किन्तु उन्हें दमित कर दिया गया। दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति सरलता से नहीं होती। जो इच्छाएं अधिक जटिल नहीं हैं, उनकी अभिव्यक्ति, स्वप्न, प्रच्छन्न कल्पनाएं, आन्तरिक संघर्ष आदि के माध्यम से हो जाती है। इस प्रकार अचेतन मन दमित आवेगों, भूले हुए अनुभवों, इच्छाओं, आवश्यकताओं, संवेगों, लालसाओं का भंडार है।[66]

अचेतन मन की विशेषताएं

(1) अचेतन मन व्यक्ति के विचारों एवं मानसिक क्रियाओं पर बहुत प्रभाव डालता है।

(2) अचेतन मन व्यक्ति के व्यवहार का सम्पादन एवं नियंत्रण करता है।

(3) अचेतन मन में विरोध नहीं पाया जाता।

(4) अचेतन मन के सभी विचार सक्रिय होते हैं।

(5) अचेतन मन की आधार शिला शैशव काल में रखी जाती है।

अवचेतन एवं अचेतन मन का अन्तर

अवचेतन मन की क्रियाएं न तो पूर्ण रूप से व्यक्त होती है न अव्यक्त। ये सरलता से चेतन मन में प्रवेश कर देती है। इन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध काम नहीं करता। जबकि अचेतन मन की क्रियाएं पूर्णत: अव्यक्त होती है। उन पर प्रतिबंधक का नियंत्रण रहता है।

चेतन मन का नियन्त्रण कम होने पर अचेतन मन के संस्कार सक्रिय होते हैं। अनैतिक विचार या व्यवहार अभिव्यक्त होने लगता है। आक्रामकता की सहज वृत्ति अचेतन मन के कारण ही निष्पन्न होती है। इस संदर्भ में फ्रायड द्वारा किये गए व्यक्तित्व के तीन विभाग हैं– [67] (1) इदम्, (2) अहम्, (3) पराअहम्।

(1) इदम्– उन्होंनें इदम् को अनैतिक, अतर्कित, मूल प्रवृत्तियों का केन्द्र तथा शैशव अवस्था का स्तर माना। यह पूर्णत: अचेतन है। व्यक्ति की जैविक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यह कार्यरत रहता है।

(2) अहम् – फ्रायड ने अहम् को चेतन मस्तिष्क माना है। अहम् के मुख्य कार्य हैं– शरीर का पोषण करना, उसे हानि से बचाये रखना। इदम् की इच्छाओं के साथ तालमेल बिठाना। यह केन्द्रिय इकाई है और वातावरण के प्रभाव को देखकर कार्य करती है।

(3) परा अहम्– यह नैतिकता से परिपूर्ण चेतना है। सामाजिक आदर्शों की इसमें विद्यमानता है। यह समाज परिवार और संस्कृति के प्रभाव से बनता है। इदम् आवेग-प्रधान अचेतन है। अहम् चेतन स्तर पर कार्य करता है फिर भी इसका अधिकांश भाग अवचेतन तथा अचेतन में रहता है। पराअहम् भी तीन स्तरों पर कार्य करता है। यह अहम् की अपेक्षा चेतन कम, अवचेतन तथा अचेतन अधिक होता है।

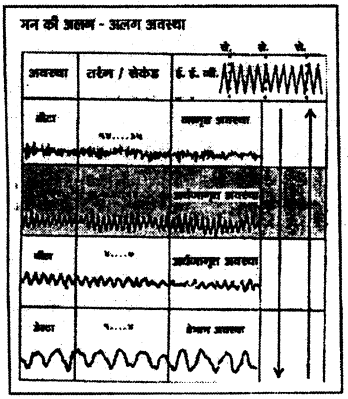

युंग का मत– युंग ने अचेतन मन को जन्मजात या परम्परागत माना है। उसके अनुसार अचेतन मन एक संस्कार है । यह अनेक परम्पराओं से प्राप्त होता है। अचेतन मन को दो भागों में विभक्त किया है– [68] (1) वैयक्तिक अचेतन मन और (2) सामूहिक या जातिगत अचेतन मन ।

(1) वैयक्तिक अचेतन मन– जो इच्छाएं, कामनाएं दमित कर दी जाती है वे व्यक्ति के वैयक्तिक अचेतन मन में पहुंच जाती हैं और उसके व्यवहार पर प्रभाव डालती है। व्यक्ति की इच्छाओं का दमन सामाजिक तथा नैतिक बंधनों के कारण होता है।

(2) सामूहिक या जातिगत अचेतन मन– जातिगत संस्कार, वंश-परम्परा से प्राप्त समस्त गुण, योग्यताएं इसी मन में एकत्र रहती हैं।

इस प्रकार फ्रायड से लेकर आज तक मनोविज्ञानिक इसे समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी मन का विषय इतना बड़ा है कि हजारों प्रयत्नों के बाद भी उसे पूरा नहीं समझा जा सका है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में चूंकि हमारा पर्याय का जगत् इतना बड़ा है कि उन्हें समग्रता से समझ पाना किसी एक व्यक्ति के लिए कठिन है।

मेक्डूगल ने कहा– मूल प्रवृति जन्मजात मनो-शारीरिक वृत्ति है। इसके धारण कर्त्ता को किसी एक विशिष्ट विषय का प्रत्यक्षीकरण करने, उनकी ओर अवधान केन्द्रित करने तथा एक संवेदनात्मक उत्तेजना की अनुभूति करने से उस विषय के विशेष गुण की संबोधना से उत्पन्न हुई होती है और उसी के अनुरूप विशिष्ट दिशा में वह कार्य करने अथवा उस कार्य सम्बन्धी प्रेरणा का अनुभव कराती हो।[69] मेक्डूगल ने मूल प्रवृत्तियों में निम्न लिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(1) संज्ञानीपक्ष – किसी वस्तु अथवा परिस्थिति विशेष की ओर ध्यान देना तथा उसमें रूचि लेना।

(2) संवेगात्मक पक्ष– किसी संवेग का अनुभव करना।

(3) क्रियात्मक पक्ष–संवेगों प्रति विशेष प्रकार से क्रियात्मक होना। मेक्डूगल के अनुसार संवेगात्मक और भावात्मक पक्ष मूल है। मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार में ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक तीनों क्रियाएं सम्मिलित हो जाती हैं। [70]

मूल प्रवृत्तियां और संवेग

मेक्डूगल ने व्यक्ति में चौदह मूलप्रवृत्तियां और उतने ही संवेग माने हैं– [71]

मूल प्रवृत्तियां	संवेग
पलायन	भय
संघर्ष	क्रोध
जिज्ञासा	कुतुहल भाव
आहार-अन्वेषण	भूख
पैतृक वृत्ति	वात्सल्य
यूथवृत्ति	सामूहिकता का भाव
विकर्षण	जुगुप्सा भाव

काम	कामुकता
स्वाग्रह	उत्कर्ष भावना
आत्म हीनता	हीनता का भाव
उपार्जन	स्वामित्व भावना
रचना	सृजन भावना
याचना	दु:ख भाव
हास्य	उल्लसित भाव

कर्मशास्त्र की दृष्टि से हमारे आचरण और दृष्टिकोण का मूल मोहनीय कर्म है। यह मूर्च्छा का जनक है। मूर्च्छा से दृष्टिकोण और चारित्र प्रभावित होता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण, चारित्र और व्यवहार की व्याख्या मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर की जा सकती है। जैन कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं और उनके अट्ठाईस विपाक है। [72] मूल प्रवृत्तियों एवं संवेग के साथ उनकी तुलना की जा सकती है।

	मोहनीय कर्म के विपाक	**मूल संवेग**
1)	भय	भय
2)	क्रोध	क्रोध
3)	जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव
4)	स्त्री वेद	कामुकता
5)	पुरूष वेद	
6)	नपुंसक वेद	
7)	मान	उत्कर्ष भावना
8)	लोभ	अधिकार भावना
9)	रति	उल्लसित भाव
10)	अरति	दु:ख

जैन दर्शनानुसार मानसिक आवेग-उपआवेग व्यक्ति को बहुत प्रभावित करते हैं। व्यक्तित्व का सीधा सम्बन्ध आवेगों से है। आवेगों की जितनी तीव्रता होगी, व्यक्तित्व उतना ही अव्यवस्थित होगा। आवेग व्यक्ति को उत्तेजित करते हैं। उत्तेजित होते ही वह भावाविष्ट हो जाता है। फलत: उसकी विचार-क्षमता, तर्क-शक्ति शिथिल हो जाती है।

भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेश की वृत्ति युयुत्सावृत्ति को जन्म देती है। युयुत्सा से अमर्ष, अमर्ष से आक्रामकता जन्म लेती है। इन मानसिक आवेगों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं का हमारे आचरण और व्यवहार पर होने वाला प्रभाव समझ सकते हैं।

आवेश की मनोवृत्ति – गाली युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या आदि।

गर्व की मनोवृत्ति – घृणा, क्रूर व्यवहार, अमैत्री।

माया की मनोवृत्ति – अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।

संग्रह की मनोवृत्ति – शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष व्यवहार, क्रूर व्यवहार, विश्वासघात।

उपर्युक्त दुष्प्रभावों के अलावा इनसे वैयक्तिक जीवन में आध्यात्मिक विकास भी अवरूद्ध होता है।

मनोविज्ञान में यद्यपि मन के भिन्न-भिन्न स्तरों एवं उनकी कार्य-प्रणाली पर विमर्श किया गया है। जैन दर्शन में भले उस रूप में विश्लेषण नहीं मिलता हो किन्तु उनके मूल स्रोतों पर विस्तृत व्याख्याएं उपलब्ध हैं।

मन और संज्ञा

मन का दूसरा नाम 'संज्ञा' है। संज्ञा शारीरिक आवश्यकताओं एवं भावों की मानसिक संचेतना है। यह परवर्ती व्यवहार की प्रेरक बनती है। संख्या की दृष्टि से संज्ञाओं के तीन वर्ग बन जाते है।

संज्ञाओं के प्रकार

(1) संज्ञाओं के चार प्रकार– आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।[73]

(2) संज्ञाओं के दस प्रकार– आहार संज्ञा , मान संज्ञा, भय संज्ञा, माया संज्ञा, मैथुन संज्ञा, लोभ संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, लोक संज्ञा, क्रोध संज्ञा, ओघ संज्ञा।[74]

(3) चौदह प्रकार– आहार, मोह, लोभ, भय, विचिकित्सा, शोक, मैथुन, क्रोध, लोक, परिग्रह, मान, धर्म, सुख : दुःख, माया।[75]

(4) सोलह प्रकार[76]– इस वर्गीकरण में शारीरिक या जैविक, मानसिक एवं सामाजिक प्रेरकों का समावेश है। संज्ञा की उत्पत्ति बाह्य और आभ्यन्तर उत्तेजना से

होती है। यह चित्तवृत्ति चेतन और अचेतन दोनों का संगम स्थल है। इनमें कार्य-कारण भाव भी है। आहार कारण है तो मान, माया, लोभ कार्य है। भूख, मैथुन, परिग्रह से भी क्रोध आदि संज्ञाओं का उद्भव होता है। ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मनयुक्त पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में होती है।

दस संज्ञाओं में प्रथम आठ संवेगात्मक हैं और अंतिम दो, ओघ संज्ञा, लोक संज्ञा ज्ञानात्मक है।

ओघ संज्ञा– ओघ संज्ञा सामुदायिकता की द्योतक है। समूह में रहने की मनोवृत्ति मनुष्य और पशु सबमें होती है। समूह की चेतना एवं अनुकरण की वृत्ति ओघ संज्ञा है। मेक्डूगल ने इसे युथवृत्ति कहा है।

लोक संज्ञा– यह वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी में कुछ विशेषताएं होती हैं। जो समूह में नहीं मिलती। जैसे व्यापारी का पुत्र व्यापारी बनता है। यह वैयक्तिक चेतना की सक्रियता है।

यद्यपि ये संज्ञाएं मूल स्रोत नहीं है, तथापि व्यवहार एवं आचरणों को प्रभावित अवश्य करती हैं। व्यवहार को व्याख्यायित करने के लिये आधुनिक मनोविज्ञान ने अनुप्रेरणा का आलम्बन लिया है। कोई भी सक्रिय प्राणी वह केवल अपनी जैविक आवश्यकताओं की संपूर्ति के लिये कार्य नहीं करता अपितु उद्दीपक और वातावरण आदि अनेक तत्त्व भी उसके व्यवहार का संचालन करते हैं।

संवेग का स्वरूप– मनोविज्ञान में संवेग को एक शक्ति-शाली अनुप्रेरक के रूप में माना इससे हमारा मन, आचरण और व्यवहार प्रभावित होता हैं। संवेग एक प्रेरित व्यवहार है। जिसमें उच्च प्रकार की चेतना विद्यमान रहती है तथा आकर्षण -विकर्षण का व्यवहार परिलक्षित होता है। सामान्य रूप से संवेग की व्याख्या तीन-स्तरों पर की जा सकती हैं– 1. चेतना में परिवर्तन, 2. व्यवहार के रूप में परिवर्तन, 3. संवेगीय अनुभव और आन्तरिक क्रियाओं में परिवर्तन ।

संवेग की उपस्थिति में व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक क्रियाओं में अन्तर आ जाता है। जैसे एक व्यक्ति अध्ययन कर रहा है, उसका ध्यान, चिन्तन और मानसिक क्रियाएं सभी एक दिशागामी है। शारीरिक मुद्रा भी संतुलित है। सहसा काला नाग निकल आया। भय का संवेग जागा। चिन्तन, ध्यान सब समाप्त हो गये। शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्थितियां बदल गई। भय से हृदय की गति, सांस की गति, पाचनक्रिया

आदि में परिवर्तन आ जाता है। आवेग की अभिव्यक्ति बाह्य व्यवहार में होती है। व्यक्ति भय से भागने लगता है और भय से दु:ख का अनुभव भी होता है।

संवेग, आवेग एक जटिल पहेली है। उनकी निश्चित व्याख्या असंभव है। सोरेन्सन ने आवेग को चार प्रकार से समझाया है।[77] (1) उद्दीपन (2) शारीरिक परिवर्तन (3) अभिव्यक्ति (4) अनुभव।

आवेग-संवेग के विभिन्न प्रकार

मेलवीन मार्क्स ने आवेगों का वर्गीकरण इस प्रकार किया हैं। [78]

परिस्थिति जन्य		स्वसंदर्भ	अन्तर्वैयक्तिक
सांवेदनिक	बोधनात्मक	(1) अभिमान	(1) प्रेम
(1) आनन्द	(1) हर्ष	(2) शर्म	(2) धिक्कार
(2) वेदना	(2) दु:ख	(3) अपराध	
	(3) भय	(4) पश्चात्ताप	
	(4) क्रोध		

संवेग की स्थिति में स्वत: संचालित नाड़ीतंत्र, बृहद् मस्तिष्क और हाईपोथेलेमस विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। संवेग की समाप्ति के बाद भी उसका प्रभाव कुछ समय तक बना रहता है। उस समय व्यक्ति की जो मानसिक स्थिति बनती है मनोविज्ञान में उसे 'मनोदशा' कहा गया है।

संवेग और मनोदशा का अन्तर

संवेग में कालमान कम किन्तु भावों की तीव्रता अधिक होती है। मनोदशा में कालमान अधिक किन्तु भावों की तीव्रता कम होती है। दोनों में अन्त:क्रिया चलती है। संवेग या मूल प्रवृत्ति जब किसी वस्तु के चारों ओर स्थायी रूप से सुगठित हो जाती है तब उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव की तरह ही हमारे अन्तरंग व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है– भावनाग्रंथि। नैतिक एवं चेतन रूप से क्रियाशील भावना को स्थायी भाव एवं अनैतिक तथा अचेतन रूप से क्रियाशील भावना को भावना ग्रंथि कहा जाता है। इन दोनों से संचालित हो व्यक्ति ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाएं करता है।[79]

1. निरन्तर चिन्ता एवं अत्यधिक दिमागी श्रम से शरीर थक जाता है।
2. उदासीनता से पाचन-शक्ति मन्द हो जाती है।
3. क्रोध से रक्त विषाक्त बन जाता है, स्वभाव में चिड़चिड़ापन, शरीर में कंपन, रक्तचाप वृद्धि, नसों में तनाव, यूरिन अधिक, पेट में जलन आदि होती हैं।
4. ईर्ष्या से अल्सर की संभावना बनती है।
5. घृणा से अरुचि, जीवन से विरक्ति, अति रोना, भूख का कम होना आत्महत्या, आदि होते हैं।
6. भय से हृदय की धड़कन तेज, घबराहट,मुंह सूखना, भूख बंद, नींद नहीं आना आदि होते हैं।
7. काम से कई ग्रंथियों का स्राव, चंचलता बढ़ जाती है, विवेक कम होता है।
8. बुरे भावों से अतिसार हो जाता है।

अनेक रोगों को आज वैज्ञानिक मनोदैहिक (साइकोसोमेटिक) मानते हैं।

मार्मन विन्सेन्ट पील अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द पावर ऑफ पोजीटिव थिंकिंग, में उद्धृत करते हैं कि जोड़ों एवं मांस पेशियों का दर्द किसी निकटवर्ती व्यक्ति के प्रति आन्तरिक आक्रोश के कारण होता है।[80]

लुई हे ने 'यू केन हील योर लाइफ' पुस्तक में अपने अनुभवों का संकलन किया है। उनके अनुसार– 'लम्बे समय तक चलने वाली उदासीनता कैंसर का हेतु बन जाती है। आलोचना की स्थायी वृत्ति जोड़ों का दर्द पैदा करती है। भय और तनाव से गंजापन, अल्सर आदि की संभावना बढ़ जाती है। शुभ विचार, भावना, क्रियाओं का उपयोग चिकित्सा में करके लुई हे ने स्वयं अपना कैंसर रोग ठीक किया एवं आज स्वयं अमेरिका में सब प्रकार की बीमारियों का उपचार कर रही है।[81]

दीपक चौपड़ा का अभिमत है कि दवा के कण, श्वास, वायु के कण, भोजन के कण, अच्छे विचार, अच्छी क्रिया, अच्छी प्रवृतियों के माध्यम से हम बीमारियों को ठीक कर सकते हैं। दवा की तुलना में मरीज के ठीक होने में वे मनुष्य के सद्विचारों को महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। अमेरिका में शुभ विचारों के प्रभाव से ऐसी बीमारियों का

इलाज करते है जिनका दवा से उपचार संभव नहीं है। अपनी इस चिकित्सा पद्धति को वे क्वांटम चिकित्सा कहते है।[82]

जैन दर्शन के अनुसार शुभ भाव कर्म परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कर्म-प्रभाव को प्रकट करने वाले कई सूत्रों का उल्लेख किया है।[83] प्राणी मात्र के प्रति करूणा, त्यागी-व्रतीजनों की सेवा, दान-पुण्य, आत्म-नियंत्रण, क्षमा, शुचिता आदि क्रियाएं सातवेदनीय कर्म का आश्रवण है। ऐसा करने से स्वास्थ्य, शारीरिक सुख और मानसिक शांति के अनुकूल पारिस्थितिक योग मिलता है।[84]

हम कर्म-रजों को उपकरणों में आबद्ध नहीं कर सकते है। प्रयोगकर्त्ता की भावना के अनुसार वे प्रभावित अवश्य होती हैं। वैज्ञानिकों ने यह मान्य किया है कि भावनाएं प्रभावित करती है। भावना का प्रभाव यंत्रों पर भी पड़ता है। इस तथ्य का 'द गास्ट इन द एटम्' नामक पुस्तक में विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें कर्म-परमाणुओं का जिक्र नहीं है किन्तु प्रयोग कर्त्ता की भावना का क्या प्रभाव होता है, इसका विवेचन कर क्वान्टम-यांत्रिकी एवं कार्य -कारण के सिद्धांत को समझने का प्रयास किया गया है।[85]

इन घटनाओं के पढ़ने पर संवेगों के शरीर पर होने वाले प्रभाव में किसी प्रकार की आशंका का अवकाश नहीं रह जाता है।

शरीर, वाणी और मन क्रियान्विति के साधन हैं। इनमें शरीर प्रवृत्तियों का सबसे बड़ा स्रोत है। दूसरा स्रोत वाणी है। किन्तु वाणी की प्रवृत्ति निरन्तर नहीं होती है। बोलने पर वाणी की प्रवृत्ति होती है। तीसरा प्रवृत्ति का प्रमुख स्रोत मन है। वैदिक परम्परा में यह आम धारणा है कि मन तीनों में प्रमुख है। बंधन और मुक्ति का कारण मन ही है।[86] मैत्राण्युपनिषद् एवं तेजोबिन्दूपनिषद् में भी कहा गया कि मनुष्य के बंधन और मुक्ति का कारण मन है।[87]

जैन दर्शन की मान्यता इससे भिन्न है। वाणी और शरीर का सहयोग मन निरपेक्ष स्थिति में कुछ करने के लिये समर्थ नहीं है। इन दोनों में भी शरीर की भूमिका प्रमुख है, शरीर के बिना मन के पुद्गलों का ग्रहण भी संभव नहीं।

बुद्ध ने हिंसा आदि के साधन (दण्ड) के रूप में एक मन को ही मुख्यता दी है। वाणी और काया को दण्ड नहीं माना। भगवान महावीर को एक दण्ड की धारणा स्वीकार्य नहीं थी। उन्होंनें दण्ड के तीन प्रकार बताए हैं– मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। उनके अनुसार वाणी और काया का महत्त्व मन से कम नहीं।

शरीर में व्याप्त नाड़ीतंत्र में जब उत्तेजनाएं, वासनाएं, तरंगें उत्पन्न होती है, न चाहते हुए भी गलत आचरण और व्यवहार हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण नाड़ी संस्थान का गलत अभ्यास है। नाड़ी संस्थान का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। मन, वाणी और काया तीनों उपतंत्र है। तीनों का समान मूल्य है। ऐसी स्थिति में मन को अतिरिक्त मूल्य नहीं दिया जा सकता। मन में किसी को मारने की कल्पना हुई। शरीर का सामर्थ्य नहीं या शरीर सहयोगी नहीं बना तो कल्पना साकार रूप नहीं ले सकती। मन व्यसन से मुक्त होना चाहता है, स्नायु की मांग होने पर व्यक्ति न चाहते हुए भी नशीली चीजों का सेवन कर लेता है। मन ही प्रमुख हो तो तत्काल व्यक्ति व्यसनमुक्त हो सकता है किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका कारण शरीर है, शरीर के स्नायु है। जो आदत स्नायुगत हो जाती है वह शीघ्र छूटती नहीं। स्नायुओं को जैसा अभ्यास दिया जाता है, उसके विपरीत कार्य करने में कठिनाई होती है। व्यक्ति किसी पर हाथ उठाना नहीं चाहता फिर भी उठ जाता है। दूर की वस्तुएं देखने कोई चश्मा लगाता है, अध्ययन के समय उतार देता है, फिर भी अभ्यास वश कई बार हाथ चश्मे के लिए आंख पर चला जाता है।

विलियम जेम्स ने 'द प्रिंसिपल ऑफ साइकोलोजी' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है– अच्छा जीवन जीने के लिये अच्छी आदतों का बनाना जरूरी है। अच्छी आदतों के निर्माण के लिये अभ्यास की अपेक्षा है। अभ्यास के अभाव में आदतें बदलने का उपक्रम असफलता का द्वार खोलना है। उन्होंने अच्छी आदतों के निर्माण के लिये कुछ सूत्र प्रस्तुत किये।[88]

1. अच्छी आदतें डालनी हो तो सबसे पहले अच्छी आदतों का चिंतन करो।

2. शरीर को विशेष प्रकार का अभ्यास दो। शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण आदतों को अच्छी बनाता है। स्नायुओं को पहले से जिस सांचे में ढाला गया है, उन्हें बदले बिना एक चक्र की भांति चलते रहते है। मन ही हमारी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का मूल है– इस बद्धमूल अवधारणा की स्थूलता तब दृष्टिगोचर होती है जब क्रिया के गहरे तल पर उतरते हैं। क्रियावाद में मात्र मन ही प्रवृत्ति का हेतु नहीं अपितु भाषा और शरीर भी है। मन, वाणी और शरीर तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। तीनों में शरीर इसलिये प्रधान है कि ग्रहण और विसर्जन का माध्यम शरीर ही है। जो प्रवाह भीतर आता है या बाहर जाता है, उसमें शरीर हेतु है। इसलिये हमें 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो:' के साथ 'शरीर एवं मनुष्याणां कारणं बंध-मोक्षयो:' भी कहना चाहिये, तभी संगति बैठती है।[89]

मन, वाणी और शरीर तीनों का अपना स्वतंत्र कार्य है। इनकी क्रियाओं में अध्यवसाय, निमित्त है। मन को सक्रिय करने वाला अध्यवसाय, वाणी का प्रवर्तन करने वाला अध्यवसाय और शरीर का संचालन करने वाला अध्यवसाय तीनों का स्वतंत्र सहयोग है। मन का महत्त्व है, पर वह सब कुछ नहीं।

संदर्भ सूचि

1 जैन दर्शन : मनन और मीमांसा; पृ. 513

2. भगवती; 13/126
   आया भंते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आया मणे, अण्णे मणे,
   मणिज्जमाणे मणे.....॥

3. मनोनुशासनम्; पृ. 19

4. श्री भिक्षु आगम विषय कोश; पृ. 508

5. न्याय सूत्र; 3/2/6

6. वैशेषिक सूत्र, 7/1/123

7. सन्मति तर्क प्रकरण; पृ. 151

8. माठर कारिका; 27

9. तर्क संग्रह; पृ.54 सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः।

10. वात्स्यायन भाष्य; 1/1/16

11. न्याय सूत्र; 1/1/16

12. सन्मति तर्क प्रकरण काण्ड की टीका; 2

13. प्रमाण मीमांसा, भाषाटिप्पणानि; पृ. 44

14. योग शास्त्र; 5/2

15. जैन दर्शन में आत्म विचार; पृ. 9

16. योग वार्तिक; पृ . 349

17. दर्शन और चिन्तन; भाग 1; पृ.140

18. भगवती;.13/7/494

19. (क) तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका; पृ. 156
    (ख) सूत्रकृतांग वृति; 1/12
    सर्व-विषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पति लिंगमनः, तदपि द्रव्यमन :
    पौद्गलिकमजीव ग्रहणेन गृहीतम् भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीव ग्रहणेनेति....।

(ग) धवला सूत्र; 36 पृ. 130
20. चित्त और मन; पृ.8
21. नंदी चूर्णि; पृ. 46-61
22. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा; पृ. 515
23. ज्ञान-मीमांसा; पृ. 158
24. वही; पृ. 157
25. (क) आवश्यक चूर्णि; पृ. 544- 552
(ख) नंदी वृत्ति; पृ. 132
26. नंदी; गा. 38
27. वही; 39
28. वही; 38
29. वही; 38
30. जीव-अजीव; पृ. 40
31. योगशास्त्र; 12/2
32. मनोनुशासनम्; सू. 2
दृष्टिचारित्रमोहपरिव्याप्तं मूढम्।
33. वही; सू. 4
इतस्ततो विचरणशीलं विक्षिप्तम्।
34. वही; सूत्र 5
कदाचिदन्तः कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम्।
35. वही; सूत्र 8 स्थिरं श्लिष्टं।
36. वही; सूत्र 9 सुस्थिरं सुलीनं।
37. योगशास्त्र; पृ. 283/12/3
सुलीनमतिनिश्चलम्।
38. मनोनुशासनम्; सूत्र 13
निरालम्बनं केवलमात्मपरिणतिः निरूद्धम्।
39. पातंजल योगदर्शन; सू 1/18
40. संभवामि क्षणे क्षणे; पृ. 450
41. भारतीय दर्शन; पृ. 190

42. अभिधम्मत्थ संग्रहो; पृ. 1
43. चित्त और मन; पृ .26
44. वही; पृ. 27
45. प्रमाणमीमांसा; 1/1/26
अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।
46. सर्वार्थसिद्धि; 1/15/11
47. नंदीसूत्र; 40
48. नंदीसूत्र; सूत्र 51 पृ. 22 (पुण्यविजय)
49. तत्त्वार्थ भाष्य; 1/15
50. षट्खण्डागम; 13/5, 5 सू. 37 पृ. 242
51. धवला; 1/9, 1/14, 17/3
52. नंदीसूत्र; 32
53. तत्त्वार्थ भाष्य; 1/15
54. धवला; 6-1, 9-1, 14-17-7
55. प्रमाण मीमांसा; 1/1/28,
ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।
56. नंदीसूत्र; सूत्र 53
57. षट्खण्डागम; 13/5/5 सूत्र 39
58. तत्त्वार्थ भाष्य; 1/15
59. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा; पृ. 606
60. नंदीसूत्र; 54
61. जीवन विज्ञान की रूपरेखा
62. आयारो 3/42 'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे';
63. वुडवर्थ एण्ड मार्क्विस; पृ. 2
64. जीवन विज्ञान की रूपरेखा; पृ. 320
65. आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 349
66. सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 382
67. वही; 387
68. वही; 386-387

69. सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 226

70. सामान्य मनोविज्ञान; पृ. 226

71. Instinct

(1) Escape	Fear
(2) Combat, Pugnacity	Anger
(3) Curiosity	Wonder
(4) Food-Seeking	Appetite
(5) Perental	Tender Emotion
(6) Social Insticnt	Lonliness
(7) Repulsion	Disgust
(8) Sex, mating	Lust
(9) Self -Assention	Positive Self Feeling.
(10) Submission	Negative Self Feeling.
(11) Acquisition	Feeling of Ownership
(12) Construction	Feeling of Construction
(13) Appeal	Feeling of Appealing.
(14) Laughter	Laughing Feeling.

72. कर्मवाद; पृ. 238

73. (क) ठाणांग; 4/578

(ख) समवायांग; 4/4

74. (क) ठाणांग; 10/105

(ख) प्रज्ञापना पद; 8

75. (क) भगवती; 24/17

(ख) आचारांग निर्युक्ति; 16

(ग) अभिधान राजेन्द्र कोश; खण्ड 7 पृ.301

(घ) धवला; 2.1.1.413.

76. वही; 24/17

77. आवेग अने लागणी;

78. वही;

79. लेश्या और मनोविज्ञान; पृ. 64-65

80. जैन दर्शन और क्राण्टम सिद्धांत;

81. वही;

82. उद्धृत आस्था और अन्वेषण से

83. सर्वार्थसिद्धि; 6/ 12
84. वही; 6/12
85. The ghost in the atom combridge;
86. गीता;
87. मैत्राण्युपनिषद्; 4/11, तेजोबिन्दूपनिषद्; 5/95
88. आभामण्डल; 27 पृ.
89. आभामण्डल; 9 पृ.

उपसंहार

जैन आगम-साहित्य ज्ञान-विज्ञान का विशाल एवं अक्षय कोश है। अन्यान्य विषयों के साथ उसमें क्रिया के संदर्भ में भी विस्तार से विचार हुआ है। यद्यपि किसी एक आगम में क्रिया का क्रमबद्ध उल्लेख नहीं मिलता, यत्र तत्र क्रिया का सूक्ष्म और गहन विश्लेषण उपलब्ध है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में प्राप्त तथ्यों के आधार पर क्रिया के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक परम्पराएं मानव के अस्तित्व काल से चली आ रही हैं। समय-समय पर विभिन्न धर्म एवं दर्शनों का प्रादुर्भाव होता रहा है। भगवान महावीर का युग दार्शनिक चिंतन के चरमोत्कर्ष का युग था। आत्मा और जगत् के संदर्भ में गहन चिन्तन और मनन उस समय हुआ। जैनागमों के अनुसार आत्मा, कर्म और क्रिया आदि विषयों को लेकर उस समय 363 और बौद्धों के अनुसार 63 दार्शनिक मत प्रचलित थे। इन सभी मतों को संक्षेप में चार वर्गों में बांटा गया– (1) क्रियावाद, (2) अक्रियावाद, (3) अज्ञानवाद, (4) विनयवाद।

भगवान महावीर क्रियावाद के प्रबल समर्थक और प्रखर प्रवक्ता थे। क्रियावाद का आधार है– आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व। अस्तित्व की मूल कसौटी है– अर्थक्रियाकारित्व। कि जो अर्थ क्रियाकारी है, उसी का अस्तित्व है। जिसमें अर्थक्रिया संभव नहीं है उसका अस्तित्व भी संभव नहीं है। एक प्रकार से क्रिया ही किसी भी तत्त्व के वास्तविक अस्तित्व का आधार मानी गई। जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु को परिणामिनित्य या नित्यानित्यात्मक माना गया है। जैनाचार्यों ने एकांत नित्य और एकांत क्षणिक वस्तु के अस्तित्व को अर्थक्रिया के अभाव में स्वीकार नहीं किया है। अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या अक्रम (युगपत्) से। चूंकि एकान्त नित्य और क्षणिक वस्तु में देशगत और कालगत दोनों ही प्रकार से अर्थक्रिया संभव नहीं है। अत: एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक वस्तु का अस्तित्व भी नहीं है।

अर्थक्रिया का तात्पर्य प्रयोजनात्मिका क्रिया है। प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ क्रिया

करता है और उससे किसी न किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है। जिस किसी पदार्थ का अस्तित्व है तो निश्चित वह उपयोगी भी होगा। निरूपयोगी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता। अर्थक्रिया और पदार्थ की सत्ता में व्याप्य-व्यापक संबंध है। अर्थक्रिया व्यापक है, पदार्थ की सत्ता व्याप्य है। व्यापक अर्थक्रिया के अभाव में व्याप्यभूत सत्ता का भी स्वत: अभाव हो जाता है। यही कारण है कि वस्तु के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए क्रिया की सिद्धि अनिवार्य है। क्रिया के अस्तित्व का स्वीकार किये बिना आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद और परिणमन जैसे सिद्धांत भी निराधार हो जाते है।

क्रियावाद दार्शनिक चर्चा-परिचर्चा का मुख्य विषय रहा है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत क्रिया की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। इस से स्पष्ट होता है कि क्रिया का सिद्धांत प्राचीन काल से दार्शनिक मतभेद का प्रमुख आधार रहा है। क्रियावाद और अक्रियावाद में दार्शनिक परम्पराओं को वर्गीकृत करने का अर्थ यह हुआ कि 363 दार्शनिक विचारधाराओं में से अधिकतम विचारधाराएं इस विषय पर विमर्श कर रही थी। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य जिसे भारतीय दर्शनों में मोक्ष-पुरूषार्थ की संज्ञा दी गई है उसे प्राप्त करने के लिए क्रिया की अनिवार्यता है या अक्रिया की। दूसरा, बन्धन का कारण क्रिया किस रूप में बनती है– इन पर भी चिन्तन करना आवश्यक था। जैनदर्शन इन दोनों दृष्टि से चिंतन के क्षेत्र में अग्रणी दर्शन कहा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय में आचारशास्त्रीय दृष्टि से क्रिया पर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि आचारशास्त्रीय संदर्भ में क्रिया का चिन्तन एक स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध का विषय है तथापि आचार भी दर्शन का ही एक अंग है। यही कारण है कि द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत आचार के संदर्भ में क्रिया पर विचार किया गया है। यह अध्याय इसका प्रबल साक्ष्य है कि सूक्ष्म और स्थूल दोनों जगत् में क्रिया से किस प्रकार का बंधन होता है। व्यक्ति स्वयं हिंसा आदि असामाजिक प्रवृत्तियों के द्वारा बन्धन करता है। यह बात सभी दर्शनों में समान रूप से मान्य है। किन्तु स्वयं संलग्न नहीं होने पर भी आन्तरिक आसक्ति के कारण से, यहां तक कि मृत्यु के पश्चात् भी किस प्रकार से बन्धनग्रस्त होता है - यह एक नया और सूक्ष्म चिन्तन है, संभवत: जैनागमों में ही देखने को मिलता है।

तृतीय अध्याय में क्रिया और कर्म के पारस्परिक संबंध पर विचार किया गया है। सृष्टि में मुख्यत: दो ही तत्त्व क्रियाशील हैं– जड़ और चेतन। दोनों का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न हैं। फिर भी इनमें अन्त:क्रिया होती है। ये एक दूसरे को प्रभावित कैसे करते हैं? जैन दर्शन के अनुसार हर संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त है। इसलिए मूर्त्त के द्वारा मूर्त्त के

आकर्षण में विप्रतिपत्ति नहीं है। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का अनादि संबंध है। अतः उनमें परस्पर अन्तःक्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। यह अन्तःक्रिया ही समस्त जीव-जगत् की विविधता का मूल आधार है। जीव निरन्तर सूक्ष्म और स्थूल पुद्गलों का ग्रहण और परिणमन करता है। स्थूल पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन के द्वारा स्थूल शरीर और सूक्ष्म पुद्गलों के ग्रहण और परिणमन से कर्मशरीर जैसे सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। कर्म का तात्पर्य उन सूक्ष्म पुद्गलों से है जो प्रत्येक संसारी जीव के साथ उसकी प्रवृत्ति के कारण संबंध स्थापित करते हैं। श्वासोच्छ्वास, आहार, भाषा और मन के रूप में भी जीव की समस्त प्रवृत्तियों में पुद्गलों का ग्रहण और परिणमन अनिवार्य है। इस प्रकार जीव और पुद्गलों के विविध संयोगों का परिणाम ही यह सम्पूर्ण सृष्टि है।

पुद्गल और जीव द्रव्य के सिवाय किसी अन्य द्रव्य में मिलने की और अनुक्रिया की शक्ति नहीं पाई जाती। जीव और पुद्गल दोनों में स्नेह गुण अर्थात् जीव में आकृष्ट करने की और पुद्गल में आकृष्ट होने का सामर्थ्य होने से उनका पारस्परिक सबंध संभव होता है। इससे सिद्ध है कि कर्म और क्रिया का गहरा अनुबंध है।

भारतीय श्रमण संस्कृति के मनीषियों का उद्घोष रहा– 'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई' अर्थात् जो एक आत्मा को जानता है वह सबको जानता है। इसी प्रकार वैदिक संस्कृति का भी यह चिरन्तन संदेश है– 'आत्मनि विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति' जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जान लिया। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा असंख्य चेतनात्मक प्रदेशों का पिण्ड है। संसार दशा में उसका बाह्य स्वरूप विविधता लिये हुए है। वैविध्य आगन्तुक है। भीतर की उपज नहीं। आत्मा द्रव्य दृष्टि से एक रूप है। विरूपता पर्याय दृष्टि से है। विरूपता वैभाविक परिणति है। वह सहेतुक है और वह हेतु कर्म है। कर्म के संक्षेप में दो और विस्तार में आठ प्रकार हैं। यह चर्चा प्रस्तुत अध्याय में की गई है।

यहां ध्यातव्य यह है कि जैन मनीषियों ने कर्म को न केवल सूक्ष्म जड़ तत्त्व माना है। अपितु उसे संस्कार रूप भी माना है। संस्कार को ही भाव कर्म और सूक्ष्म जड़ तत्त्व को द्रव्य कर्म की संज्ञा दी है। द्रव्य कर्म पुद्गल रूप है। उसका ग्रहण भावकर्म के योग से होता है। भावकर्म राग-द्वेषमय आत्म-परिणाम हैं। भावकर्म क्रिया से सूक्ष्मस्तर पर कर्मों का आकर्षण होता है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्यंभावी है। प्रतिक्रिया स्वरूप पुद्गलों का ग्रहण ही द्रव्य-कर्म हैं। कर्म के जितने प्रकार हैं उतने ही प्रकार की क्रिया भी है।

कर्म-बंध से बचने के लिये कर्म-बंध की हेतुभूत क्रियाओं से बचना आवश्यक है। इस प्रकार बंधन और मुक्ति दोनों का मूल बीज क्रिया है। कर्म-बंध में भावकर्म की मुख्यता है और मुक्ति में पुरूषार्थ मुख्य है। भाव और पुरूषार्थ दोनों ही क्रियात्मक हैं। एक का संबंध अतीत से है, दूसरे का संबंध वर्तमान से है।

चतुर्थ अध्याय में क्रिया के साथ परिणमन के सिद्धांत का संबंध स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। जैसा कि प्रारंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया के अभाव में पदार्थ का अस्तित्व असंभव है। किसी भी अस्तित्व का आधार है - त्रिपदी अर्थात् उत्पाद,व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन। परिणाम या परिणमन पदार्थ में होने वाली एक प्रकार की अपरिस्पंदनात्मक क्रिया है। पदार्थ में परिस्पंदनात्मक क्रिया भी होती है। अपरिस्पन्दात्मक क्रिया सूक्ष्म स्तर पर होती है और परिस्पंदनात्मक स्थूल स्तर पर। यह एजनादि तथा देशान्तर प्राप्ति रूप होती है। अपरिस्पंदनात्मक में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा अगुरूलघु आदि गुणों का परिणमन होता है। जीव की तरह पुद्गल में भी दोनों प्रकार की क्रिया होती है।

जीवों के दो प्रकार हैं - सिद्ध और संसारी। सिद्धों में परिस्पंदनात्मक क्रिया नहीं होती है, इस दृष्टि से वे अक्रिय हैं। किन्तु परिणमन रूप क्रिया तो सिद्धों में भी पाई जाती है। सशरीरी जीवों में प्रथम गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीव सक्रिय होते हैं। कोई भी देहधारी प्राणी बिना क्रिया के नहीं रह सकता। केवल चौदहवाँ गुणस्थान जो अत्यन्त अल्प समय का होता है, उसमें क्रिया अवश्य समाप्त हो जाती है।श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया भी नहीं रहती। सशरीरी जीव में अन्तराल गति में जहां स्थूल शरीर और तज्जनित प्रवृत्ति का अभाव रहता है, वहां भी कार्मण-शरीर की प्रवृत्ति चालू रहती है। ये सब क्रियाएं परिस्पंदनात्मक हैं। क्रिया का प्रेरक स्रोत कषाय है। जहां कषाय है, वहां क्रिया अवश्य पाई जाएगी। कषाय की विद्यमानता में अध्यवसाय, लेश्या, भाव योग इत्यादि के सभी तंत्र सक्रिय रहते हैं।

अध्यवसाय चैतन्य का अत्यन्त सूक्ष्म स्पदंन है। उसकी अनेक धाराएं है। तरंगें सघन होकर भाव का रूप लेती है। भावों का सघन रूप क्रिया है। शरीर उस क्रिया की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इस प्रकार अध्यवसायों से नाड़ी तंत्र अन्तःस्रावी ग्रंथियां, संस्थान, मस्तिष्क प्रभावित होते हैं । उनसे शरीर तंत्र सक्रिय बनता है। अध्यवसाय, लेश्या जैसी सूक्ष्म स्तर पर होने वाली क्रियाएं जैन तीर्थकरों के अतीन्द्रिय ज्ञान और जैनदर्शन की विशिष्टता की सूचक हैं। इसके अलावा एक ही क्रिया के संरंभ, समारंभ

और आरंभ इन तीन रूपों में प्रस्तुति करने का श्रेय जैनदर्शन को ही है– ऐसा कहा जा सकता है।

सरंभ क्रिया का मानसिक स्तर है। इस स्थिति में मन में क्रिया का विचार या संकल्प उत्पन्न होता है। समारंभ क्रिया का दूसरा स्तर है। इसमें संकल्प की दिशा में चरण न्यास किया जाता है किन्तु क्रिया की पूर्णता नहीं होती। आरंभ क्रिया के निष्पन्न होने की अवस्था है।

जैनदर्शन अहिंसा प्रधान और निवृत्ति प्रधान दर्शन है। इसमें हिंसा के सूक्ष्म कारण पर ध्यान दिया गया है। हिंसा के सूक्ष्म विश्लेषण पर ही क्रिया का सिद्धांत विकसित हुआ। कर्म-बंध की निमित्तभूत चेष्टा क्रिया है। क्रिया के प्रथम पंचक में इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। क्रिया का सम्बंध वर्तमान जीवन के साथ अतीतकालीन जीवन से भी है। कर्म बंध का सम्बन्ध मूलत: आन्तरिक अविरति से है।

जैनदर्शन में हिंसाजनित क्रियाओं की गहराई में भी जाने का प्रयत्न किया गया। परिणाम स्वरूप यह तथ्य उजागर हुआ है कि मनुष्य के द्वारा मन, वचन और काय की क्रियाएं जिन प्रयोजनों से की जाती है मुख्यत: वे तीन हैं -

1. वर्तमान जीवन की सुरक्षा।

2. प्रशंसा– आदर- पूजा पाने की आकांक्षा।

3. जन्म मरण से मुक्त होने की इच्छा।

व्यक्ति इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये हिंसा करता है, करवाता है और करने वाले का अनुमोदन करता है। किसी भी प्राणी को मारना, गुलाम बनाना, उस पर शासन करना, पीड़ा देना, द्वेष रखना आदि सभी क्रियाएं हिंसात्मक हैं।

क्रिया को व्यापक अर्थ में देखे तो जीव और पुद्गल के सहयोग से जीव जितने प्रकार की प्रवृत्ति करता है, उतने ही प्रकार की क्रियाएं होती हैं। जीव की क्रिया मात्र चाहे वह पुण्य रूप हो या पापरूप, से कर्म-बंधन अवश्य होता है।

सकषाय अवस्था में होने वाला बंध साम्परायिक और निष्कषाय अवस्था में होने वाला बंध ईर्यापथिक है। बंधन का यह विभाजन भी विशिष्ट हैं। दो प्रकार के बधन की हेतुभूत क्रियाएं भी दो प्रकार की है - सांपरायिकी और ईर्यापथिकी। सांपरायिकी और ईर्यापथिकी क्रियाएं परस्पर विरोधी हैं। दोनों क्रियाएं एक साथ एक जीव में नहीं होती।

पच्चीस क्रियाओं में चौबीस का सम्बन्ध साम्परायिक बंध से है। एक (ईर्यापथिक) का संबंध ईर्यापथिक से है। इसके अलावा गुणस्थान, चारित्र, गति, लेश्या, सकषायी, अकषायी आदि में किस जीव के कितनी क्रियाएं होती है इसका प्रज्ञापना पद 22 में विस्तृत विवेचन मिलता है। बंधक कर्मों को कर्म और अबंधक कर्म को अकर्म कहा है। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।

अकर्म का अर्थ निष्क्रियता नहीं, सतत जागृति है। आत्म-जागृति अध्यात्म का मूल लक्ष्य है। अध्यात्म का प्रवेश द्वार अप्रमत्तता है। अप्रमत्त अवस्था में क्रियाशीलता भी अकर्म है। आत्म-विस्मृति में निष्क्रियता भी बंधन बन जाती है। वस्तुतः किसी भी क्रिया का बंधन मात्र उस क्रिया पर निर्भर नहीं अपितु उसके पीछे रहे हुए राग-द्वेष एवं काषायिक वृत्ति पर निर्भर करता है। संक्षेप में वे समस्त क्रियाएं, जो आश्रव और बंध की कारण है, कर्म है और संवर-निर्जरा रूप क्रियाएं अकर्म हैं।

सूत्रकृतांग की वृत्ति में दो प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख है 1. अनुपयोग पूर्विका क्रिया 2. उपयोग पूर्विका क्रिया। जिस क्रिया में उपयोग नहीं, तन्मयता नहीं, वह अनुपयोग पूर्विका क्रिया है। जैसे– हृदय की धड़कन, पाचन-क्रिया, आंख का झपकना आदि। इन पर चेतना का नियंत्रण नहीं है। स्वतः संचालित है। जिस पर चेतना का नियंत्रण है जो क्रिया प्राणी अपनी इच्छा से करते है, वह उपयोग पूर्विका क्रिया है। आगमों में इनको वैस्रसिकी एवं प्रायोगिकी क्रिया भी कहा है।

मनोविज्ञान में इस संदर्भ में पांच प्रकार की क्रियाओं का निर्देश है।

1. स्वतः संचालित क्रियाएं – रक्त परिसंचरण, हृदय की धड़कन आदि।
2. प्रतिवर्त क्रियाएं – छींकना, पलक झपकना आदि।
3. अनियमित क्रियाएं – बच्चे का हाथ-पैर मारना आदि।
4. मूल प्रवृत्ति जन्य क्रियाएं – मनोशारीरिक प्रवृत्ति।
5. विचार प्रेरित क्रियाएं – जो विचार से प्रेरित होकर भी विचार द्वारा नियंत्रित नहीं।

मनुष्य के द्वारा जहां शारीरिक एवं व्यवहारिक क्रियाएं, प्रतिक्रियाएं होती हैं, वहां मन और मस्तिष्क में भी क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का सातत्य रहता है। मनुष्य बाह्य और आन्तरिक अभियोजनाओं से उत्तेजित होकर कई तरह की मानसिक प्रतिक्रियाएं करता है। प्रत्यक्षीकरण और अनुभूति के दौरान ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक दोनों

प्रकार की प्रतिक्रियाएं भी चलती हैं। ज्ञानात्मक अनुभूति वस्तुत: वस्तु की चेतना है संवेग या संवेदनात्मक क्रिया हमारी चंचल और गत्यात्मक प्रकृति है। इसका संबंध भाव जगत् से है।

भावों का कारण मनोविज्ञान में, अचेतन मन है। फ्रायड के शब्दों में अचेतन मन संस्कारों का अक्षय कोष है। दमित इच्छाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं का केन्द्र है। जैनदर्शन ने भावजगत् का कारण कर्मजगत् माना है, जो अचेतन है।

शरीर में स्नायविक एवं क्रियात्मक अवयवों के मुख्य तीन तत्त्व हैं - ग्राहकवर्ग, स्नायुमंडल एवं प्रभावकवर्ग। ग्राहक वर्ग के द्वारा व्यक्ति में उत्तेजना की क्रिया होती है। स्नायुमंडल द्वारा व्यक्ति का व्यवहार संचालित एवं नियंत्रित होता है। प्रभावक वर्ग प्रतिक्रिया का जिम्मेदार है। ग्राहक अवयवों का मुख्य कार्य संवेदनाओं को ग्रहण करना है। यद्यपि स्नायुमंडल का केन्द्रीय विद्युत गृह मस्तिष्क में है, किन्तु इनका जाल संपूर्ण शरीर में व्याप्त है। प्रभावक वर्ग जिसके द्वारा प्रतिक्रिया होती हैं। प्रतिक्रिया अनुभूति और व्यवहार रूप में होती है। इन्हें हम मानसिक और शारीरिक क्रिया के रूप में पहचानते हैं। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान की परिभाषा में अनुभव और व्यवहार का प्रयोग न कर उसकी जगह क्रिया शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य एक ही है। स्पष्टीकरण के लिये निम्न विभाजन पर्याप्त होगा।

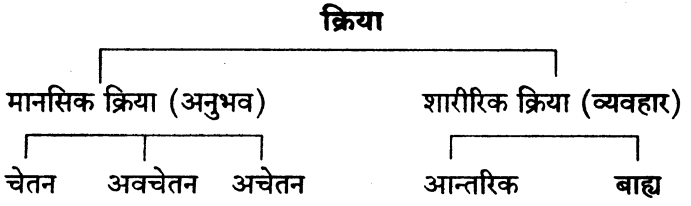

मनोविज्ञान की पहुंच अचेतन मन तक ही है, किन्तु जैन दर्शन कर्म-शास्त्रीय मीमांसा में इससे आगे सूक्ष्म शरीर की चर्चा मिलती है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का संवादी है। भीतरी क्षमताओं की अभिव्यक्ति के लिये स्थूल शरीर माध्यम बनता है। सूक्ष्म शरीर संस्कारों का संवाहक है। व्यक्ति के चारित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व, कर्तृत्व इन सबके बीज कर्म शरीर में निहित हैं।

मनोविज्ञान में वंशानुक्रम और पर्यावरण को चरित्र-निर्माण में मुख्य हेतु माना है। इसके अतिरिक्त कुछ संवेग या मूल प्रवृत्तियां भी जिम्मेदार मानी गई हैं।

आनुवंशिकता, परिस्थिति, पर्यावरण तथा मनोविज्ञानिक कारणों के साथ मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार को असंतुलित बनाने का एक कारण जीन्स में निहित है। जीन के साथ रासायनिक परिवर्तन भी व्यक्ति की बदलती मनोदशाओं का कारण बनता है।

जैन दृष्टि में व्यक्तित्व का रूपान्तरण, वृत्तियों का शोधन, व्यवहार परिष्कार सूक्ष्म शरीर से संचालित है। कर्म जैसे सूक्ष्म शरीर की व्याख्या को आज की भाषामें गहन मनोविज्ञान कहा जा सकता है।

अन्तिम अध्याय विशेषत: क्रिया के मानसिक स्तर का समझने में सहायता करता है। हमारी प्रवृत्ति के मूलत: तीन आधार है - मन, वचन और शरीर। शरीर और वाणी की चर्चा पूर्व के अध्यायों में ही की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में मन के व्यापार के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। मनोविज्ञान में बीमारी का कारण हैं -मानसिक विकृतियां। प्रत्येक घटना के साथ मन संपृक्त है। मन संपृक्त न हो तो राग-द्वेष, सुख-दु:ख, आनन्द-पीड़ा की अनुभूति नहीं होती, संवेदन नहीं होता।

जैन दर्शन में भी बीमारी का मूल कारण काषायिक वृत्तियों की प्रबलता को माना गया है। मोहनीय कर्म की ही विविध दिशाएं है। मनोविज्ञान में वृति नियन्त्रण के लिए दमन, विलयन, मार्गान्तीकरण आदि का निर्देश है। उसी प्रकार जैनदर्शन में मोहकर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम की प्रक्रिया का निर्देश मिलता है। इन सभी प्रक्रियाओं से गुजरने पर व्यक्तित्व भी भिन्न प्रकार का हो जाता है। मनोवैज्ञानिकों को भी मन की गहराई में जाने के लिए कर्मशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। अन्यथा मन के अनेक पहलु अज्ञात रह जाते हैं। इस प्रकार आचरणों की कार्य-कारणात्मक मीमांसा का नाम है कर्म-शास्त्र।

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञों ने हृदय, स्नायु, संस्थान, गुर्दा आदि शरीर के मुख्य अवयवों को शरीर का संचालक माना है। वर्तमान की खोजों ने प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण ये नहीं। अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्राव शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलापों के नियामक है। अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्रावों का प्रभाव संपूर्ण शरीर में होता है। आत्मा भी शरीर व्यापी है। शरीर के किसी भाग से कर्म का प्रकटीकरण हो सकता है। ग्रंथियों के प्रभाव स्थल को कर्म का प्रभाव स्थल भी माना जा सकता है। आवेगों के शोधन, परिवर्तन आदि पर मनोविज्ञान में विचार किया गया है। जैन कर्म-शास्त्र में भी आवेग परिशोधन की तीन पद्धतियां वर्णित हैं। 1. उपशम, 2. क्षयोपशम एवं 3. क्षयीकरण।

1. उपशम के पथ से चलने वाला साधक पुन: नीचे आ जाता है।
2. क्षयोपशम उदात्तीकरण की पद्धति है।
3. क्षयीकरण में आवेगों का पूर्ण क्षय हो जाता है।

कर्म बांधने में जैसे क्रिया वीर्य की अपेक्षा रहती है, कर्म काटने में भी क्रिया वीर्य की आवश्यकता होती है। निर्वाण के समय केवली के मन, वचन और शरीरजनित योगों का संपूर्ण निरोध हो जाता है। संपूर्ण क्रिया का अवरोध ही अकर्म की अवस्था अथवा मोक्ष है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबंध में क्रिया-सम्बंधी प्राचीन अवधारणाओं को नवीन संदर्भों में देखने के साथ प्रयत्न किया गया शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी पुनश्चिंतन और अनुसंधान की नूतन संभावनाओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
1.	अंगसुत्ताणि- ।	वा.प्र.आचार्य तुलसी सं.आचार्य महाप्रज्ञ	1974	जैन विश्वभारती, लाडनूँ
2.	अंगसुत्ताणि - ॥	वही		वही
3.	आचारांग सूत्रकृतांगंच आचारांग निर्युक्ति, शीलांकवृति	संपा.मुनि जम्बू विजय	1978	मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट, दिल्ली
4.	आचारांगभाष्यम्	भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ	1994	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
5.	आयारो		वि.सं.2031	देखें,अंग सुत्ताणि 1
6.	आयार चुला (अंग-सुत्ताणि-।)			देखें,अंग सुत्ताणि भाग 1
7.	आवश्यक सूत्र	सं.डॉ.सुप्रभा साध्वी		श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
8.	आवश्यक निर्युक्ति	श्रीमद् हरिभद्र सूरि विरचित टीकालंकृता	वि.सं.2038	श्री भैरूलाल कन्हैलाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट बम्बई- 400006

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
9.	उपनिषद् अंक, कल्याण-1 वर्ष - 23	सं.हनुमान प्रसाद, पोद्दार	वि.सं.2055 चतुर्थ	कल्याण कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर
	उपनिषद् (ज्ञानखण्ड)	सम्पा.पं श्री राम शर्मा	1982	डॉ.गौतम संस्कृति संस्थान, बरेली
10.	उत्तरज्झयणाणि I-II	आचार्य तुलसी सं.वि. आचार्य महाप्रज्ञ	1992, द्वितीय	जैन विश्व भारती, संस्थान, लाडनूँ (राज.)
11.	उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक	आचार्य महाप्रज्ञ	1968	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता
12.	ऋषि भाषित (इसि भासियाइं)	सं.मुनि मनोहर	1963	सुधर्मा ज्ञान मंदिर, बम्बई
13.	कर्मग्रंथ 1 से 4	देवेन्द्रसूरि	1939	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक, विवे.पं सुखलाल संघवी, आगरा
14.	कर्मग्रंथ	मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज	1974	मरूधरकेसर साहित्य प्रकाशन समिति
15.	क्रिया - कोश	मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्द्र चोरड़िया	1969	जैन दर्शन समिति, कलकत्ता
16.	चरणानुयोग	मुनि कन्हैयालालजी, कमल	1990	आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
17.	गणधरवाद	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण गुज.दलसुखभाई मालवणिया	1982	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
18.	गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-जीवकाण्ड)	नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती	1986 1984	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्री राजचन्द्र आश्रम, अगास
19.	जैन सिद्धांत दीपिका	आचार्य तुलसी	1996, चतुर्थ	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
20.	ठाणं	वा.प्रा.आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	2033 (1976)	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
21.	तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति	1989	सम्मति ज्ञान पीठ, आगरा
22.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीका	अकलंक सं.पं.महेन्द्र जैन	2009, 1956	भारतीय ज्ञान पीठ, काशी दिल्ली
23.	तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि	पूज्यपाद	1955	भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस
24.	तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक	सं.वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री	1964	कल्याण पावन प्रिंटीग प्रेस, सोलापुर
25.	दसवैकालिक चूर्णि	जिनदास महत्तर	1933	श्रीऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
26.	दसवेआलियं मूलपाठ, संस्कृत छाया हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	वा.प्र.आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	1974	जैन विश्व भारती, लाड़नूं, राजस्थान
27.	दसाओ (नवसुत्ताणि भा-5)	आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ	1987	जैन विश्व भारती, लाडनूँ, राजस्थान
28.	दीघ निकाय	सं.भिक्षु जगदीश काश्यप	1956	नवनालां महाविहार, (नालंदा)
29.	धवला	श्री विरसेन	1955	साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, भेलसा
30.	धम्मपद	सं.धर्मानन्द कौसम्बी सं.रामनारायण पाठक	1924	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
31.	नन्दी	वा.प्र.आचार्य महाप्रज्ञ		जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)
32.	पण्णवणा, उवांग-सुत्ताणि-4	वा.प्र. आचार्य तुलसी	1989	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)
33.	पातञ्जल योग दर्शन	महर्षि पंतजलि, टीकाकार-हरिकृष्ण गोयंका	1956, तृतीय	गीता प्रेस, गोरखपुर
34.	प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम खण्ड द्वितीय खण्ड	युवाचार्य श्री मधुकर	1993	श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
35.	प्रश्न व्याकरण सूत्रम्	प्र.स.युवाचार्य मधुकर	1983	देखें प्रज्ञापना सूत्र
36.	प्रज्ञापना वृत्ति	मलयगिरि	1918	आगमोदय समिति महेसाणा, गुजरात
37.	प्रमाण मीमांसा	सं.प.सुखलाल	1939	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद
38.	वृहद् द्रव्य संग्रह	नेमिचन्द्राचार्य	1988	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
39.	भगवती आराधना	आचार्य श्री शिवार्य	1935	सखाराम नेमिचन्द्र, दिगम्बर जैन ग्रंथमाला सोलापुर
40.	भगवई भाष्य, खण्ड-प्रथम	आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	1994	जैन विश्व भारती, संस्थान लाडनूँ
41.	भगवई भाष्य, खण्ड-द्वितीय		2000	देखें भगवती भाष्य खण्ड
42.	भगवती जोड़	जयाचार्य, संपादिका / साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा	1981	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
43.	भगवती वृत्ति	अभयदेव सूरि		देखें भगवई भाष्य
44.	महाबंध	सं.सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री न्यायतीर्थ, सोलापुर	1966,	भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
45.	मूलाराधना विजयोदयावृत्ति	वृत्तिकार - अपराजित सूरि	1935	सोलापुर -महाराष्ट्र
46.	महापुराण (आदि-पुराण)	जिनसेनाचार्य	1988	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
47.	मनोनुशासनम्	आचार्य तुलसी	1976	आदर्श साहित्य संघ, चुरू
48.	योग-कोश 1,2	मोहनलाल बांठिया - श्री चन्द्र चोरडिया	1996	जैन दर्शन समिति कलकत्ता
49.	विपाक सूत्र	युवाचार्य मधुकर		देखें - प्रज्ञापना सूत्र
50.	विवाग सुयं (अंग सुत्ताणि भाग-3)	आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ		देखें, अंग सुत्ताणि
51.	समवाओ (मूलपाठ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण आदि	आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	1984	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)
52.	सर्वार्थ सिद्धि	आचार्य पूज्यपाद सं.फूलचन्द्र, सिद्धांत शास्त्री	1971	भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली
53.	समयसार	कुन्द कुन्दाचार्य	1984	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
54.	सुत्तनिपात	भिक्षु धर्मरत्न	1957	महाबोधिसभा,सारनाथ, वाराणसी
55.	सांख्यकारिका	ईश्वर कृष्ण	1940	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
56.	सूत्रकृतांग निर्युक्ति	भद्रबाहु		देखें सूत्रकृतांग वृत्ति
57.	सूत्रकृतांग वृत्ति	श्री शीलांकाचार्य	1953	श्री गोडी जी पार्श्वनाथ, जैन देसासर पेढ़ी बम्बई
58.	सूयगडो-1 (मूलपाठ, संस्कृत छाया हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट	आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	1984	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
59.	सूयगडो, भाग-		1986	देखें, सूयगडो भाग-प्रथम
60.	स्थानांग वृत्ति	अभय देवसूरि	1937	सेठ.माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
61.	स्याद्वाद मंजरी	मल्लिषेण अनु.सं.डॉ.जगदीशचन्द्र जैन	1992	श्रीमद् राजचन्द्रआश्रम, अगास गुजराती
62.	षड्दर्शन समुच्चय	हरिभद्र सूरि विरचित सं.महेन्द्रकुमार जैन	1981	भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
1.	चिन्तन की मनोभूमि	अमर मुनि,उपाध्याय	1970	सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा
2.	जैन तत्त्व विद्या	आचार्य तुलसी	2001 चतुर्थ	जैन विश्व भारती, लाडनूँ आदर्श साहित्य संघ, चुरू
3.	जैन सिद्धांत दीपिका	आचार्य तुलसी	1982, तृतीय	
4.	जैन दर्शन:मनन और मीमांसा	आचार्य महाप्रज्ञ	1995, चतुर्थ	आदर्श साहित्य संघ, चुरु
5.	अपना दर्पण: अपना बिम्ब	आचार्य महाप्रज्ञ	1991	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
6.	चित्त और मन	आचार्य महाप्रज्ञ	1992	देखें कर्मवाद
7.	कर्मवाद	आचार्य महाप्रज्ञ	2000, चतुर्थ	आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान)
8.	प्रेक्षाध्यान - शरीर विज्ञान	आचार्य महाप्रज्ञ	2000	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)
9.	आभामण्डल	आचार्य महाप्रज्ञ	1982, द्वितीय	गुज.आदर्श साहित्य संघ, चूरु अनेकान्त भारती प्रकाशन,1982
10.	अहिंसा तत्त्व दर्शन	आचार्य महाप्रज्ञ	1988 तृतीय	देखें कर्मवाद
11.	जैन दर्शन में आचार मीमांसा	आचार्य महाप्रज्ञ	1983 द्वितीय	देखें कर्मवाद

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
12.	जैन दर्शन के मूल सूत्र	आचार्य महाप्रज्ञ	2000	देखें कर्मवाद
13.	जैन दर्शन और अनेकांत	आचार्य महाप्रज्ञ	1999	आदर्श साहित्य संघ, चुरु
14.	नया मानव-नया विश्व	आचार्य महाप्रज्ञ	1996 तृतीय	देखें, कर्मवाद
15.	जैन योग	आचार्य महाप्रज्ञ	1980	देखें, कर्मवाद
16.	जीव - अजीव	आचार्य महाप्रज्ञ	1992 दसवां	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
17.	कर्म विज्ञान(प्रथम)	आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री	1990	श्री तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर
18.	जैन आचार-सिद्धांत और स्वरूप	आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री	1996, द्वितीय	श्री तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर
19.	धर्म दर्शनः मनन और मूल्याकंन	आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री	1985	श्री तारकगुरू जैन ग्रंथालय, उदयपुर
20.	चिंतन के विविध आयाम	आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री	1982	देखें कर्म विज्ञान
21.	नव - पदार्थ	आचार्य भिक्षु , श्री चन्द रामपुरिया	1961	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता
22.	जैन धर्म का मौलिक इतिहास	आचार्य हस्ती	2000 पंचम	जैन इतिहास समिति, लाल भवन, जयपुर
23.	जैन भारती	आर्यिका ज्ञानमति माताजी	वि.सं-2507	दिगम्बर जैन, त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर (मेरठ)

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
24.	मानव व्यवहार का मनोविज्ञान	ओझा आर.के	1994-95	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
25.	विज्ञान के अलोक में जीव अजीव तत्त्व	कन्हैयालाल लोढ़ा	1994	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
26.	जैन साहित्य का इतिहास	कैलाश चन्द्र शास्त्री	1963	श्री जैन शिक्षा संस्था, कटनी पूर्व पीठिका जबलपुर
27.	कोशिका विज्ञान सूक्ष्म जैविकी एवं जैव तकनीकी	पी.एल.पारिख ए.के.भटनागर, सुधीर भार्गव	1996	अल्का पब्लिकेशन, पुरानी मंडी, अजमेर
28.	जैन आगमों का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन (स्थानांग सूत्र के परिप्रेक्ष्य में)	खींचा डॉ.पारसमणि	1999	जन मंगल संस्थान, उदयपुर
29.	श्री भवंरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रंथ	गणेश ललवानी		अभिनन्दन समारोह समिति, कलकत्ता
30.	गीता रहस्य	गंगाधर तिलक	1928	रामचन्द्र बलवंत तिलक, नारायण पेठ, पुणे

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
31.	आधुनिक विज्ञान और अहिंसा	गणेशमुनि शास्त्री	1962	आत्माराम एण्ड सन्स
32.	संभवामि क्षणे क्षणे	गुणवंत शाह	2001 चौथा	भगतभाई भुरालाल शेठ आर.आर.शेठनी कंपनी, अहमदाबाद
33.	ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास	जगदीश सहाय श्री वास्तव	1981, तृतीय	किताब महल, इलाहाबाद
34.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग 1 - 2	डॉ.सागरमल जैन	1982	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,जयपुर
35.	आचारांग - चयनिका	डॉ.कमलचन्द सौगाणी	1998 चतुर्थ	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
36.	आर्हती दृष्टि	डॉ.समणी मंगलप्रज्ञा	1998	आदर्श साहित्य संघ, चुरू
36.	व्रात्य दर्शन	डॉ.समणी मंगलप्रज्ञा	2000	देखे, आर्हती दृष्टि
37.	मानव शरीर क्रिया - विज्ञान	डॉ.वंदना जैन	1998	नाकोडा पब्लिशिंग हाऊस बी.132 जनता कॉलोनी, जयपुर
38.	पाश्चात्य दर्शन	डॉ.बद्रीनाथ सिंह	1990	काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी
39.	द्रव्य विज्ञान	डॉ.साध्वी विद्युतप्रभा	1994	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
40.	जैन कर्म सिद्धांत का उद्भव एवं विज्ञान	डॉ.रवीन्द्रनाथ मिश्र	1993	पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी
41.	सामान्य मनोविज्ञान	डॉ.एस.एस माथुर	1980	विनोद पुस्तक मंदिर
42.	शरीर - क्रिया - विज्ञान	डॉ.प्रमिला वर्मा डॉ.कान्ति पाण्डेय	1985	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
43.	जैन दर्शन में आत्म-विचार	डॉ.लालचन्द जैन	1984	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
44.	जैन दर्शनः चिन्तन - अनु चिन्तन	डॉ.रामजी सिंह	1993	जैन विश्व भारती, लाड़नूं
45.	जैन -आचार	डॉ.मोहनलाल महेता	1966	पार्श्व विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
46.	जैन -दर्शन	डॉ.महेन्द्र न्यायाचार्य	1955	श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला काशी
47.	शारीरिक मनोविज्ञान	डॉ.राजकुमार ओझा डॉ. महेश भार्गव	1992	हरप्रसाद भार्गव, आगरा

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
48.	पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन	डॉ.रामनाथ शर्मा	1985 पंचम	केदारनाथ रामनाथ कॉलेज रोड, मेरठ
49.	भारतीय दर्शन	डॉ.उमेश मिश्र	1957	सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार लखनऊ
50.	भारतीय दर्शन -1	डॉ.राधाकृष्णन	1965	राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-6
51.	जैन कर्म - सिद्धांत और मनोविज्ञान	डॉ.रत्नलाल जैन	1996	बी.जैन पब्लिशर्स प्रा.लि. नई, दिल्ली
52.	लेश्या और मनोविज्ञान	डॉ.मुमुक्षु शान्ता जैन	1996	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
53.	प्रारम्भिक मनोविज्ञान	डॉ.इन्दु भूषण	1999 21वां	भारतीभवन, ठाकुरबाड़ीरोड, पटना
54.	झीणी चर्चा	जयाचार्य प्र.आचार्य तुलसी सं.आचार्य महाप्रज्ञ	1985	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
55.	भ्रमविध्वंसनम्	जयाचार्य	1980 द्वितीय	भैरुदान ईसरचन्द चौपड़ा, कलकत्ता
56.	आत्ममीमांसा	दलसुख मालवणिया	1953	जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
57.	आगम युग का जैन दर्शन	दलसुख मालवणिया	1966	सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
58.	आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन	मुनि नगराज डी.लिट	1969	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता
59.	शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान	मंजु तथा महेशचन्द्र गुप्ता	1980	बम्बई,कलकत्ता,मद्रास, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
60.	मोक्ष प्रकाश	मुनि धनराज	1971	आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान)
61.	विश्व प्रहेलिका	मुनि महेन्द्र	1969	जवेरी प्रकाशन मांटुंगा, बम्बई
62.	जैन दर्शन और विज्ञान	सं.मुनि महेन्द्र जेठालाल एस.झवेरी	1992	जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूँ
63.	जैन दर्शन का समीक्षात्मक अनुशीलन	साध्वी नगीना	2002	जैन विश्व भारती लाडनूँ
64.	जैन धर्म जीवन और जगत्	साध्वी कनक श्री	1999, तृतीय	जैन विश्व भारती, लाडनूँ
65.	दर्शन और चिन्तन	सुखलाल संघवी	1957	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
66.	जैन धर्म और मनोविज्ञान	सुखलाल मुनि	1997	अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद, युवालोक, लाडनूँ

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
67.	आस्था और अन्वेषण	सुरेश जैन,आइ.ए.एस	1999	ज्ञानोदय विद्यापीठ,भोपाल(म.प्र)
68.	जीव विज्ञान 11 धोरण	डॉ.एम.एच.परबिया डॉ.एम.आई.पटेल	2001	गुजरात राज्यशाला पाठ्य पुस्तकमंडल, गांधीनगर
69.	तंदुरस्ती तमारा हाथमां	देवेन्द्र वोरा	1997 20 वां	नवनीत पब्लिकेशन्स (ई) लि.अहमदाबाद
70.	प्रगत सामान्य मनोविज्ञान	श्री मयूर	1998, तृतीय	मयूर प्रकाशन, अहमदाबाद
71.	मनोविज्ञान अने असरकारक वर्तन	श्री मयूर	2001, सप्तम	मयूर प्रकाशन, अहमदाबाद
72.	व्यक्तित्व अने व्यक्तित्व मापन	डॉ.सी.के.शाह	1981	युनिवर्सिटी ग्रंथनिर्माण, अहमदाबाद
73.	शरीर लक्षी मनोविज्ञान	श्री मयूर	1991-92	युनिवर्सिटी तथा उत्तर गुज.यु. अहमदाबाद
74.	सामान्य - मनोविज्ञान	परीख झाला	1998-15वां	गुजरात युनिवर्सिटी, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय
75.	विज्ञान धोरण - 10	डॉ.आई.जी.वंशी, डॉ.बी.आर.पंडित डॉ.एम.आई.पटेल	2000, 8 वां	गुजरात युनिवर्सिटी, सौराष्ट्र युनिवर्सिटी

क्रम	ग्रंथ का नाम	मूल ग्रंथ/लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशक
76.	जिन दर्शन अने मनौदैहिक रोगो	नेमचन्द्र एम गाला	1992	श्रीमति जयश्री कान्तिलाल शाह सात रास्ता, मुम्बई
77.	आवेश अने लागणी	भालचन्द्र एच जोशी	1990	मनोविज्ञान विभाग युनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड गुजरात राज्य अहमदाबाद
1.	अमर कोश	अमरसिंह	1991	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
2.	अभिधान चिन्तामणि	आचार्य हेमचन्द्र	2020	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
3.	अभिधान राजेन्द्रकोश	श्री विजयराजेन्द्रसूरि	1914	श्री जैन प्रभाकर मंत्रालय, रतलाम
4.	आगम शब्द कोश	वा.प्र.आचार्य तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ	2037	जैन विश्व भारती, लाडनूं
5.	आप्टे संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	1987 सातवां	मोतीलाल बनारसीदास, कोश दिल्ली - 7
6.	कुन्दकुन्द शब्द कोश	सं.डॉ.उदयचन्द जैन	वि.नि.2517	श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण
7.	जैनागम शब्द संग्रह	पं.मुनि श्री रत्नचन्दजी	1983	संघवी गुलाबचन्द्र जसराज

साध्वी गवेषणा ने इस अपनी शोध का विषय चुनकर ज्ञान का नया द्वार खोला है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में ''आगम-साहित्य'' में प्रतिपादित क्रियाओं का समीचीन विश्लेषण अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या के सन्दर्भ में किया है। इस गंभीर विषय पर लिखना टेढ़ी खीर थी। पूज्यवरों का आशीर्वाद ही इनकी विषय यात्रा को गति दे सका है तथा लक्ष्य की पूर्णता तक पहुंच सकी है। दार्शनिक चिन्तन, अध्ययन क्षमता एवं प्रतिभा का मूल्यांकन तो विज्ञ लोग करेंगे। इतना अवश्य है कि आगम-अध्ययन करने का रास्ता इनके लिए प्रशस्त हुआ है।

''शोध-प्रबंध'' किसी के लिये प्रेरणा-पाथेय बन सका तो लेखिका को आत्म-तोष की अनुभूति होगी। पच्चीस वर्ष से मेरे साथ रहने वाली सहवर्तिनी साध्वी गवेषणा के प्रति हर्षातिरेक के साथ मंगल कामना है कि लेखन कार्य में इनकी गति-प्रगति होती रहे। इनका उत्साह, आत्म-विश्वास और भीतर की जिज्ञासा, सफलता की ऊंचाइयां देता रहे।

साध्वी नगीना

साध्वी गवेषणाश्री ने 'अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्याः क्रिया', आत्मा की आंतरिक चेतना में रहे हुए परिस्पंद के सिद्धान्त पर अध्ययन किया है। उसमें अध्ययन की गंभीरता झलक रही है। यह अध्ययन केवल जैन दर्शन और साहित्य तक सीमित नहीं है। शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान आदि आधुनिक चिन्तन धाराओं के संदर्भ में भी क्रिया को यहां देखने का प्रयास किया है।

साध्वी गवेषणाश्री ने इस कार्य में तटस्थता पूर्वक श्रम और शक्ति का नियोजन किया है। सुधी पाठक को इससे क्रिया, कर्म, बंध और मुक्ति आदि को जानने का अवसर मिलेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज०)